UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180333

UNIVERSAL
LIBRARY

Osmania University Library

H GH

o. 83 Accession No. 2356

S25k

or

This book should be returned on or before the date last ed below.

कठपुतली

देवेन्द्र सत्यार्थी



एशिया प्रकाशन : नई दिल्ली

कापी राइट,
१९५४

प्रकाशक
एशिया प्रकाशन
१००, बेयर्ड रोड, नई दिल्ली

मुख्य वितरक
राजकमल प्रकाशन,
१, फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली

मूल्य
छः रुपये

मुद्रक
नवीन प्रेस, दिल्ली



श्री जवाहरलाल नेहरू को

जिनके 'दो मसजिदें' शीर्षक निबन्ध से

मुझे इस उपन्यास की प्रेरणा मिली

···फाटक पर संग्रहालय की तख्ती लटकती है, और दरबान बैठा है। उसको आप अपना छाता-छड़ी दीजिए, उनका टिकट लीजिए और अन्दर जाकर इस प्रसिद्ध कला के नमूने देखिए। और देखते-देखते इस संसार के विचित्र इतिहास पर विचार कीजिए; अपने दिमाग़ को हज़ारों वर्ष आगे-पीछे दौड़ाइए; क्या-क्या तसवीरें, क्या-क्या तमाशे, क्या-क्या अत्याचार आपके सामने आते हैं! उन दीवारों से कहिए कि वे आपको अपनी कहानी सुनावें, अपने तजरुबे आपको दे दें। शायद कल और परसों जो गुज़र गये, उन पर ग़ौर करने से हम आज को समझें; शायद भविष्य के परदे को भी हटाकर हम झाँक सकें।

लेकिन ये पत्थर और दीवारें ख़ामोश हैं। उन्होंने इतवार को ईसाई पूजा बहुत देखी और बहुत देखीं जुमे की नमाज़ें। अब हर दिन की नुमायश है उनके साये में। दुनिया बदल रही है; लेकिन वे कायम हैं। उनके घिसे हुए चेहरे पर कुछ हल्की मुसकराहट-सी मालूम होती है, और धीमी आवाजें-सी कानों में आती हैं—'इन्सान भी कितना बेवकूफ़ और जाहिल है कि वह हज़ारों वर्ष के तजरुबे से नहीं सीखता और बार-बार वही हिमाकतें करता है!'

जवाहरलाल नेहरू : 'दो मसजिदें'

'कठपुतली' की कहानी लाहौर से आरम्भ होती है जिस के साहित्यिक और सांस्कृतिक जलवायु में मैंने अनेक वर्ष बिताये। जब यह उपन्यास लिखना आरम्भ किया गया तो मुझे लगा कि लाहौर स्वयं मेरे हाथ मे कलम देकर मुझ से अपनी गाथा लिखाने बैठ गया है जैसे गाँव का कोई बुजुर्ग किसी से अपनी चिट्ठी लिखवाता है।

उपन्यास के अनेक पात्रों में दीपाली का विशिष्ट स्थान है जिसके सहयोग से सुनील को सचमुच एक नया जीवन प्राप्त हुआ। जीवन के समीप होते हुए भी सुनील अब तक उसकी सतह पर ही रहा था। दीपाली ने उसे उन गहराइयों से परिचित कराया जिन में उतरे बिना एक सच्चे कलाकार की कला आगे नहीं बढ़ सकती। दीपाली का संकेत पाकर ही सुनील ने भागती हुई ज़िन्दगी का आँचल एक दिन अपने हाथ में थाम लिया था और वह भी उसके साथ ही दौड़ने लगा था।

'कठपुतली' का प्रमुख प्रसंग यही है कि इन्सान एक है, उसकी समस्याएँ एक हैं और देश-देश की सीमाएँ भी एक इन्सान को दूसरे इन्सान से अलग नहीं कर सकतीं। यहाँ उस इन्सान की झलक प्रस्तुत की गई है जो अत्याचार और बर्बरता में भी आशा का आँचल नहीं छोड़ता, उस इन्सान की दास्तान है जो विनाश के संकटमय क्षणों में भी उज्ज्वल भविष्य की बाट जोहता है और उस इन्सान का चरित्र अर्जुनसिंह में

मिलता है जो जीवन के व्यंग्य और परिहास के संगम पर खड़ा है।

विकास की अनेक मंज़िलों से गुज़रता हुआ सुनील अन्तर्दृष्टि और अनुभव के सहारे युग-सत्य को रंगमंच पर रूपायित करने की चिन्ता में वर्षों की साधना के बाद भी यही समझता है कि परिस्थितियाँ उसे नचाती रही हैं और वह कोई ठोस कार्य नहीं कर सका। लेकिन उसकी इस वेदना और निराशा से आशा की किरन फूटती है।

—देवेन्द्र सत्यार्थी







१

लाहौर का नाम बड़ा है। इसका रेलवे स्टेशन बड़ा है। इसका मुसाफ़िरखाना, इसका टिकटघर और इसका एक-एक प्लेटफार्म बेमिसाल है। जंकशन जो ठहरा। हर गाड़ी के आने-जाने का अपना अन्दाज़ है। पाँच मिनट बाद आयेगी या दस मिनट पहले। अभी एक गाड़ी दनदनाती चली आ रही है। अगर आप इस गाड़ी से नहीं जा रहे हैं तो एक नज़र बातस्वीर मैगज़ीनों पर डालते जाइये। यह बुकस्टाल आप ही के लिए है। आइये मेहरबान, आइये, तशरीफ़ लाइये। आपका बुकस्टाल आपको बुला रहा है।

बुकस्टाल के मालिक ने अपनी तरफ़ आती हुई नीली साड़ी में सजी-सँवरी लड़की की ओर हाथ उठाकर कहा, "अजी हमारा बुकस्टाल तो चार ज़बानों का जंकशन है। अँग्रेज़ी, हिन्दी, उर्दू और पंजाबी—इन चार ज़बानों की गाड़ियाँ यहाँ एक ही वक्त आ रुकी हैं। और फिर यह हमारा लाहौर तो मैगज़ीनों के लिए मशहूर है।"

वह कुछ न बोली।

एक क्षण के लिए बुकस्टाल का मालिक खामोश हो गया। फिर वह चहचहाया, "ज़बानों के झगड़े हमें तो अच्छे नहीं लगते। ज़बान तो ज़बान है। जिसे जो ज़बान आती है उसी ज़बान का मैगज़ीन उठा ले।"

नीली साड़ी में सजी हुई लड़की ने एक अँग्रेज़ी मैगज़ीन के पन्ने

पलटते हुए कहा, "यह सब कैमरे का कमाल है। क्या खूब मुस्कराहटें बखेर रखी हैं! विलायत में भी लोग सब के सब सुखी थोड़े ही होंगे। लेकिन विलायत वाले हमारे मुल्क में अच्छा-माल ही नहीं भेजते, वे हमारे लिए ये मुस्कराहटें भी भेजते हैं!"

"आप मेरा मतलब समझ गईं," बुकस्टाल के मालिक ने खुश होकर कहा, "मैं भी तो यही कहने जा रहा था। और हमारे यहाँ यह हाल है कि अभी अच्छे ब्लाक भी नहीं बनते। छपाई में भी हम विलायत वालों से कई मील पीछे हैं। फिर भी लाहौर काफ़ी तरक्की कर रहा है। लाहौर भी मुस्कराने लगा है!"

वह कुछ न बोली।

"आप कुछ तो लेंगीं?"

"अगर पसन्द आया।"

इतने में एक नया ब्याहा जोड़ा बुकस्टाल पर आ पहुँचा। बुकस्टाल का मालिक कन्धे फड़काता, हथेलियाँ मलता शिकार की तरफ बढ़ा और एक बेतकल्लुफ़ हँसी उछालते हुए बोला, "कुछ भी चुन लीजिए। 'लाइफ', 'चित्रा', 'प्रीतलड़ी', 'माधुरी', हर मैगज़ीन का अपना रंग है। किताब चाहिए तो किताब हाज़िर कर सकता हूँ। लाहौर की क्या बात है। मैगज़ीनों और किताबों का संगम जो ठहरा।" और फिर वह किसी कदर शरमाते हुए बोला, "हमारा बुकस्टाल तो मुल्क के बड़े-बड़े रेलवे बुकस्टालों में नुमायाँ है"

बुकस्टाल के मालिक की चरब-ज़बानी ने असर दिखाया या शायद यह नया-ब्याहा जोड़ा कुछ खरीदने के इरादे से ही आया था। दो-तीन मैगज़ीन उठा कर बिला हीलो-हुज्जत एक नोट पेश किया, बाकी रेज़गारी ली और वे चल दिये।

अब बुकस्टाल के मालिक को पहले ग्राहक का ध्यान आया।

"आप अकेली हैं क्या?"

"मतलब?"

"मतलब यह कि अगर आप अकेली हैं तो मैगजीन खरीदिए कम-से-कम तीन—एक अँग्रेजी, एक उर्दू और एक हिन्दी।"

"और पंजाबी ने क्या बिगाड़ा है?"

"पंजाबी का काम अभी ढीला है। देखिए हमारे यहाँ यह कायदा नहीं कि खरीदारों को धोखे में रखा जाय। खैर यह बुकस्टाल आपका है। कुछ भी उठा लीजिए।"

वह फिर से पन्ने पलटने लगी। मुँह से कुछ न बोली।

बुकस्टाल का मालिक दूसरे ग्राहकों की ओर आकर्षित हो गया। कई लोग अपने-अपने मतलब की चीज लेकर और पैसे देकर चलते बने, कई अभी तक उलझे हुए थे। फिर वे भी कोई-न-कोई दिलपसन्द चीज लेकर खुशी-खुशी चले गये।

नीली साड़ी में सजी हुई लड़की को आकर्षित करते हुए बुकस्टाल का मालिक बोला, "उर्दू के 'हुमायूँ' में अब के एक बढ़िया अफ़साना छप कर आया है। लाहौर से छपने वाले मैगजीनों में 'हुमायूँ' मशहूर है। हिन्दी का 'माधुरी' भी अच्छा मैगजीन है। यह लखनऊ में छपता है। इसमें एक कविता में मुस्कान यानी मुस्कराहट का रंग बाँधा गया है। खैर पंजाबी की 'प्रीतलड़ी' भी अच्छी है; छपती लाहौर में है, निकलती है प्रीतनगर से। यह प्रीतनगर हमने तो अभी तक देखा नहीं।"

वह बराबर खामोश रही। उसके हाथ में अब अँग्रेजी का एक मैगजीन था।

"अँग्रेजी बड़ी जबान है।" बुकस्टाल का मालिक चहचहाया, "वैसे तो हमारे मुल्क में उर्दू का 'एशिया' भी निकलता रहा है। लेकिन इस अँग्रेजी के 'एशिया' का कोई मुकाबला नहीं।"

वह कुछ न बोली। बराबर पन्ने पलटती रही। कलाई आँखों के समीप लाकर वह घड़ी में समय अवश्य देख लेती।

बुकस्टाल का मालिक खिसियाना-सा होकर अपनी जगह पर खड़ा रहा। वह बहुत झुँझलाया। उसके जी में तो आया कि इस लड़की से

साफ-साफ कह दे कि उसे कोई भी चीज पसन्द नहीं आ रही तो अपना रास्ता नापे, प्लेटफार्म बहुत बड़ा है। ऊपर से उसने यही कहा, "मेरी बात मानिये। अँग्रेजी का 'एशिया' ले लीजिये। खासा सस्ता है।"

" 'एशिया' मँहगा भी कब था ?" नीली साड़ी में सजी हुई लड़की ने झट पूछ लिया।

प्लेटफार्म पर बिजली की तेज रोशनी थी। इस रोशनी में आने-जाने वालों के चेहरे चमक रहे थे। नीली साड़ी में सजी हुई लड़की ने अपना पर्स खोलकर एक छोटा-सा शीशा निकाला और उसमें अपना चेहरा देखते हुए मुस्कराने लगी। लिपस्टिक कायम थी। अलकें ठीक थीं। चेहरे का मेक-अप भी सन्तोषजनक था। उसने शीशा फिर से पर्स में रख लिया और बुकस्टाल के मालिक की ओर निर्णयात्मक दृष्टि से देखकर बोली, "यह दो महीने का पुराना 'एशिया' क्यों रख छोड़ा है ?"

"पुराना 'एशिया' यहाँ ले लीजिए।" बुकस्टाल के मालिक ने सँभल कर कहा,—"नया 'एशिया' किसी अगले स्टेशन पर मिल जायगा।"

लड़की ने 'एशिया' उठा लिया और पाँच का नोट काउंटर पर फेंक दिया।

" 'लाइफ' लेंगी ?"

"बाकी पैसे दीजिये।"

लड़की के होंठों पर हल्की-सी मुस्कान फैल गई। 'एशिया' मैगजीन हाथ में उठाये वह प्लेटफार्म की तरफ लपकी, जहाँ मुसाफिर गाड़ी के इन्तजार में खड़े थे। वह बड़े इत्मीनान से वहाँ जाकर खड़ी हो गई और अपने कुली को पहचान कर बोली, "गाड़ी में अभी कितनी देर है ?"

"अभी तो आध घण्टा रहता है, बीबी जी !" कुली ने विश्वासपूर्वक कहा।

वह बार-बार कलाई आँखों के समीप लाकर घड़ी में समय देख लेती, बार-बार पीछे मुड़कर देखने लगती। गाड़ी के आने का समय समीप आ

रहा था, और उसकी आँखों में निराशा छा रही थी। सहसा उसकी आँखें चमक उठीं। उसने मुँह फेर लिया।

एक नवयुवक पास आ कर बोला, "माफ़ करना, दीपाली ! मुझे रास्ते में देर हो गई। ख़ैर मैं गाड़ी आने से पहले ही आ पहुँचा।" और फिर उसने कुली के हाथ में अपना चमड़े का बैग देते हुए कहा, "सारा सामान आराम से रखवाना। इनाम मिलेगा।"

"मैं तो सोच रही थी कि अब तुम आ चुके, सुनील !" दीपाली ने मुस्कराकर कहा, "इतना लम्बा सफ़र और वह भी अकेले, यह तो वाकई बहुत कठिन होता। तुम साथ होगे तो कोई तकलीफ़ न होगी। और अगर तुम न आ पाते तो मैं रुक तो क्या सकती थी। छोटी बहन की शादी का मामला है। कोई और वक्त होता तो मैं तो ऐसे में टिकट वापस करके घर पहुँच जाती।"

"ये तुम कैसी बातें कर रही हो, दीपाली ? अरे मैं मैं इतना कच्चा तो नहीं हूँ। हाँ, यह मैं मानता हूँ कि मुझे ज़्यादा नहीं तो आध घण्टा पहले ज़रूर पहुँच जाना चाहिए था। लेकिन उस सूरत में मैं तुम्हें आराम से रेलवे बुकस्टाल से मैगज़ीन कब खरीदने देता ! कहो क्या-क्या खरीदा ? 'एशिया' मिला ?"



७

गाड़ी में काफ़ी भीड़ थी, लेकिन कुली ने उनका सामान एक ऐसे डिब्बे में ला रखा था जहाँ दीपाली को बिस्तर फैलाने के लिए भी जगह मिल गई। कुली के हाथ पर पैसे रखते हुए सुनील ने कहा, "यह लो एक अठन्नी, इसमें तुम्हारा इनाम भी शामिल है।"

सुनील भी दीपाली के समीप ही आराम से बैठ गया और 'एशिया' मैगज़ीन उठाकर बोला, "क्या बढ़िया छपाई है!"

गाड़ी चली तो दीपाली खिड़की से सिर निकालकर देर तक स्टेशन की पीछे छूटती हुई बत्तियों को देखती रही। ठण्डी हवा के झोंके उसके बालों को परेशान करते रहे। उसकी आँखों में पानी आ गया। जेब से रूमाल निकालकर उसने आँखें पोंछी और फिर चेहरा घुमाकर चारों ओर बड़े ध्यान से देखा।

सामने वाली सीट पर एक मौलाना बैठे थे। खसखसी दाढ़ी। काली अचकन। सिर पर चारों तरफ बाल, बीच में गंज। हाथ में अखबार। अचानक मौलाना के मुँह से निकल गया, "वाह वाह! इक़बाल तो इक़बाल थे।"

"क्या हो गया, मौलाना?" सुनील ने आश्चर्य से पूछा।

"तुम क्या समझो, बरखुरदार!" मौलाना ने खसखसी दाढ़ी पर हाथ फेरते हुए कहा, "तुम ठहरे अँग्रेज़ियत के पुजारी। तुम्हारे नज़दीक

तो शायद शेक्सपीयर ही सब से बड़ा शायर है। इजाजत हो तो इक़बाल का एक शेर अर्ज़ करूँ।"

"कौन इक़बाल ?" पास से एक लाला जी ने काश्मीरी लोई के अन्दर से हाथ निकालकर कहा, "वही 'हिन्दोस्ताँ हमारा' वाले इक़बाल ?"

"वही इक़बाल ?" मौलाना ने जोश में आकर कहा, "वतन-परस्ती का पहला गीत इक़बाल ने ही गाया। वह उनकी 'बाँगेदरा'! अजी इक़बाल ने ही तो सोई हुई कौम को जगाया। इजाजत हो तो एक शेर अर्ज़ करूँ।

"इक़बाल की बानी हम जरूर सुनेंगे!" सामने वाली सीट से एक सरदार साहब कह उठे।

सफ़ेद दाढ़ी। सफ़ेद पगड़ी। पश्मीने की सफ़ेद चादर। दीपाली बड़े ध्यान से सरदार साहब की ओर देखती रही, मुँह से कुछ न बोली।

बाईं ओर बैठी एक अधेड़ उमर की स्त्री का बच्चा बुरी तरह रोने लगा। माँ के लाख यत्न करने पर भी भूखे बच्चे को कल नहीं पड़ती थी। लेकिन मौलाना को तो जैसे इक़बाल का शेर सुनाने से सरोकार था। बड़ी लोचदार आवाज में उन्होंने यह शेर सुनाया—

तीन सौ साल से हैं हिन्द के मयख़ाने बन्द,
अब मुनासिब है तेरा फैज़ हो आम, ऐ साक़ी !

लाला जी ने अपने पोपले मुँह पर जबान फेरते हुए कहा, "हमें तो कुछ भी नहीं समझे। खैर, छोड़िये। आप कहते हैं तो यह शेर जरूर अच्छा होगा। सच बात तो यह है कि आदमी को पेट-भर भोजन मिलना चाहिए। शायरी के बिना भी उसकी गुजर हो सकती है।"

सरदार साहब ने दोनों हाथों से पगड़ी दुरुस्त करते हुए कहा, "पहले खाना, फिर पहनना, फिर कुछ और।"

बच्चा बराबर चिल्लाये जा रहा था। माँ बेचारी हैरान थी कि बच्चे के लिए दूध कहाँ से आये। बच्चा था कि माँ के स्तन को मुँह में लेना ही नहीं चाहता था।

दूसरी ओर कोने में कुछ लोग ताश खेल रहे थे। उनके मुँह से बार-बार चिड़िया की बेग़म, हुक्म का नहला, वह मारा, वह पटका जैसे शब्द निकल रहे थे। जैसे उनके लिए यह दुनिया ताश के खेल से अधिक कुछ न हो। न जाने क्या सोच कर ताश के एक खिलाड़ी ने फ़िक़रा कसा, "अरे यार, ईंट की बेग़म का बच्चा न जाने क्या माँग रहा है?"

बच्चे की माँ को गुस्सा आ गया। वह शेरनी की तरह बिफर कर बोली, "ईंट की बेग़म होगी तुम्हारी माँ-बहन। ऐसा बोल मुँह से निकालते शर्म भी तो नहीं आती।"

ताश के खिलाड़ियों ने ज़ोर का क़हक़हा लगाया और पास बैठे कुछ लोगों ने उन्हें समझाया कि वे आराम से ताश खेलें और कोई बुरी बात मुँह से न निकालें।

दीपाली ने अपनी सीट से उठकर रोते बच्चे को पुचकारते हुए अपनी गोद में ले लिया, और बच्चे की माँ को समझाते हुए कहा, "आप ही शान्ति रखें, बहन जी! गाड़ी में तो सब तरह के लोग हैं; जिसमें जैसी अक्ल होती है, वैसी बात कहता है।"

बच्चे की माँ गुस्से में तनी हुई चुपचाप बैठी रही। दीपाली बच्चे को लेकर अपनी सीट पर जा बैठी। उसने बैग से निकालकर एक बिस्कुट बच्चे के हाथ में थमा दिया।

सरदार साहब बोले, "मैंने कहा था न—पहले खाना, फिर पहनना, फिर कुछ और।"

"लेकिन इक़बाल का शेर तो बीच में ही छूट गया!" मौलाना ने जैसे डोर को फिर से थामते हुए कहा।

"उस शेर का मतलब तो बहुत साफ़ है, मौलाना!" सुनील ने एक हाथ से बच्चे के घुँघराले बालों में कंघी करते हुए कहा, "अँग्रेजों की ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने अपनी पहली कोठी सूरत में आज से तीन सौ बरस पहले ही तो बनवाई थी।"

"यह मतलब भी निकाला जा सकता है," मौलाना ने सिर हिलाते हुए

कहा, "लेकिन खुद हज़रते इक़बाल ने मुझे दूसरा ही मतलब बताया था। हाँ तो हज़रात, वही मतलब अर्ज़ किये देता हूँ। जहाँगीर के ज़माने में एक बहुत बड़े आलिम हो गुज़रे हैं। हज़रते मुजद्ददे अलफ़े सानी। वह बहुत बड़े पीर थे। जहाँगीर भी उन्हीं का मुर्शिद था। हज़रते इक़बाल ने इस शेर में यह इरशाद फ़रमाया है कि तीन सौ साल से हिन्दुस्तान में कोई उतना बड़ा आलिम नहीं हुआ।".

"यह विचार तो ठीक नहीं है!" लालाजी बोले, "यह कैसे हो सकता है?"

"अजी, आप भी क्यों बहस छेड़ रहे हैं, लालाजी!" सरदार साहब ने हँसकर कहा, "इस बच्चे को देखो, कितने मज़े से बिस्कुट खा रहा है।"

दीपाली ने इस बीच में दो-तीन बिस्कुट निकालकर बच्चे के सामने रख दिये थे। सरदार साहब बोले, "यह बिस्कुट इतने भुरभुरे न होते तो बच्चा इन्हें टुकरा देता। अजी अच्छे-बुरे की समझ तो आदमी को बचपन से ही आने लगती है।"

बच्चे की प्रशंसा सुनकर बच्चे की माँ मुस्कराई। बोली, "यह तो बड़ा शरारती है, सरदार जी! मैं तो इसकी रग-रग पहचानती हूँ। इसे पता नहीं कैसे बिस्कुट की खुशबू आ जाती है। मैं भी लेकर चली थी इसके लिए बिस्कुट, पर ग़लती से डिब्बा कहीं लाहौर के मुसाफिरखाने में ही छूट गया।"

"कोई बात नहीं, बहन जी!" दीपाली ने मुस्कराकर कहा, "ये बिस्कुट भी आपके ही हैं।"

सुनील ने बात का रुख फिर से इक़बाल की तरफ मोड़ते हुए कहा, "यह लाहौर की खुशकिस्मती थी कि डाक्टर इक़बाल लाहौर में रहते थे।"

"हमने तो इक़बाल को पढ़ा नहीं, मौलाना!" सरदार साहब बोले, "लेकिन मेरा खयाल है कि उन्होंने वारिस शाह के मुकाबिले का ही लिखा होगा।"

"सरदार साहब, हीर ने वारिस शाह की बदौलत रुतबा पाया!"

मौलाना ने खसखसी दाढ़ी पर हाथ फेरते हुए कहा, "और मैं तो कहूँगा कि पंजाब ने इक़बाल की बदौलत रुतबा पाया।"

सुनील ने हँसकर कहा, "माफ़ कीजिये, मौलाना! पंजाब ने तो लाहौर की बदौलत रुतबा पाया, और लाहौर का रुतबा अनारकली की प्रेम-गाथा के कारण बढ़ा।"

लाला जी ने लोई में सिमटते हुए अपना ही स्वर छेड़ दिया, "यह अनारकली बाजार जो लाहौर में है, वहाँ खासी रौनक रहती है। बिजनेस के लिहाज से भी यह बाज़ार अच्छा चलता है।"

ताश के खिलाड़ी ताश खेलने में मग्न थे, जैसे उनके लिए न इक़बाल की कविता का कोई महत्व हो, न अनारकली की प्रेम-गाथा में कोई आकर्षण।

लाला जी मुस्कराये और उन्होंने दीपाली को सम्बोधित करते हुए कहा, "क्यों, आपका क्या विचार है, बहन जी?"

"अनारकली को ज़िन्दा दीवार में चुन दिया गया था।" दीपाली ने गम्भीर होकर कहा, "अनारकली की कहानी भला किसने न सुनी होगी।"

"माफ़ कीजिये," मौलाना ने गला साफ़ करते हुए कहा, "अनारकली की मौत का क़िस्सा, जो न जाने किस तरह पुराने वक़्तों की कठिन घाटियों को पार करता हुआ हम तक आ पहुँचा है, बिल्कुल ग़लत है। कम-से-कम तारीख़ तो इसकी गवाह नहीं हो सकी।"

लाला जी ने लोई से हाथ बाहर निकालकर कहा, "इस तरह तो आप हक़ीकतराय धर्मी की कहानी को भी झुटला देंगे, क्योंकि तारीख़ में तो शायद उसका ज़िक्र भी न मिले।"

"हक़ीकतराय की कहानी को हम झुटला सकते तो बेहतर होता।" मौलाना ने सँभलकर कहा, "मेरा मतलब है कि हक़ीकतराय की कहानी का एक पहलू यह भी तो है कि शाहजहाँ ने पूरा-पूरा इन्साफ़ किया था। एक गाँव के काज़ी ने जो ग़लती की, उसकी उसे सज़ा दी गई। शाहजहाँ का इन्साफ़ अपनी जगह निहायत माक़ूल चीज़ है। ख़ैर, ठीक है। एक

वक्त आयेगा कि हम इन कहानियों से नये नतीजे निकालना सीखेंगे।"

लाला जी और सरदार साहब खामोशी से एक-दूसरे की ओर देखते रहे, फिर उन्होंने पीछे पलट कर देखा कि ताश के खिलाड़ी ज्यादा मजे में हैं। बच्चे की माँ ने न जाने क्या सोचकर कहा, "ज़्यादा खाना भी तो ठीक नहीं, चाहे बिस्कुट ही क्यों न हों।" और उसने उठकर बच्चे को अपनी गोद में ले लिया। बच्चा था कि दीपाली के पास पड़े बिस्कुटों के पैकिट को लिये बिना न माना। दीपाली ने यह पैकेट बच्चे की माँ को देते हुए कहा, "इसे रख लीजिए, बहन जी, रास्ते में काम आयेगा।"

सुनील ने बात का रुख फिर से लाहौर की ओर मोड़ते हुए कहा, "मुझसे कोई पूछे कि लाहौर क्या है, तो मैं तो यही कहूँगा कि लाहौर न बादशाही मस्जिद है, न शीतला मन्दिर, न गुरु अर्जुनदेव का गुरुद्वारा, न महाराजा रणजीतसिंह की समाधि। लाहौर तो अनारकली है, क्योंकि लाहौर का असली चेहरा तो अनारकली में ही नज़र आता है।"

"लेकिन माल रोड को भी तो याद रखिये।" दीपाली ने गम्भीर होकर कहा, "माल रोड पर लारेन्स का बुत खड़ा है। लारेन्स के एक हाथ में तलवार है और दूसरे हाथ में कलम, और लारेन्स के बुत पर लारेन्स के ये बोल खुदे हुए हैं—तुम तलवार से हुकूमत चाहते हो या कलम से?— मैं पूछती हूँ कि माल रोड से गुजरने वाले ऐसे कितने लोग हैं जिन्हें लारेन्स का बुत अपने वतन के माथे पर कलंक का टीका नज़र आता है।"

मौलाना ने हँसकर कहा, "अगर लारेन्स के बुत पर यह भी लिखा होता कि हम कलम और तलवार से तुम्हारी खिदमत करेंगे तो भी मतलब तो यही होता कि अँग्रेज़ का यहाँ से जाने का इरादा नहीं है।"

दीपाली बोली, "देखना तो यह है कि हमारा अपना क्या इरादा है।"

"हमने तो अपना इरादा कई बार जाहिर किया है!" सरदार साहब ने हँसकर कहा, "कभी गाँधी जी की अहिंसा में, कभी भगतसिंह की हिंसा में।"

"वाह वाह!" मौलाना की आँखों में एक नई चमक आ गई। उधर

ताश के खिलाड़ी भी 'वाह वाह' कह उठे, जैसे वे ताश का खेल छोड़ कर इस बातचीत में भाग लेना चाहते हों। पर शीघ्र ही मालूम हुआ कि यह तो बाज़ी जीतने वालों की वाह-वाह है। छूटते ही नई बाज़ी शुरू हो गई थी।

मौलाना ने अजब मस्ती में झूम-झूमकर कहना शुरू किया, "यह किस कौमपरस्त हस्ती का नाम लिया आपने, सरदार साहब! मैं आपको एक बात सुनाऊँ। अगर अँग्रेज़ यह समझता है कि एक भगतसिंह को ख़तम करके उसने भगतसिंह की तहरीक को ख़तम कर डाला, तो वह सख्त ग़लती पर है। मुझे उस जुलूस की याद है, जो भगतसिंह को फाँसी के तख्ते पर चढ़ा दिये जाने के बाद निकला था। मालूम होता था कि लाहौर को गुस्सा आ गया है और अब अँग्रेज़ यहाँ ज़्यादा दिन नहीं रह सकता।"

"इस से पहले भी पंजाब क़ुरबानियाँ दे चुका है।" सरदार साहब बोले, "एक वह ज़माना था जब 'पगड़ी सँभाल, जट्टा!'[1] गाने के जुर्म में लाला लाजपतराय और सरदार अजीतसिंह को जिला-वतनी का हुक्म सुना दिया गया था। फिर अमृतसर में जलियाँवाला बाग़ में हिन्दू, मुस्लिम और सिक्ख एक साथ ज़ालिम डायर की गोलियों का निशाना बने।"

मौलाना ने ज़ोर देकर कहा, "जलियाँवाला की क़ुरबानी पर तो हर हिन्दुस्तानी का सिर फ़ख़र से बुलन्द होना चाहिए।"

लाला जी ने अपना ही स्वर छेड़ दिया, "अगर हम महात्मा गांधी के उपदेश पर चलते और हमने स्वदेशी को अपनाया होता, तो अँग्रेज़ कभी का अपना बोरिया बिस्तर बाँधकर चला गया होता।"

"आप की तो विदेशी में ही चाँदी है!" सरदार साहब हँसकर बोले, "लाला जी, अगर देश ने स्वदेशी को अपना लिया, तो आपकी दुकान पर 'मेड इन इंग्लैण्ड' के टप्पे वाला माल कैसे बिकेगा और आपकी जेब कैसे

१. पंजाबी भाषा के एक प्रसिद्ध राष्ट्रीय गीत का आरम्भ का बोल—पगडी सँभाल ले, ओ जाट!

गरम होगी ?" ·

सुनील ने बात का रुख बदलते हुए कहा, "ख़ैर छोड़िये, सरदार साहब ! एक-दूसरे पर फब्तियाँ कसने से भी क्या हासिल। आपके पास कोई ठोस बात कहने को हो तो हम ज़रूर सुनना पसन्द करेंगे।"

सरदार साहब दोनों हाथों से पगड़ी दुरुस्त करते हुए बोले, "मैं भी बहुत बरसों से लाहौर में रहता हूँ। वहीं मैं पैदा हुआ, वहीं मेरे बाल सफ़ेद हुए। मेरे देखते-देखते लाहौर कितना बदल गया, यह सोचकर कलेजा मुँह को आता है। आप पूछेंगे कि मुझे सब से ज़्यादा किस बात की शिकायत है। मै तो यही कहूँगा कि सब से बुरी बात, जो मैं लाहौर में देखता हूँ, यह है कि वहाँ होटलों और रेस्तोरानों में पलने वाली तहज़ीब आगे बढ़ रही है।"

मौलाना ने सरदार साहब की बात अनसुनी करते हुए कहा, "लाहौर में अलग-अलग तबक़ों और मज़हबों के लोग एक साथ रहते हैं, एक साथ काम करते हैं, एक साथ आगे बढ़ते हैं। हज़रात, मेरा तो ख़्याल है कि लाहौर के लोग दरिया में बहने वाली गिट्टियों की तरह हैं। हर क़िस्म के पत्थर गिट्टियाँ नहीं बना करते। गिट्टियाँ बनने के लिए तो वक़्त की धारा में बहना होता है। मशीन में पत्थरों को ख़राद कर गोले तो बनाये जा सकते हैं, गिट्टियाँ नहीं बनाई जा सकतीं। लहरों के बहाव के साथ बहकर गिट्टियों में ख़ास तरह की गोलाइयाँ पैदा हो जाती हैं।"

"क्यों बहन जी, आपका क्या विचार है ?" लाला जी ने लोई में सिमटते हुए दीपाली की ओर संकेत किया।

दीपाली को ख़ामोश देखकर सुनील कह उठा, "ख़ैर छोड़िये, इतना तो ज़ाहिर है कि आज की हमारी बातचीत भी किसी ताश के खेल से कम नहीं है। एक सर मुझे भी बनाने दीजिये। हुक्म का इक्का फेंक रहा हूँ। आप हँस रहे हैं, मौलाना ? लाला जी, आप भी सुनिये। आप भी सरदार साहब ! इनका नाम है दीपाली। बनारस में इनकी छोटी बहन की शादी है। उसी शादी पर बनारस जा रही हैं। पिछले साल अँग्रेज़ी का

एम० ए० किया है। अब अँग्रेज़ी ड्रामा पर पी-एच० डी० करने का इरादा रखती हैं। वैसे इन्हें स्टेज में भी दिलचस्पी है।"

"और आपकी तारीफ़!" मौलाना ने जैसे झट पत्ता फेंका।

"मुझे भी इनका हमराही समझ लीजिए।" सुनील ने जैसे अपना पत्ता फेंककर सर उठा ली।

मौलाना की इस से तसल्ली न हो सकी, "अब यह तो आपकी मुकम्मिल तारीफ न हुई।"

सुनील ने मुस्कराकर दीपाली की तरफ देखा, फिर जैसे किसी याद में खोते हुए कहना शुरू किया, "मेरा जन्म एक गाँव में हुआ। यह गाँव ब्यास और सतलज के संगम के पास है। एक बार हमारे गाँव में रासधारी आये—"

"और आपको उन रासधारियों की रास बहुत अच्छी लगी।" मौलाना ने सुनील को बीच से टोककर कहा।

"अजी सुनिये तो, मैंने सोचा कि मैं भी रासधारी बनूँगा, लेकिन जब मैंने अपने पिता जी से कहा कि मैं भी रासधारी बनूँगा तो उन्होंने मेरी खूब पिटाई की और—"

"और रासधारी चले गये होंगे और किस्सा वहीं खतम हो गया होगा।" मौलाना ने सुनील को दोबारा टोका।

"अजी, रासधारी जाते-जाते मेरे दिल में रासधारी बनने का बीज बोते गये और—"

"और आप उनके पीछे घर से भाग निकले!" मौलाना ने क़हक़हा लगाया।

माँ की गोद में बच्चा सो गया था। बच्चे को आराम से सीट पर लिटाते हुए माँ ने कहा, "भगवान करे किसी का बच्चा घर छोड़कर कभी न भाग निकले।"

ताश के खिलाड़ियाँ ने क़हक़हा लगाया, जैसे ईंट की बेग़म की आवाज़ यकई उन्हें बहुत पसन्द हो। लाला जी बोले, "गाड़ी के बाहर तो सर्दी

काफ़ी होगी। यह तो इस डिब्बे में भीड़ के कारण हमें इतनी सर्दी महसूस नहीं हो रही।"

सरदार साहब बोले, "लाला जी, हमें क्या परवाह है? पशमीने की चादर में लिपटे बैठे हैं। और फिर डिब्बे की भीड़ ने भी तो हमारे लिए लिहाफ़ का काम दे रखा है।"

मौलाना बड़े ध्यान से सुनील की तरफ़ देख रहे थे, जैसे वह सुनील की कहानी सुनने के लिए उत्सुक हो रहे हों। "यह बहुत लम्बा किस्सा है, मौलाना!" सुनील ने कहना शुरू किया, "उस वक्त मेरी उमर दस बरस की थी, और मैं चौथी में पढ़ता था। अपने गाँव से भागकर मैं पास वाले स्टेशन पर पहुँचा और मुझे जो भी गाड़ी मिली मैं उसी में बैठ गया। बिना टिकट। इस तरह मैं दिल्ली पहुँचा। फिर किसी तरह बम्बई जा पहुँचा। इस पर तो पूरा नावल लिखा जा सकता है। हालाँकि रासधारी यह कह कर गये थे कि वे पहले दिल्ली जायेंगे और फिर बम्बई। लेकिन वे मुझे कहीं न मिले। बम्बई में मैंने क्या-क्या पापड़ न बेले, क्या-क्या काम न किया। होटल में प्लेटें साफ़ करने से लेकर लारी क्लीनर का काम किया! लारी क्लीनर से लेकर होटल के बैरे का काम और होटल के बैरे से लेकर फिल्म कम्पनी में एक्सट्रा का काम किया। बारह साल तक यह लम्बा चक्कर चला!"

"इतने लम्बे बारह साल!" मौलाना ने हैरान होकर कहा, "तो यह कहिये साहब, कि आपने इस छोटी-सी उमर में ही घाट-घाट का पानी पी रखा है!"

"सुनिये तो, मौलाना!" सुनील ने कहना शुरू किया, "बाईस साल की उमर में अचानक मुझे बम्बई में रासधारियों की एक पार्टी मिल गई। दो साल तक मैं उनके साथ रहा। गुजरात में गाँव-गाँव उनके साथ घूमा-फिरा। यकीन कीजिए, मौलाना! बम्बई पहुँचने से लेकर आख़िर तक मुझे किसी न किसी तरह अपनी तालीम का तो हमेशा ख्याल रखना पड़ा।"

लाला जी ऊँघ रहे थे। सरदार साहब को भी शायद सुनील की कहानी

में रस नहीं आ रहा था। वे पलट कर ताश के खिलाड़ियों की तरफ देखने लगे। सीट पर सो रहे बच्चे की माँ बड़े ध्यान से सुनील की बात सुनती रही, जैसे वह अपनी कल्पना में सुनील की माँ को अपने घर के दरवाजे पर खड़े देख रही हो—इस इन्तजार में कि कभी तो उसका बच्चा घर लौटेगा।

मौलाना ने गम्भीर होकर कहा, "अब मैं समझा। नौजवान, तुम वाकई एक ख़ुद-साख्ता इन्सान हो।"

दीपाली भी बड़े ध्यान से सुनील की तरफ़ देख रही थी, जैसे उसके व्यक्तित्व की रेखाएँ उसके सामने आज पहली बार स्पष्ट हो रही हों। वह धीरे से बोली, "मौलाना पूछ रहे हैं तो अपनी बात खोलकर बता दो न, सुनील! यह मौका तो बड़ी मुश्किल से मिलता है कि कोई किसी की बात में इतनी दिलचस्पी ले।"

"बम्बई में मैंने बहुत से ड्रामे देखे थे!" सुनील की मुख-मुद्रा पहले से अधिक गम्भीर नज़र आ रही थी, "मुझे भी ड्रामा लिखने का शौक हो गया। रासधारियों के साथ रहकर मुझे ड्रामा लिखने का अच्छा अनुभव हो जायेगा, यही सोचकर तो मैं उनके साथ चल पड़ा था। लेकिन रास-धारी जिस वातावरण में रहते थे, वह ऐसा था कि उसे अण्डरग्राउण्ड कहने को जी चाहता था, फिर भी—"

"अण्डरग्राउण्ड तो वे होते हैं जो पुलिस से छिपकर बग़ावत करते हैं!" मौलाना ने सुनील को टोका।

सुनील ने सँभलकर कहा, "मेरा तो दूसरा ही मतलब था, मौलाना! अपनी कला के सिलसिले में रासधारी ज़मीन के नीचे-नीचे चलते थे, यानी वे रवायात के नीचे इतने दबे हुए थे, और—"

"और आप भाग निकले उन्हें छोड़कर!" मौलाना ने हँसकर कहा, "लेकिन इधर आपका क्या शग़ल है?"

सुनील को खामोश देखकर दीपाली बोली, "इनका नाम है सुनील। जैसा नाम वैसा काम। इन्होंने बहुत बढ़िया ड्रामा लिखा है, नाम है 'मिट्टी

की मूरत'।"

"वाह वाह ! मिट्टी की मूरत ! बहुत खूब !"

" 'मिट्टी की मूरत' का हीरो भी ऐसा ही आदमी है," सुनील ने सँभल कर कहा, "वह रासधारियों के साथ मिलकर गाँव-गाँव घूमता है, और फिर उन्हें छोड़कर चला आता है।"

मौलाना ने गला साफ करते हुए कहा, "यह ड्रामा कब स्टेज किया जायगा ? ड्रामे का तो मुझे भी शौक है। मैं दिल्ली जा रहा हूँ। इन्शा अल्लाह आप भी हफ़्ता दस दिन में बनारस से लाहौर लौट आयेंगे।"

"आज से चौथे रोज़ दीपाली की बहन की शादी है !" सुनील ने सर बनाने के अन्दाज़ में कहा, "आपने भी खूब क्याफ़ा लगाया। हफ़्ता दस दिन बाद नहीं तो पन्द्रह दिन बाद तो हम अवश्य बनारस से लाहौर पहुँच जायेंगे, और फिर 'रंगभूमि' की तरफ़ से 'मिट्टी की मूरत' स्टेज किया जायगा। आपकी दिलचस्पी के लिये इतना और अर्ज़ कर दूँ कि दीपाली ही 'मिट्टी की मूरत' की हीरोइन होने जा रही है।"

मौलाना ने सोने से पहले जैसे दीये की अन्तिम लौ को सँभाला देते हुए कहा, "बरखुरदार सुनील, इन्शा अल्लाह, तुम बड़े ड्रामानगार बन कर रहोगे। मैं तो रोज़ अखबार पढ़ता हूँ। जिस दिन तुम्हारा ड्रामा स्टेज किया जायगा, मुझे अखबार में इसकी खबर पढ़ने को मिल ही जायगी। और यकीन रखो कि तुम्हारे ड्रामे का एक टिकट तो बन्दा भी ज़रूर खरीदेगा। बन्दा का नाम है हिफ़ज़ुर्रहमान !"



३

सफ़र काफी लम्बा था। कई बार सुनील सोचता कि उसे बनारस का टिकिट कटाने की क्या जरूरत थी। उसका तो ऐसा कोई काम न था जो बनारस जाने के बगैर रुका रहता। दीपाली को तो खैर जरूरी काम था। छोटी बहन की शादी हो और बड़ी बहन इस अवसर पर न पहुँचे, यह तो बहुत नामुनासिब होता। मुझे तो किसी डाक्टर ने नहीं बताया था कि मैं भी बनारस जाऊँ। हाँ, एक बात जरूर थी जो मुझे बनारस के इस लम्बे सफ़र के हक में सोचने पर मजबूर करती थी। मुझे नये-नये चेहरे देखने का शौक है। अब जो चेहरे मुझे बनारस में देखने को मिलेंगे, उनमें एक मीनाक्षी का चेहरा भी तो होगा। लगे हाथ मीनाक्षी के बंगाली आर्ट मास्टर बिमल बाबू से भी भेंट हो जायगी।

रेल के डिब्बे में बैठे-बैठे उसने उगते सूर्य को प्रणाम किया। एक हाथ को दूसरे हाथ में लेकर मसला। फिर दीपाली की ओर देखा जो सिरहाने के नीचे 'एशिया' मैगजीन दबाये सो रही थी। उसके जी में तो आया कि हाथ बढ़ा कर दीपाली के सिरहाने के नीचे से यह मैगजीन खींच ले, लेकिन अगले ही क्षण वह यह सोचकर खामोश बैठा रहा कि इस मैगजीन में ऐसी तो कोई भी चीज़ नहीं रह गई जो उसने इस लम्बे सफ़र में पढ़ न डाली हो। उसे मालूम था कि दीपाली बहुत देर से सोई थी और रात के समय तो यों लगता था कि मैगजीन पढ़ने का तो केवल बहाना है, वह

असल में यह सोचकर चिन्तित हो रही है कि छोटी बहन का ब्याह होगा तो बड़ी बहन पर भी अवश्य ब्याह के लिये ज़ोर डाला जायगा। ब्याह के बारे में दीपाली क्यों यों सोचती है जैसे यह एक तरह की उमर क़ैद हो। सुनील को दीपाली की शिक्षा में सन्देह होने लगा। फिर सहसा उसे ख्याल आया कि वह स्वयं भी तो अब तक ब्याह के बन्धन से बचता आया था। वह चाहता तो कभी का दूल्हा बन गया होता। उसे भी चाँद-सी दुल्हन कहीं न कहीं मिल गई होती। उसने दीपाली की तरफ़ देखा जो शायद घोड़े बेचकर सो रही थी और उसे कुछ मालूम न था कि उगते सूर्य की किरनें किस प्रकार डिब्बे के भीतर अपना सोना उँड़ेल रही थीं।

वाकई यह सफ़र तो बहुत उकता देने वाला है, उसने सोचा, मैं नाहक इस सफ़र के लिये तैयार हुआ। मेरे लिए तो लाहौर में बहुत काम था। 'मिट्टी की मूरत' को एक बार ध्यान से पढ़ जाने की ज़रूरत थी। ख़ैर मैं चाहूँ तो 'मिट्टी की मूरत' के मसविदे में आवश्यक काँट-छाँट करने का काम तो बनारस में भी कर ही सकता हूँ। चलिये बिमल बाबू से भी परिचय हो जायगा। बिमल बाबू की तो दीपाली ने हमेशा प्रशंसा की है। इस प्रशंसा का शायद सब से बड़ा कारण यही है कि अब तक बिमल बाबू ने भी ब्याह नहीं कराया। चलिये बनारस चल कर बिमल बाबू से मिलकर यह समझने की कोशिश करेंगे कि क्या वह भी दीपाली की तरह ब्याह को उमर क़ैद समझता है। एक बात तो ठीक है कि लड़का हो चाहे लड़की दूल्हा दुल्हन बनते ही हाथ से आज़ादी छिन जाती है। सिर पर बड़ी-बड़ी जिम्मेदारियाँ आ जाती हैं। लेकिन कोई इन जिम्मेदारियों से कहाँ तक भाग सकता है? वह किसी ने कहा है न कि रूई उड़ कर कहीं भी चली जाय उसे धुनने के लिए धुनिया तो सब जगह मौजूद मिलेगा'''फिर उसने पलट कर दीपाली की तरफ़ देखा जिसके चेहरे पर सूरज की किरनें एक जाल-सा बुन रही थीं। लेकिन वह सपनों की राज-कुमारी तो जैसे अन्तिम फ़ैसला करके सुख की नींद सो रही थी। जैसे उसका अन्तिम फ़ैसला यही हो कि वह कभी मछली के समान मछेरे के जाल में

नहीं फँसेगी। वैसे मन ही मन उसने दीपाली की प्रशंसा की और उसके जी में आया कि हाथ बढ़ाकर दीपाली का सिर हिलाये और जलपान का प्रस्ताव करने से पहले उसे इस बात पर बधाई दे कि आखिर उसने फ़ैसला कर लिया कि वह किसी मछेरे के हाथ नहीं आयगी।

मछेरे का ध्यान आते ही उसे वह खेल याद आ गया जिसमें बच्चे गोलाकार खड़े हो जाते हैं, बीच में एक बच्चा होता है, और बाहर वाले बच्चे घूम-घूमकर पूछते जाते हैं:

हरा समन्दर
गोपी चन्दर
बोल, मेरी मछली,
कितना पानी ?

यह खेल उसने स्वयं तो कभी न खेला था लेकिन उसे याद था कि पहले पहल उसने घर से भागकर दिल्ली पहुँचने पर बच्चों को यह खेल खेलते देखा था। उसे याद था कि किस तरह घेरे के बीच में खड़ी लड़की ने अपनी पिण्डलियों को हाथ लगाकर बड़ी विचित्र-सी नाट्य मुद्रा में कहा था—'इतना पानी !' लड़के-लड़कियों ने घूम-घूम कर फिर वही बात दोहराई थी, और अब के बीच में खड़ी लड़की ने अपने घुटनों पर हाथ रखकर उसी नाट्य मुद्रा में कहा था—'इतना पानी !' लड़के-लड़कियों ने उसी तरह अपना प्रश्न फिर से दोहराया और बीच में खड़ी लड़की ने बारी-बारी कभी जाँघ को हाथ लगाकर तो कभी कमर पर हाथ रखकर और इसी तरह शरीर के ऊपर के भागों पर हाथ रखते-रखते सिर पर हाथ रखकर कहा था—'इतना पानी !' यह खेल उसने बम्बई में भी थोड़े-बहुत परिवर्तन के साथ बच्चों में प्रचलित देखा था। बाहर से नज़र हटाकर उसने दीपाली की ओर देखा, जैसे वह मछली का खेल खेलते-खेलते थक कर सो गई हो। उसे याद आया कि जब उसने पहली बार दिल्ली में यह खेल देखा था तो उसके शरीर में एक बिजली-सी दौड़ गई थी और वह भी बच्चों के साथ मिलकर यह खेल खेलने के लिए ललचा

उठा था। लेकिन वह उस खेल में सम्मिलित होने का साहस नहीं कर सका था। शायद उसका सबसे बड़ा कारण यही था कि स्वयं मछली बनते डरता था, क्योंकि उस खेल का नियम तो यही था कि जब बीच में खड़ी लड़की या लड़का पिण्डलियों से शुरू करके अपना हाथ सिर तक ले आये तो घेरे वाले लड़के-लड़कियाँ मौका देखकर भाग जायें और खेल शुरू करते हुए यह घोषणा करें:

हम तो तेरी जमना में
डुबकी लगा लें !

यह खेल न जाने कितना पुराना था। लेकिन यह खेल आज भी कितना नया था। मछली बनने वाली लड़की जमना में डुबकी लगाने वालों की तरफ़ भाग निकलती है। न कोई लड़का, न कोई लड़की, कोई भी उसकी पकड़ में नहीं आना चाहता, क्योंकि पकड़ में आते ही उसे मछली बनना पड़ेगा और खेल दोबारा शुरू होगा।

उसे जलपान की आवश्यकता महसूस हो रही थी। एक स्टेशन पर गाड़ी रुकी तो उसके जी में तो आया कि कम से कम चाय का एक कप लेकर ज़रूर अपने गले में उँड़ेल ले, पर वह ख़ामोश बैठा था। डिब्बे में अब उतनी भीड़ नहीं रह गई थी। दीपाली बराबर सो रही थी या शायद सोने का अभिनय कर रही थी। उसकी कल्पना में वह लोक-कथा घूम गई जिसमें एक राजकुमारी सात सागर पार के द्वीप में, सोने के महल में, सोने की सेज पर सौ साल से पड़ी सो रही है, जिसे जगाने के लिये एक दिन एक राजकुमार आ पहुँचता है। उसका हाथ दीपाली की ओर उठा अवश्य, दीपाली का सिर हिलाकर वह मज़ाक में कह सकता था—जाग, जाग, राजकुमारी ! लेकिन अगले ही क्षण दीपाली की नीली साड़ी देखते हुए उसे लगा कि दीपाली तो कोई बड़ी सी मछली मालूम होती है, खेल की मछली नहीं, सचमुच की मछली। एक झटके के साथ जैसे वह सजग हो उठा—यह मैं क्या सोच रहा हूँ ? दीपाली तो अँग्रेज़ी का एम० ए० कर चुकी है, अँग्रेज़ी ड्रामे पर अब पी-एच० डी० करने का इरादा रखती

है। ब्याह कराने का इरादा नहीं है, पर वह 'मिट्टी की मूरत' की हीरोइन बनने का वचन दे चुकी है। वही तो मुझे मेरे गाँव से उठाकर लाहौर में लेती आई···दीपाली के प्रति उसका मन आस्थावान हो उठा। वह उसका आभारी था। न वह अपनी चाची के साथ उसके गाँव में आकर उससे मिलती, न उसे कोई लाहौर में चलने का निमन्त्रण देता। यह बस दीपाली की हिम्मत थी कि वह मुझे अपने साथ लाहौर लेती आई, अपने हर एक मिलने वाले से उसने मेरा परिचय कराया, जी खोलकर मेरी प्रशंसा की। 'मिट्टी की मूरत' का ढोल बजना तो खैर अभी बाकी है। जिसकी हीरोइन दीपाली होगी, वह ड्रामा कैसे असफल रह सकेगा ?

दीपाली के होठों पर लिपस्टिक का रंग किसी कदर मध्यम पड़ गया था; उसके चेहरे पर झुकी हुई अलकें जैसे अब भी यही कह रह थीं—ये याकूती होंठ और कहाँ मिलेंगे ? दीपाली के गालों पर लगा हुआ रूज किसी कदर अपनी आब खो बैठा था। रगों में बहने वाला खून जैसे नीचे से उभर कर यह घोषणा कर रहा था—दीपाली को अपना चेहरा रंगने की तो तनिक भी आवश्यकता नहीं !

दीपाली के सिरहाने के नीचे 'एशिया' मैगजीन आधा दबा हुआ था और बाहर निकले हुए हिस्से पर चीनी कला का एक मास्टरपीस नजर आ रहा था जिसमें कलाकार ने लकड़ी की मूर्ति में एक युवती की आकृति प्रस्तुत की थी। उस युवती का चेहरा दीपाली से बहुत अधिक मेल तो न खाता था, पर उसे लगा कि जिस कलाकार ने दीपाली को गढ़ा है उसकी समझ-बूझ की भी जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। यह सोचते ही उसे दीपाली के माता-पिता का ध्यान आ गया जिनसे यह बहुत जल्द बनारस में पहुँचकर मिलने वाला था। दीपाली उसे बता चुकी थी कि उसका चेहरा तो हू-ब-हू अपने पिता पर है। वही सुतवाँ नाक, वही बड़ी-बड़ी आँखें, चौड़ा माथा और रंग एकदम सफेद गुलाब। उसने यह भी तो बताया था कि उसकी बहन मीनाक्षी का रंग तो साँवला है और उसके चेहरे का कट भी बिलकुल उसकी माँ पर है। चलिये बनारस में मीनाक्षी को भी देख

लेंगे। अब तो बनारस दूर नहीं।

धीरे-धीरे दीपाली के हाथ हिले। आँखें मलते हुए वह उठकर बैठ गई। उसने खिड़की से झाँककर देखा कि सूरज तो काफी ऊँचा उठ आया है। जैसे वह अपनी नींद पर झुँझला उठी। छूटते ही बोली, "कभी-कभी मुझे न जाने क्या हो जाता है। मैं नींद के समुद्र में न जाने क्यों इतनी गहरी डूब जाती हूँ? तुमने कुछ चाय-वाय भी पी या योंही निराहार बैठे हो?"

जवाब में सुनील केवल मुस्कराया। इस मुसकान में एक व्यंग्य भी तो था। दीपाली न जाने क्या सोचकर गुनगुनाने लगी—'चैत की निन्दिया जिया अलसाने हो रामा!' और फिर जैसे स्वयं अपने ऊपर व्यंग्य-सा कसते हुए बोली, "अब तो कार्तिक आरम्भ हो रहा है। चैत तो छः महीने पीछे छूट गया। गीत का भी तो मौसम होता है। मैं हूँ कि बेमौसम तान छेड़ रही हूँ। यह सब बनारस के नज़दीक आने की निशानी है, बनारस नज़दीक आ रहा है, सुनील! इसलिये तो बनारस का यह गीत मेरे होंठों पर थिरक उठा। गीतों के लिये तो बनारस मशहूर है। बनारस की वह कजली तो कई बार लाहौर में भी मेरे रोम-रोम को छू जाती थी—'एही ठैयां भुलनी हेरानी हो रामा!'

"शायद तुम्हारा ख्याल है कि गीत से चाय के कप का काम पूरा हो सकता है!" सुनील ने चुटकी ली।

"कोई स्टेशन तो आने दो, चाय भी आ जायगी।"

सुनील बड़ी बेदिली से खिड़की के बाहर झाँकने लगा। गाड़ी के पहियों की दनदनाहट से उसका मन उकता रहा था। बाहर से नज़र हटा कर उसने डिब्बे में बैठे हुए लोगों को ध्यान से देखा। अब न वहाँ कोई लोई में लिपटे लाला जी थे, न पशमीने की चादर वाले सरदार साहब, न खसखसी दाढ़ी वाले मौलाना हिफ़ज़ुर्रहमान। सिरहाने के नीचे से 'एशिया' मैगज़ीन उठाते हुए सुनील ने चीनी कलाकृति की प्रशंसा आरम्भ कर दी जिसे इसके कवर पर बड़ी खूबी से प्रस्तुत किया गया था।

दीपाली ने हँसकर कहा, "इस लड़की का भी कोई गीत जरूर होगा। खैर छोड़ो। मैं कहती हूँ कि बनारस की उस कजली पर तो इस लड़की के पैर भी थिरक सकते थे।"

सुनील बड़े ध्यान से कलाकृति की गहराई में उतरने का यत्न करता रहा। दीपाली तो इस चीनी लड़की से बहुत अलग थी। वह तो जैसे बनारस की गुड़िया बनी जा रही थी। अपनी साड़ी का पल्लू सुनील को दिखाते हुए बोली, "यह साड़ी मुझे मीनाक्षी ने भेजी थी, सुनील! अपने पत्र में उसने यह अनुरोध भी तो किया था कि मैं बनारस आऊँ तो यही साड़ी पहनकर। खैर छोड़ो, वह कजली सुनो।"

सुनील इस पर भी टस से मस न हुआ। उसे तो गीत से कहीं अधिक चाय के कप का इन्तजार था, जैसे सरदार साहब का बोल इसके मन को छू गया हो —पहले खाना, फिर पहनना, फिर कुछ और!

दीपाली गुनगुना रही थी :

एही ठैयाँ झुलनी हेरानी हो रामा,
कासों मैं पूछूँ ?
सास से पूछूँ, ननदिया से पूछूँ,
देवर से पूछत लजानी हो रामा,
कासों मैं पूछूँ ?

अगले स्टेशन पर गाड़ी रुकी तो दीपाली ने चाय मँगवा ली। साथ में मक्खन और टोस्ट भी थे। चाय का घूँट भरते ही जैसे सुनील की जान-में-जान आ गई और उसने हँसकर कहा, "खैर, बनारस भी देख लेंगे। बनारस के नीचे काशी का चेहरा दब तो नहीं गया होगा!"

"मतलब?"

"माफ करना दीपाली, मुझे वह कहावत याद आ गई—रॉड सॉड सीढ़ी सन्यासी, इनसे बचे तो सेवे काशी!"

"ऐसी लोकोक्तियाँ तो हर तीर्थ स्थान के सम्बन्ध में मिलेंगी!" दीपाली ने हँसकर कहा, "खैर छोड़ों यह मजाक। बनारस नजदीक आ रहा है।

बनारस की हवा तुम्हें भी छूने लगी। मैं तो यह देखकर और भी खुश हूँ। शायद तुम नहीं जानते कि मेरा बचपन बनारस में बीता। बनारस की सँकरी और चक्करदार गलियाँ हमेशा मेरी कल्पना में उभरती रहेंगी।"

"सँकरी और चक्करदार गलियों की तो लाहौर में भी कमी नहीं!" सुनील ने चाय का घूँट भरते हुए कहा, "बनारस की गलियों में ऐसी क्या बात है? हाँ, अगर बनारस के मन्दिरों की बात कहो या वहाँ के घाटों की सीढ़ियों की बात कहो तो मैं मान सकता हूँ। लाहौर की रावी से बनारस की गंगा कहीं अधिक सुन्दर है यह भी मान सकता हूँ। बनारस में गंगा स्नान के लिए आये हुए भिन्न-भिन्न प्रान्तों के यात्रियों को देखकर यह मालूम होने लगता है कि सारा हिन्दुस्तान यहीं आकर जमा हो गया है, यह भी मान सकता हूँ, लेकिन—"

"लेकिन क्या नहीं मान सकते?" दीपाली ने टोस्ट का टुकड़ा मुँह में डालते हुए सुनील को टोका, "कुछ यह भी तो बताओ। और देखो अपने हिस्से का टोस्ट भी तो खत्म करो, भले आदमी!"

"झुलनी हेरानी वाला गीत दीपाली गाये, यह तो बड़े आश्चर्य की बात है!" सुनील ने टोस्ट उठाते हुए कहा।

"दीपाली न गाये तो क्या मीनाक्षी गाये? मीनाक्षी भी यह गीत जानती है।"

सुनील कुछ न बोला। उसकी आँखों में मछली वाला खेल घूम गया। दीपाली मछली न बन सकी, चलो मीनाक्षी ही मछली बनने जा रही है। उसे तो ब्याह से नफरत न होगी। उसकी तो सास होगी। देवर भी होंगे और गीत की मुद्रा में वह अवश्य लजा जाती होगी—सास से पूछूँ ननदिया से पूछूँ, देवर पूछत लजानी हो रामा!

"क्या सोच रहे हो, सुनील?"

"यही कि अब तो बनारस दूर नहीं। बनारस की कोई खास बात बताओ, दीपाली!"

"बनारस की बात सुनोगे ?" दीपाली ने हँसकर कहा, "कभी बनारस देखा भी है ?"

"बम्बई पहुँचने से पहले मैं बनारस में भी उतरा था। कोई एक महीना वहाँ ठहरा भी था, लेकिन यह तो बरसों पहले की बात है।"

"और दोबारा बनारस कभी नहीं गये ?"

"दोबारा अब जा रहा हूँ।"

"खैर छोड़ो, एक महीने में तो कोई बनारस का दिल नहीं टटोल सकता। उसके लिए तो कम से कम चौदह साल दरकार है !"

"राम बनवास जितना समय !" सुनील ने कहकहा लगाया, "मज़ाक छोड़ो, दीपाली ! यह बताओ कि बनारस की सब से बड़ी छाप तुम्हारे दिमाग़ पर क्या है ?"

"तो सुनो, सुनील ! बनारस में यह प्रथा है कि जब शादी हो जाती है तो दूल्हा-दुलहन को गठबन्धन करके गंगा-पूजा के लिए अवश्य ले जाते हैं। साथ में शहनाई बजाने वाले चलते हैं। बनारस का यह दृश्य इतना रंगीन होता है कि कुछ न पूछो। जानते हो शहनाई के स्वर क्या कहते हैं ?"

"यही कहते होंगे शहनाई के स्वर कि तुम भी ब्याह कर लो।"

दीपाली कुछ झेंप-सी गई। बात का रुख बदलते हुए बोली, "वैसे चाय बुरी नही थी। वाकई लाहौर वाले सरदार साहब ठीक कह रहे थे— पहले खाना, फिर पहनना, फिर कुछ और !"

सुनील कुछ न बोला। उसकी निगाहों में उस समय दीपाली न मछली थी, न दूल्हा के गठबन्धन में बँधी हुई शहनाई के स्वरों के साथ गंगा-पूजा को जाती हुई कोई दुलहन, वह थी केवल 'मिट्टी की मूरत' की हीरोइन। 'एशिया' मैगज़ीन को दीपाली की ओर सरकाते हुए उसने ज़ोर देकर कहा, "यह चीनी कलाकृति बुरी नहीं। इस लड़की ने भी चीन देश की किसी नदी की अवश्य पूजा की होगी, उस समय भी अवश्य किसी शहनाई के स्वर बज उठे होंगे।"

"वाह वाह !" दीपाली हँसकर बोली, "चीन के किसी शहर में भी कोई ऐसी लड़की अवश्य होगी, जिसने यह फ़ैसला कर रखा हो कि वह किसी के भी गठबन्धन में नहीं बँधेगी !"

"खैर, छोड़ो यह बहस !" सुनील ने गम्भीर होकर कहा।

"अच्छा तो गीत सुनो !" दीपाली मुस्कराई, "भुलनी हेरानी वाला गीत नहीं !" और वह ऊँची आवाज से गाने लगी :

चैत की निन्दिया जिया अलसाने हो रामा !

पास वाले मुसाफ़िरों ने चौंककर बेमौसम तान छेड़ने वाली लड़की को देखा, और दीपाली भी यह देखकर झेंप गई।



४

बनारस के रेलवे स्टेशन पर मीनाक्षी बहुत देर तक गाड़ी की प्रतीक्षा करती रही। जब गाड़ी आई तो वह एक-एक डिब्बे की खिड़की में सिर डालकर देखने लगी। कहीं भी उसे दीपाली नज़र न आई। उसका ख्याल था कि उसने बड़े ध्यान से सब डिब्बे देख डाले। उसने सोच लिया कि दीपाली इस गाड़ी से नहीं आई। और फिर एक झटके के साथ उसे ख्याल आया कि अब दीपाली नहीं आयेगी। उसकी कल्पना में दीपाली की वे सब चिट्ठियाँ घूम गईं, जिनमें उसने बार-बार बनारस आने का वचन दिया था। पर एक बार भी तो उसने अपना वचन निभाने की आवश्यकता नहीं समझी थी। लाहौर में ऐसी क्या चीज़ है जो उसे छोड़ती ही नहीं। माना कि चाचीजी उसे माता जी से भी अधिक स्नेह करती हैं, पर छोटी बहन के विवाह का अवसर इतना छोटा अवसर भी तो नहीं कि बड़ी बहन बनारस से कोसों दूर बैठी रहे। आज ही तार भेजना होगा। दीपाली को यहाँ बुलाये बिना मैं तो हरगिज़ बाबुल का देश छोड़ने की नहीं ···

निराश होकर मीनाक्षी स्टेशन से बाहर निकलकर अपनी कार की ओर बढ़ी। और जब उसने दूर से देखा कि दीपाली कार के पास खड़ी है, उसके साथ कुर्ते-पाजामे में घुँघरीले बालों वाला एक नौजवान भी हँस-हँसकर बातें कर रहा है, और उनके पीछे कुली सामान उठाये खड़ा है, तो उसकी आँखें चमक उठीं।

बड़े वेग से कदम बढ़ाकर वह कार के समीप पहुँची। उसके कान में दीपाली की आवाज आई, "मीना नहीं आई, गोपाल ?"

इससे पहले कि ड्राइवर कुछ उत्तर दे, पीछे से आकर मीनाक्षी ने अपने हाथ दीपाली की आँखों पर रख दिये।

दीपाली समझ गई कि ये मीना के हाथ हैं। उसकी बाँह पकड़कर उसे अपनी ओर खींचती हुई बोली, "मुबारक हो, मीना !"

मीनाक्षी छुई-मुई-सी हो गई। उसका चेहरा लाल हो गया। पर अगले ही क्षण वह सँभल गई, जैसे उसे याद आ गया हो कि उसे तो 'मॉडर्न गर्ल' कहलाने का गर्व है। दोनों बहनों को घनिष्टता से बातें करते देखकर सुनील ड्राइवर के समीप चला गया था। उसकी ओर संकेत करते हुए दीपाली बोली, "यह भी आर्टिस्ट हैं !" और फिर सुनील को पुकारा, "उधर क्यों चले गये, सुनील ? यह रही मीना, जिसकी बातें हम रास्ते-भर करते आये हैं।"

सुनील ने उसी क्षण पलटकर कहा, "नमस्ते, मीनाजी !"

"अरे, सीधा-सादा मीना कौन बुरा है, सुनील !" दीपाली ने हँसकर कहा, "इस 'जी' के चक्कर में पड़ने की क्या आवश्यकता है ? और फिर तुम हो आर्टिस्ट। इधर हमारी मीना भी आर्टिस्ट ठहरी। अन्तर इतना ही है कि तुम ड्रामा लिखते हो और मीना पेंटिंग करती है। मीना के बंगाली आर्ट-मास्टर बिमल बाबू से मिलोगे तो पहली ही मुलाकात में भीग जाओगे।"

गोपाल ने बड़े आराम से सामान रखवा लिया था और कुली को पैसे देकर विदा कर दिया था। फिर वह गुमसुम-सा अपनी सीट पर जा बैठा और कार चलाने के आदेश की प्रतीक्षा करने लगा।

मीनाक्षी बोली, "बिमल बाबू कल से लापता हैं। गंगा के किसी घाट पर न जाने किस से गपशप लड़ा रहे होंगे। उनका कोई ठिकाना नहीं, आज किसी से चण्डीदास की कविता पर वार्तालाप कर रहे हैं, तो कल किसी आसाम-निवासी से पूछ रहे होंगे कि अब के भूकम्प के कारण आसाम

का अधिक नुकसान तो नहीं हुआ। कभी किसी महाराष्ट्र के यात्री से घुल-मिल जाते हैं, तो अगले ही दिन उसे छोड़कर दक्षिण भारत के किसी यात्री से कन्याकुमारी के माहात्म्य की चर्चा करने लगते हैं। और फिर ब्रश लेकर बैठते हैं तो कई-कई दिन पेंटिंग-पर-पेंटिंग बनाते चले जाते हैं। यहाँ तक कि मैं भी उनके पास जाकर कुछ पूछने लगूँ तो टका-सा जवाब देते हैं—देखो बाबा, अब हमको कुछ बोलने नहीं सकता। हमको इन्स्पिरेशन आ गया। हमारा वाला काम में गड़बड़ नहीं चलने सकता!"

मीना ने विमल बाबू के शब्द कुछ इस हाव-भाव से प्रस्तुत किये कि दीपाली और सुनील हँस-हँसकर लोट-पोट हो गये। दीपाली बोली, "तुम समझते होगे सुनील, कि दीपाली ही ड्रामा-आर्टिस्ट है। मैं कहती हूँ कि हमारी मीना पेंटिंग तो करती ही है, पर सच पूछो तो इसकी एक्टिंग भी कमाल की है। क्या हुआ यदि इसका विवाह होने जा रहा है। पर हमारी मीना पराये घर जाकर भी वह एक्टिंग करेगी कि एक बार तो सास-ननद को नाकों चने चबवा देगी।"

"तो तुम्हारा मतलब है दीपाली, कि मीना अपने पतिदेव को बख्श देगी।"

मीनाक्षी ने बात का रुख बदलते हुए कहा, "गोपाल, कार क्यों नहीं स्टार्ट करते? घर पर पिताजी परेशान हो रहे होंगे।"

गोपाल ने झट कार स्टार्ट की। दोनों बहनें पिछली सीट पर जा बैठीं। सुनील लपककर अगली सीट पर जम गया।

कार हवा से बातें करने लगी, तो दोनों बहनें आँखों में आँखें डालकर जैसे कुछ ढूँढ़ने लगीं। मीना प्रसन्न थी, क्योंकि उसके विवाह में सम्मिलित होने के लिए दीपाली आ गई थी; और दीपाली प्रसन्न थी, क्योंकि उसकी ज़िद से तंग आकर माता-पिता ने बड़ी बहन के विवाह से पूर्व ही छोटी बहन का विवाह पक्का कर दिया था। और दीपाली का विश्वास था कि अब तो उसके माँ-बाप ख्वाह-म-ख्वाह उसे तंग नहीं करेंगे कि वह अवश्य अपना जीवन किसी के हाथ गिरवी रख दे।

को नचा सकती है। विवाह न सौदा है न ठेका, यह तो एक जिम्मेवारी है, जिसे पूरा करते हुए इन्सान माँ-बाप का ऋण चुकाता है। और—"

"और समाज का ऋण चुकाता है। चाँद-सूरज का ऋण, सात समुद्रों का ऋण और भी न जाने कैसे-कैसे ऋण!" दीपाली खिलखिलाकर हँस पड़ी।

"आज तुम्हें क्या हो गया, दीदी?" मीना ने सँभलकर कहा, "मेहमान पर तो इस तरह नहीं बरसते, मुझे जो चाहो कह लो, शौक़ से!"

कार चली जा रही थी। मीना की आँखों में वह चमक थी जिसमें पाताल तक को विजय करने की क्षमता होती है। जैसे वह नाव में बैठी हो और कोई उस नाव को खे रहा हो। नाव का खेवैया था उसका दूल्हा। उसके मस्तिष्क में कोई उलझन न थी, उसके हृदय पर कोई बोझ न था, जैसे वह पिघली जा रही हो।

"अरे मीना, यह तो तुमने बताया ही नहीं कि तुम्हारा पेंटिंग का शौक कैसा चल रहा है?" दीपाली ने हँसकर कहा, "मैं तो सोचती हूँ कि विमल बाबू को पेंटिंग की तुम्हारे जैसी शिष्या को खोकर बहुत दुःख होगा।"

मीना खिलखिलाकर हँस पड़ी, "दीदी, हमारे विमल बाबू को शिष्यों की कौन-सी कमी है! और फिर विमल बाबू ठहरे मस्त मलंग आदमी। यह तो उनकी कृपा रही जो उन्होंने मेरा हाथ थोड़ा-सा साफ़ कर दिया। और फिर तुम तो जानती हो दीदी, कि आजकल कोई लड़की सितार सीख रही है तो कोई वायलन, क्योंकि जब भी कोई लड़का किसी लड़की को पसन्द करने आता है तो वह यह अवश्य पूछता है कि उसे संगीत का शौक है या नहीं। और मैंने पेंटिंग इस ख़याल से ली थी कि जब लड़का यह सवाल करे तो मैं झट कह दूँ—अजी रंगों का भी तो संगीत होता है! और अब जब कि मेरा काम बन गया, मैं तो पेंटिंग को एक नौका समझती हूँ। अरे तुम ही बताओ दीदी, नौका से नदी पार करने के बाद कोई नौका को सिर पर उठाकर चलने से तो रहा।"

दीपाली एक क्षण के लिए मन्त्रमुग्ध-सी होगई। सुनील झट कह उठा, "आप लोगों के बीच में मेरा बोलना तो ठीक नहीं, पर मीना की दलील मेरे दिल लगी है।"

"लेकिन वह दलील क्या हुई जो हाथ लगाते ही बिस्कुट की तरह भुर जाय!" दीपाली ने गम्भीर होकर कहा, "मीना, मैंने तो कभी नहीं सोचा था कि तुम पेंटिंग को यों चकमा दोगी।"

मीना भी कब झेंपने वाली थी। वह उभरकर बोली, "अरे दीदी, तुम क्या जानो कि विवाह भी एक तरह की नौका है! पेंटिंग दूसरी नौका है। दो नौकाओं पर पैर रखने वाला नदी में गिर जाता है।"

दीपाली ने समझ लिया कि मीना पहले से कहीं अधिक तेज हो गई। एकदम मॉडर्न गर्ल! छुई-मुई बिलकुल नहीं। मीना हँसती रही। जैसे उसने अपनी दलील से दीपाली पर विजय पा ली। कार की खिड़की से वह सड़क का दृश्य देखती रही। यह रास्ता उसका जाना-पहचाना था। अब घर समीप था। वह मीना से कहना चाहती थी कि यदि रंगों का भी संगीत होता है तो क्या यह संगीत कभी समाप्त हो सकता है। मीना हँसते-हँसते लोट-पोट हो रही थी। यदि वह कार में न बैठी होती तो फिरकी की तरह घूमने लगती। हँसते-हँसते मीना ने अपना सिर दीपाली की बाँह पर डाल दिया।

"क्या बात है, मेरी बन्नो!" दीपाली ने सँभलकर कहा, "मेरी मानो तो अब पेंटिंग को छोड़ने की भूल न करना। इन्सान की कोई हॉबी भी होनी ही चाहिए।"

सुनील भी खामोश न रह सका, "तुम्हारी हॉबी क्या है, दीपाली?"

"एक्टिंग।"

"एक्टिंग! तुमने तो एक बार कहा था कि एक्टिंग तुम्हारे जीवन का मिशन है।"

इसके पहले दीपाली कुछ उत्तर देती, कार अचानक रुकी। दीपाली ने उचककर देखा। "अरे, तो क्या घर आ गया!" उसने पुलकित होकर कहा।

दरवाजा खोलकर दोनों बहनें नीचे उतरीं। माँ ने लपककर दीपाली को गले लगाया। पिताजी ने भी बैठक से निकलकर दीपाली के सिर पर हाथ फेरा।

"अरे आप भी तो नीचे आइए, सुनील जी!" मीना चिड़िया की तरह चहकी। सुनील झट नीचे उतरा। मीना ने पिता जी से परिचय कराते हुए कहा, "आप हैं सुनील बाबू! इतना अच्छा ड्रामा लिखते हैं कि दीदी तो इनकी प्रशंसा करते थकती ही नहीं। और दीदी यह भी तो कह रही थी पिताजी, कि एक्टिंग उसकी हॉबी है। और सुनील बाबू दीदी को याद दिला रहे थे कि कल तक तो वह एक्टिंग को अपने जीवन का मिशन कहा करती थी। और—"

"और-वौर क्या?" दीपाली के पिता जी ने मीना के कन्धे थपथपाते हुए कहा, "सारा रिकार्ड सड़क पर खड़े-खड़े तो मत बजाओ। भीतर चलो, बैठक में बैठकर जो-जो सुनाओगी सब ध्यान से सुनूँगा।"

ज्यों ही दोनों बहनें सुनील को लिये हुए बैठक की ओर बढ़ीं, दीपाली के पिताजी ने गोपाल को आवाज देकर कहा, "पीछे क्वार्टर में जाकर विमल बाबू से बोलो कि एक मेहमान आये हैं जो उनके साथ ठहरेंगे। उनसे कहना कि वे भी आर्टिस्ट हैं।"

दीपाली की माँ अपने पति के पीछे-पीछे छाया की तरह चलती हुई आँगन में पहुँची तो उसके माथे की झुर्रियाँ कुछ सिमटीं, कुछ फैलीं।

"मेरे आनन्द का तो कोई ठिकाना नहीं, दीपाली की माँ!" दीपाली के पिताजी का कण्ठ गद्‌गद् हो उठा, "दीपाली आ गई, पर तुम अभी तक उदास हो।"

"मैं तो शर्म से पृथ्वी में गड़ी जा रही हूँ!" दीपाली की माँ ने जैसे गहरे कुएँ से पानी का डोल खींचते हुए कहा, "मुझे तो बस एक ही चिन्ता खाये जा रही है—गली-मुहल्ले वाले क्या कहेंगे, सगे-सम्बन्धी क्या कहेंगे! मीना के हाथ पीले होने जा रहे हैं, पर दीपाली····"

"अरे, यह चिन्ता तो व्यर्थ है। दीपाली का माँ, तुम्हारे ये पुराने

विचार न जाने कब खत्म होंगे। भगवान् ने सबको स्वतन्त्रता दी है। शुक्र करो कि तुम्हारी सन्तान इतनी योग्य है। मीना का विवाह अब हो रहा है, दीपाली का अगले बरस हो सकता है। अरे, एक-दो बरस के आगे-पीछे से क्या अन्तर पड़ता है?"

"मैं तो चाहती हूँ कि हमारी दीपाली के लिए भी अच्छा-सा वर मिल जाय और—"

"और तुम दीपाली के हाथ भी मीना के साथ ही पीले कर डालो!" दीपाली के पिताजी ने कहकहा लगाया, "अरे, आज नहीं तो कल। दीपाली को भी मिल ही जायगा योग्य वर!"

इतने में दीपाली ने आकर कहा, "विमल बाबू तो सुनील से मिलकर उछल पड़े!"

"यह तो ठीक हुआ!" पिताजी ने गम्भीर होकर कहा, "मेहमान को किसी तरह का कष्ट न हो, मैं तो बस यही चाहता हूँ।"

*



५

बारात आई। फूलों से सजी मोटर पर दूल्हा आया। मीना की सहेलियों ने नाक सिकोड़ी। दूल्हे को तो घोड़े पर चढ़कर आना चाहिए था। विवाह के शोर में लड़कियों की आवाज़ दब गई।

दीपाली की माँ के पैर तो जैसे खुशी से धरती पर टिकते ही न थे। कभी वह कहती कि हमारा दूल्हा तो राजा बाबू है, कभी कहती—मुग़लसराय का रेलवे इञ्जीनियर कौन किसी राजा से कम होता है?

विवाह के ढोल बार-बार बज उठते। बैण्ड-बाजा अलग, शहनाइयाँ अलग। जैसे अंग्रेजी बाजा देशी बाजे से होड़ ले रहा हो।

मीना की सहेलियाँ मीना को धर्म-काँटे पर तुलते देखने को कितनी उत्सुक नज़र आती थीं। पर दीपाली यह सब देखकर भी जैसे कुछ न देख रही हो, जैसे उसके मन का स्वर इन बाजों से बिलकुल अलग हो।

घर के आँगन में विवाह का मण्डप बनाया गया, जिस पर केले के पत्ते बाँधे गये। मीना की सहेली कंचन ने दीपाली के सामने ज्ञान बघारते हुए कहा, "सत्युग में लोग जंगलों में जाकर विवाह करते थे। जंगल के वृक्ष उनके साक्षी होते थे। अब तो कलियुग में मनुष्य बहुत बदल गया है, दीदी! फिर भी मनुष्य को सत्युग की याद अवश्य है। ये केले के पत्ते और यह विवाह का मण्डप सत्युग की यादगार हैं!"

दीपाली ने कंचन की बात हँसी में उड़ा दी।

पास से कोई बुढ़िया बोली, "हमारे समय में ये बिजली की लाल-पीली, नीली बत्तियाँ कहाँ होती थीं ? अब तो बिजली के लट्टुओं पर लट्टू होने का युग आ गया !"

उधर से आकर दीपाली की माँ बोली, "क्यों बहन, अपने बिजली के लट्टू भूल गई। कंचन की शादी किये अभी कुल दो बरस भी तो नहीं हुए।"

बिजली के बल्बों की कोई गिनती न की जा सकती थी। बाहर शामियाने के नीचे, जहाँ बारात को खाना खिलाने का प्रबन्ध किया गया था, बल्बों की पंक्तियाँ कुछ इस तरह चली गई थीं जैसे स्तम्भ ही नहीं, छत भी बिजली के बल्बों द्वारा ही बनाई गई हो।

मीना के विवाह की खुशी में नगवा की हर लड़की के दिल में विवाह की उमंग उछल रही थी। जैसे हर लड़की की कल्पना में भाँवर पड़ने के बाद का वह दृश्य घूम गया हो जब वर वधू की माँग में सिन्दूर डालता है। और जैसे गीत का वह बोल एक कसक-सी छोड़े जा रहा हो। जिसमें वधू कहती है—'हम तो रे बाबुल खूँटे की गैयाँ, जित हाँको हँक जायँ रे सुन बाबुल मोरे !' और फिर गीत का वह बोल जिसमें दुलहन पिता से शिकायत करती है—दूल्हा जबरदस्ती मेरी माँग में सिन्दूर डाल रहा है, और बाज़ार में सिन्दूर सस्ता हो गया ! लेकिन दीपाली तो जैसे ऐसी किसी कल्पना की छाया से भी दूर भागती हो।

मीना की भाँवर पड गई। अग्नि की साक्षी में वरवधू ने एक-दूसरे को वचन दिये कि वे इस उत्तरदायित्व को हँसते-हँसते निभायेंगे, उनके मन एक-दूसरे के विपरीत कभी नहीं जायँगे। लेकिन दीपाली का मन कहीं और था।

अगले दिन जब मीना का दहेज सजाकर रखा गया तो नगवा की मोहल्ले वालियाँ बड़े चाव से उसे देखने आईं। चाँदी का टी-सेट, दो ईरानी कालीन, एक दर्जन साड़ियाँ, पैंतीस तोले सोना, जेवर एक-से-एक सुन्दर, हिज मास्टर्स वायस रेडियो सेट, दूल्हा के लिए रोल्ड-गोल्ड की घड़ी, घर

का सारा सामान। पाँच हज़ार का चैक। मोहल्ले वालियाँ कह रही थीं कि इससे नगवे का सिर ऊँचा हुआ है। जो ज़रा निर्धन थीं, वे नाक-सिकोड़ कर सोच रही थीं कि जिनके पास इतना पैसा है वे इतना दहेज़ देकर दूसरों के रास्ते में कांटे क्यों बोते हैं।

दहेज़ दिखाने का काम दीपाली को सौंपा गया था। मीना की सहेलियाँ सिरहाने के उन गिलाफ़ों को हाथ लगाने से बाज़ न आती थीं जिन पर 'फार्गेट मी नॉट' और 'वेल्कम' रेशमी तारों से काढ़े गये थे। कंचन ने सभी सहेलियों का ध्यान बार-बार उन बारह-की-बारह तस्वीरों की ओर दिलाया जिन पर मीना का नाम लिखा हुआ था। मन-ही-मन दीपाली झुँझला रही थी। यह सब क्या है? 'खूँटे की गैया' बाबुल का देश छोड़कर जा रही है। इस गैया को हाँक ले जाने वाले के लिए इतना बड़ा इनाम!

मीना ने दीपाली के साथ शर्त लगा रखी थी कि ससुराल जाते समय बिलकुल नहीं रोयेगी। पर जब उसका डोला उठा, वह फूट-फूटकर रो पड़ी। दीपाली ने सोचा कि यह भी एक अच्छी एक्टिंग है।

मीना का डोला चारों कहार उठाकर खड़े हुए तो डोली का गीत गूँज उठा। मोहल्ले वालियाँ रुआँसी-सी आवाज़ में कह रही थीं—लड़की तो पराया धन है! बड़े-बड़े महाराजे भी लड़की को घर पर बिठाकर नहीं रख सकते!

मीना चली गई, आँसू बहाने के बावजूद चली गई।

दीपाली की कल्पना में बार-बार दूल्हा बाबू और मीना का वह फोटो घूम जाता जिसमें दूल्हा तो कुछ हद तक तेज़ नज़र आ रहा था पर मीना छुई-मुई-सी बनी बैठी थी। जैसे वह जीवन-भर भीगी बिल्ली की तरह पतिदेव की हाँ-में-हाँ मिलाने के लिए, उसकी हर तान पर म्याऊँ कहने की कसम खा चुकी हो। यह सब तो व्यर्थ है। पुरुष के सामने नारी की यह पराजय तो असह्य है। और फिर जैसे दीपाली ने इस तस्वीर को मिटाकर नई तस्वीर खड़ी कर दी जिसमें पुरुष एकदम दब्बू नज़र आ रहा था और नारी उस पर झपटने की मुद्रा में बैठी थी····



६

सुनील की विमल बाबू से गाढ़ी छनने लगी, जैसे वे बचपन के लंगोटिये यार हों। स्वभाव की भिन्नता भी दोनों से छिपी न रही, पर वे तो छूटते ही एक-दूसरे के इतने समीप आ गये, अंधेरे में भी एक-दूसरे को खूब पहचानने लगे।

ससुराल जाते समय मीना अपने दहेज के साथ अपने बंगाली आर्ट मास्टर की तूलिका द्वारा अंकित बारह-की-बारह तस्वीरें, जिन पर स्वयं मास्टर जी ने मीना का नाम लिख दिया था, बड़े मजे से ले जा चुकी थी। कोई और होता तो शायद इसे विमल बाबू की सबसे बड़ी मूर्खता समझता, पर सुनील पर इसकी गहरी छाप पड़ी। यह तो सबसे बड़ा त्याग था जो एक कलाकार अपनी शिष्या के लिए कर सकता था। कई बार सुनील सोचता कि स्वयं उसके लिए तो कभी यह सम्भव न होता कि अपना ड्रामा 'मिट्टी की मूरत' दीपाली को दे देता और उसके सभी मिलने वालों से यह कहता-फिरता कि यह ड्रामा दीपाली का ही लिखा हुआ है। क्योंकि उसका विचार था कि रक्तबीज से ही किसी कला-कृति का जन्म होता है, और इस से बड़ा त्याग कोई नहीं कि कलाकार अपनी कृति से यों अपना हाथ खींच ले। वह बराबर प्रतीक्षा करता रहा कि विमल बाबू स्वयं उन तस्वीरों की बात शुरू करें। उस अवस्था में तो सुनील इसके विपक्ष में भी कुछ कहने का साहस कर सकता था, पर विमल बाबू तो जैसे उस प्रतिदान के प्रति एक-

दम मूक हो गये थे।

विमल पर भी सुनील के चरित्र का कुछ कम प्रभाव न पड़ा। उसने स्पष्ट शब्दों में यह बात स्वीकार की कि आर्टिस्ट बनने के लिए सौ-सौ पापड़ बेलने पड़ते हैं, सौ-सौ परीक्षाओं में से गुज़रना होता है। सुनील की कहानी उसे आरम्भ से अन्त तक अच्छी लगी। उसने मुक्तकंठ से स्वीकार किया कि सुनील ने अपने जीवन में जितना संघर्ष किया है, उसी का यह फल है कि आज उसकी विजय पताका फहराने जा रही है। उसने 'मिट्टी की मूरत' का एक-एक शब्द सुना और इस पर अपना मत देते हुए ज़ोर देकर कहा कि किसी भी युवक के लिए अपनी कला-कृति में इतनी गहराई ला सकना सहज नहीं था। उसने यह भी कहा कि अब तो इसमें किसी तरह की काँट-छाँट की गुंजाइश नहीं, बल्कि किसी भी तरह का परिवर्त्तन इसकी ताज़गी को नष्ट ही कर सकता है।

एक दिन सुनील ने हँसकर कहा, "वह गीत तो सुना होगा, विमल बाबू—'एक नदी के दो किनारे, मिलने से मजबूर!' लेकिन यहाँ तो दोनों किनारे मिलकर एक हो गये।"

"ई तो हम नहीं मान सकता, सुनील!" विमल ने गम्भीर होकर कहा, "ड्रामा और पेंटिंग तो दो किनारे ही रहने सकता, एक होने का कोनो मतलब नहीं। भिन्नता में सौन्दर्य आछे, बाबा! ई बात भी न समझ सको, तो जाओ गंगा घाट की हवा खाओ।"

इस पर गंगा के घाटों की चर्चा शुरू हो गई; कहीं इसका ओर-छोर नज़र नहीं आता था। दशाश्वमेध घाट से उछलकर प्रसंग केदार घाट पर जा पहुँचा; फिर अस्सी घाट की बात हरिश्चन्द्र घाट में खो गई। गंगा के प्रत्येक घाट की एक-एक सीढ़ी विमल बाबू के मन पर अंकित थी। भला आदमी चाहता तो प्रत्येक घाट की सीढ़ियों की गिनती के पचड़े में अपनी सहज कल्पना को खपा देता।

उसके मन पर काशी की छाप अधिक गहरी थी या गंगा की छाप, यह स्पष्ट न था। कबीर चौरा की बात बीच में छोड़कर जैसे वह गंगा की

लहरें गिनने लगता। विमल काशी नरेश चेतसिंह की गाथा से सम्बद्ध उनके महल की वह खिड़की भी सुनील को दिखा लाया था जिसके रास्ते काशी नरेश अंग्रेजों से भयभीत होकर भाग निकले थे। जनश्रुति द्वारा अंकित वह चित्र भी तो उसने सुनील के सामने प्रस्तुत कर दिया था जो बच्चों के गीत में आज भी उभरता नजर आता था—'घोड़े पै हौदा औ' हाथी पै जीन, जल्दी से भाग गैल वारेन हेस्टीन !'

एक दिन विमल ने मजा लेकर कहा, "ई देखो जन-कल्पना का चमत्कार ! वारेन हेस्टिंग्ज का वारेन हेस्टीन बना डाला। वारेन हेस्टिंग्ज ने काशी को पराजित किया, शे तो इतिहास प्रसिद्ध, परन्तु जन-कल्पना तो वारेन हेस्टिंग्ज से ऊपर है, बाबा ! इसको तो कोनो अंग्रेज आज दिन पर्यन्त काले पानी नहीं भेज सका।"

"विमल बाबू, वारेन हेस्टिंग्ज की बातें छोड़ो। यह बताओ कि काशी का बुड़हा मंगल क्या बला है ?"

"बुहड़ा मंगल तो एकदम चमत्कार !" विमल कहता चला गया, "अरे बाबा, अब तो बुड़हा मंगल का रंग उतर गया। काशी का बुड़हा मंगल देखने के लिए तो बड़े-बड़े अंग्रेज का मन-मयूर नाचने सकता। सात-सात दिन पर्यन्त चलता था काशी का बुड़हा मंगल उत्सव। नौकाएँ बाँधकर उन पर प्लेटफार्म बनाता काशी का रईस लोग और काशी नरेश से होड़ लेता। सात-सात दिन पर्यन्त चलता था नाच-गान। बड़ा-बड़ा नर्तकी लोग बुलाया जाता। शे सब होलो बुड़हा मंगल का अप्सरा और किन्नरी।"

"बुड़हा मंगल का कोई गीत तो तुम्हें भी याद होगा, विमल बाबू !"

"बुड़हा मंगल का एकटि गान तो हम कभी नहीं भूलने सकता—'पिया आवन की भई बेरिया, दरवजवा लागि रहूँ !' ई गान प्रतीक्षा का गान, बाबा ! प्रेयसी लोग के मन का सुर कतो चमत्कार !"

"अरे विमल बाबू, आपकी तो अभी शादी नहीं हुई, और हमारी भी शादी नहीं हुई। प्रेयसी के गीत से हम जितना दूर रहें, उतना ही अच्छा

है। आखिर हम ठहरे आर्टिस्ट। हमारे सामने हमारा काम पड़ा है। इतना बड़ा काम कि एक जीवन में तो शायद यह पूरा न हो सके।"

"ताई तो हम बोलता बाबा, कि हम शादी नहीं माँगता। नोआखाली में रहता हमारा माँ। हमसे बोलता—बेटा विमल, हमारा जीवनकाल में तो तुम्हारा शादी होना परम आवश्यक। हम बोलता—माँ, ई काम तो आत्महत्या। आर्टिस्ट शादी करना नहीं माँगता, आर्टिस्ट पैर में बेड़ी नहीं माँगता, हाथ में हथकड़ी नहीं माँगता।"

उस दिन जलपान करते-करते विमल ने अपनी कहानी सुनील को आरम्भ से अन्त तक उतने ही रस से सुनाई जितने रस से सुनील ने उसे अपनी कहानी सुनाई थी। सुनील की आँखें चमक उठीं। कला के लिए विमल की साधना भी कुछ कम आश्चर्यजनक न थी। माँ के प्रति स्नेह, श्रद्धा और आस्था की नींव पर ही उसकी कला-साधना टिकी हुई थी, फिर भी इतना तो स्पष्ट था कि वह बनारस में था और उसकी माँ नोआखाली में; माँ को मिलने के लिए वह साल में एक आध बार ही जा सकता था।

सुनील ने उपयुक्त अवसर देखकर कहा, "शायद मैंने तुम्हें यह नहीं बताया था विमल बाबू, कि मेरी माँ आज से दस वर्ष पूर्व ही चल बसी थी और गाँव में पहुँचने पर पिताजी ने बताया—वह बेचारी मरते समय एक ही लालसा लेकर गई जो पूरी न हो सकी। उसकी यही इच्छा थी कि मरने से पहले एक बार तो अपने बेटे को देख ले।"

विमल की आँखों में आँसू आ गये और उसने रुँधी हुई आवाज में कहा, "ई बात तो शास्त्रसंगत कि माँ सब से महान तीर्थ। गंगा को भी तो गंगा मैया बोलता। हम से कोई भी रूठ जाय, हम बोलता एक हमारा माँ और हमारा जन्मभूमि हम पर कृपादृष्टि बनाये रखे, बाबा! इतने से ही हमारा मुक्ति होने सकता।"

इससे पूर्व कि सुनील कुछ कहता, विमल बड़ी लोचदार आवाज में गुन गुनाने लगा :

जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी!

सुनील ने पुलकित होकर कहना शुरू किया, "एक दिन मैं लाहौर से दीपाली के साथ अमृतसर का जलियाँवाला बाग देखने गया। हम ने वह कुआँ भी देखा जो जलियाँवाला बाग की घटना के दिनों में लाशों से पट गया था। ये लाशें उन लोगों की थीं जिन्हें डायर की गोलियों का निशाना बनना पड़ा था और ये लाशें हिन्दू-मुस्लिम और सभी की मिली-जुली लाशें थीं। उसी समय वहाँ एक युवक अपनी माँ के साथ आ पहुँचा और जब उसकी माँ ने पूछा कि बेटा कुएँ पर यह क्या लिखा है तो उसने पहले संस्कृत के इन शब्दों का उच्चारण किया—जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी, और फिर इन शब्दों का अर्थ समझाते हुए उसकी आवाज रुआँसी-सी हो उठी, जैसे वह इस अनुभव से लज्जित हो उठा हो कि उसने तो न अपनी जन्मभूमि की कुछ सेवा की और न वह अब तक किसी तरह अपनी जननी की ही कोई सेवा कर सका था। मुझे याद है विमल बाबू, कि उस लड़के की बातें सुनते समय दीपाली भी उदास नज़र आने लगी थी, जैसे उसे भी इस बात का ग़म सताने लगा हो कि उसकी माँ तो बनारस में है और वह लाहौर में अपनी चाची के पास रहती है सोलह साल की उम्र से ही!"

"ताई तो हम बोलता—जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी!"

विमल ने सुनील को ग़दर के दिनों की काशी की बहुत सी कहानियाँ सुनाईं जो उसने बनारस के बड़े-बूढ़ों से सुन रखी थीं। किस प्रकार बनारस के बाजारों में लोगों को सूली पर लटकाया गया था, किस प्रकार सरे आम लोगों को मौत की सजा देकर आस-पास की जनता को आतंकित किया गया था। काशी के बाजारों से गुजरते हुए सुनील यह देखने की चेष्टा करता कि सचमुच आज भी उस दुखद घटना की याद काशी की आँखों में आँसू ला सकती है या नहीं।

एक दिन दोनों मित्र रेलवे लाइन के पश्चिम में वह मस्जिद देखने गये जिसके साथ सन् सत्तावन के ग़दर की एक करुण गाथा जुड़ी हुई थी। यह मस्जिद एक बुढ़िया ने बनवाई थी और वह बुढ़िया भी उन लोगों में से थी

जिन्हें ग़दर में अंग्रेज़ों के हाथों मौत स्वीकार करनी पड़ी थी। उसका दोष इतना ही था कि वह अंग्रेज़ों की पिट्ठू बनने के लिए राज़ी न हुई। उस मस्जिद के साथ यह कहानी जुड़ी हुई थी कि रात के शान्त वातावरण में उस बुढ़िया का प्रेत कब्र में अपनी नींद त्याग कर मज़ार से बाहर आता है और अजब खिलनन्दड़ेपन से अपनी बनाई हुई इस मस्जिद की प्रशंसा में गाता है—'अल्ला तेरी महजिद अव्वल बनी !' H83/S25K

विमल जैसे अपनी कल्पना में उस बुढ़िया को अपने समीप देखते हुए कह उठा, "शे बुढ़िया कतो चमत्कार। उसकी गाथा कतो महान्, बाबा ! अंग्रेज़ बहादुर उससे बोला—तुम हमको पूरी-पूरी खबर देने सकता तो हम तुमको छोड़ने सकता, नहीं तो हमारा गोली तुम्हारा छाती से पार होना माँगता। बुढ़िया बोला—हम अपनी मौत से नहीं डरता। अंग्रेज़ बोला—तो तैयार हो जाओ। अंग्रेज़ ने स्वयं ई सब हाल लिखा है, बाबा !" GH2356

विमल ने बड़ी तफसील से सुनील को वह सब हाल सुनाया जो उसने एक अंग्रेज़ की पुस्तक में पढ़ा था। भोर के छः बजे बुढ़िया को गोली से उड़ा दिया गया था। उस अंग्रेज़ ने तो ईमानदारी से यहाँ तक स्वीकार किया था कि उस बुढ़िया में और झाँसी की रानी में अधिक अन्तर नहीं रहा। जब ग़दर में बनारस के अंग्रेज़ अफ़सर नावों पर चढ़कर गंगा के रास्ते जान बचाकर भागे, तो काशी नरेश ने अपने किले के पास इन नौकाओं को डुबो दिया, चाहे इसका प्रमाण न मिल सकने के कारण काशी नरेश को फाँसी नहीं दी जा सकी थी। वह बुढ़िया एक अंग्रेज़ आफिसर के बच्चों की आया थी, और उस घटना के समय वह अंग्रेज बच्चों को लिये हुए एक नौका में बैठी थी। जब नौकाएँ डुबोई गईं तो बुढ़िया तैरकर बच गई। बहुत से अंग्रेज़ों ने भी तैरकर बच जाना चाहा, पर उन पर गोलियाँ चलाई गईं। वह बुढ़िया सब अपनी आँखों से देख रही थी। उसे सब मालूम था कि गोली चलाने का आर्डर किसने दिया। लेकिन जब उसे पकड़कर पेश किया गया, तो उसने साफ़ झूट बोल दिया—मैं कुछ नहीं जानती कि किसने गोली चलाई और किसके आर्डर से चलाई।

बुढ़िया से कहा गया कि वह जो कुछ जानती है साफ़-साफ़ बता दे। उसने साफ-साफ कह दिया—मै अपने वतन पर निसार होने को तैयार हूँ, वतन के दुश्मन की मैं बिलकुल मदद नहीं कर सकती! जब अगले दिन सुबह छः बजे उस बुढ़िया को गोली मारने का आर्डर दे दिया गया, तो उससे यह भी कहा गया—बुढ़िया, तुम्हारा 'लास्ट डिजायर' क्या है? लास्ट डिजायर का मतलब जब बुढ़िया को समझाया गया तो उस ने बस एक ही बोल मुँह से निकाला—मरने के बाद मुझे उसी कबर में दफ़नाया जाय जो मैंने अपनी बनवाई हुई मसजिद के अन्दर पहले से बनवा रखी है। बुढ़िया की बात किसी की समझ में न आई, तो उन ने साफ-साफ कहा—मैंने यह मस्जिद अल्लाह पाक की मुहब्बत के नाम पर बनवाई, लेकिन जब मस्जिद बनकर खड़ी हो गई तो नमाज पढ़ने के लिए आने वाले लोगों को रोक कर मुल्ला ने यह फ़तवा दिया कि यह मस्जिद एक कसबी की बनवाई हुई है और कसब की कमाई से खड़ी की गई मस्जिद में नमाज पढ़ना हराम है। अब मैं कहती हूँ कि दो-चार रोज मुझे अभी और जी लेने दो। बस मुझे जुमेरात की नमाज पढ़ लेने दो। जुमेरात को ईद है। मैं अपनी मस्जिद में ईद की नमाज पढूँगी और रतजगा करूँगी। जुम्मे के दिन सुबह छः बजे बड़े शौक से मुझे गोली से उड़ा देना और खुदा के वास्ते मुझे उसी कबर में दफ़नाना जो इस मस्जिद के अन्दर मैं पहले ही बनवा चुकी हूँ। अंग्रेज ने अपना आर्डर वापस न लिया। ईद से पहले ही बुढ़िया को गोली मार दी गई। जब उसे छः बजे से जरा पहले ही तैयार करके गोली का निशाना बनने के लिए खड़ा किया गया, तो वह गा रही थी—'अल्ला तेरी महजिद अव्वल बनी!' बीच-बीच में वह जोर देकर कहने लगी—चाहे जितना जोर लगा लो, मुझे गोली से उड़ा दो, ले किनअल्ला पाक के हुकुम से ईद की नमाज तो मैं अपनी मस्जिद में जरूर पढूँगी। और वही हुआ जो बुढ़िया कहती थी। ईद के दिन उस मस्जिद में आज भी बुढ़िया अपनी कबर से निकल कर नमाज पढ़ने के लिए चल पड़ती है, और अजब मस्ती से गाती है—'अल्ला तेरी महजिद अव्वल बनी!"

"तुमको विश्वास तो नहीं आने सकता, सुनील बाबू !" विमल ने विश्वासपूर्वक कहा, "हम अपनी आँख से देखने सक्ता, बाबा ! ई बात मिथ्या नहीं कि बुढ़िया अपनी कबर से निकलकर अपनी मस्जिद में ईद क. नमाज पढ़ने की इच्छुक ! कभी-कभी तो आमार मन बोलता कि आमार सर्वोत्तम पेंटिंग उसी बुढ़िया का पेंटिंग होने सकता।"

विमल की बातें सुनते-सुनते कई बार सुनील बुरी तरह उकता जाता। कई बार उसे लगता कि विमल जैसा मस्त मलंग आदमी ही सच्चा कलाकार हो सकता है।



७

मीना का विवाह हुए कई दिन हो गये थे, लेकिन नगवा वालों को जैसे इसकी लाग लग गई हो। घर-घर माताओं को अपनी लड़कियों के हाथ पीले करने की धुन सवार हो गई। वही कपड़ों, जेवरों और मिठाइयों की बातें, ढोल-ढमक्के, बाजे-गाजे और शहनाइयों की बातें, जैसे विवाह का प्रसंग ही सब से अधिक महत्त्वपूर्ण हो। बड़ी-बूढ़ियाँ हमेशा यही परामर्श देतीं कि दूर क्यों जाते हो, यूनिवर्सिटी में तो लड़के ही लड़के भरे पड़े हैं।

मीना की पहली चिट्ठी की सबको प्रतीक्षा थी। दीपाली इसके लिए अपनी माँ से भी कहीं अधिक उत्सुक थी। कभी टेलीफोन पर मीना की कोई सहेली मीना की चिट्ठी के सम्बन्ध में पूछताछ करती तो दीपाली के सम्मुख यह प्रसंग उसी प्रकार उभरता, जैसे नगर के क्षितिज पर ताजे समाचार की सुर्खी सिर उठाती है।

दीपाली चाहती थी कि मीना की चिट्ठी में अच्छा-सा समाचार पढ़ने को मिले। वैसे उसके लिए यह कल्पना करना सहज था कि मीना अपनी चिट्ठी में क्या समाचार भेज सकती है—यहाँ सब आनन्द है, कोई कष्ट नहीं। सास-ननद का स्नेह प्राप्त है। इंजीनियर साहब प्रतिदिन मुझे घुमाने ले जाते हैं। वे तो मुझे उदास देखना ही नहीं चाहते। उनकी जेब मेरे लिए है। साड़ी के साथ साड़ी, गहने के साथ गहना। रूज पाउडर, लिपस्टिक—सब चले आ रहे हैं। मैं हूँ कि मुझे मेक अप एक आँख नहीं भाता।

सोचती हूँ जैसी हूँ, बस ठीक हूँ। फिर भी हाथ कुछ बन्ध-से गये हैं, पैर कुछ जकड़े-से गये हैं, जैसे कोई मुझे अपने संकेत पर नचा रहा हो। सोचती हूँ, यह सब क्या है ?····यहाँ पहुँचते ही दीपाली की कल्पना में एक झटका-सा लगता, जैसे वह कहना चाहती हो—यही बात थी मीना, तो तू विवाह के लिए राजी ही क्यों हुई ? अब शिकायत करती है कि हाथ बँध गये, पैर जकड़े गये। अब तो इसी में मज़ा लो। जन्म-जन्म की कठपुतली ! क्या नारी का यही रूप वांछनीय है ? उत्तरदायित्व की बात की जाती है। गृहस्थी का सरगम छेड़ा जाता है। सोने में पीली, माँग में सिन्दूर, गोदी में लाल। धन्य है नारी तेरा यह रूप ! नाच ले, शौक से नाच ले। पुरुष का संकेत तेरे लिए अन्तिम आदेश है। अब शिकायत मत कर, कठपुतली ! ····दीपाली सावधान होकर बैठ जाती और अपने सम्मुख अपने भावी जीवन की रूपरेखा अंकित करने लगती।

कभी कोई पड़ोसिन कहती, "नगवा की तो सभी लड़कियों को अच्छे घर-बार मिले हैं, दीपाली पर भी भगवान् कृपा करेंगे।" पास से दीपाली की माँ कह उठती, "हाँ बहन, दीपाली पर क्यों नहीं कृपा करेंगे, भगवान् ! दीपाली का विवाह होगा तो लाहौर से दीपाली के चाचा-चाची भी ज़रूर आयेंगे। आना तो उनको मीना के विवाह पर भी चाहिए था, पर दूर का मामला ठहरा। आने का वचन देकर भी आ नहीं पाये।" पड़ोसिन हँसकर प्रसंग आगे बढ़ाती, "छोटी बहन के लिए रेलवे इंजीनियर मिला, तो बड़ी बहन के लिए तो कमाण्डर-इन-चीफ़ मिलना चाहिए।" माँ उत्तर में गद्-गद होकर कहती, "सब हाथ की रेखा का खेल है, बहन ! मैं कहती हूँ कि हाथ की रेखा सब से बलवान होती है। अब मीना की रेखा दीपाली की रेखा से अधिक तेज़ दौड़ेगी, यह कौन जानता था। कमाण्डर-इन-चीफ़ नहीं मिलेगा बहन, तो अस्पताल का डाक्टर तो कहीं नहीं गया।" पड़ोसिन पलटकर कहती, "डाक्टरों की तो कोई कमी नहीं बहन, पर तेरी दीपाली तो किसी कमाण्डर-इन-चीफ़ के ही योग्य है !"

कभी ऐसा भी होता कि दीपाली ऊपर से आ जाती। कमाण्डर-इन-

चीफ़ का प्रसंग सुनकर उसकी भृकुटी तन जाती—मुझे कोई क्या कमाण्ड करेगा ? मैं तो स्वयं अपनी कमाण्डर हूँ। उसका भविष्य उसके सम्मुख यों उभरता जैसे रात-की-रात में मौसम बदल जाय। नहीं, नहीं, मेरे लिए कोई बन्धन वांछनीय नहीं, मैं तो पथगामिनी हूँ। किसी एक पड़ाव पर रुक जाना मुझे सह्य नहीं। फिर उसे माँ के शब्द याद आते—'दीपाली तो जन्म-जन्म की अनमोड़ है !' अच्छा माँ, मैं अनमोड़ ही भली। कोई प्रसन्न हो चाहे रुष्ट, मेरी विचारधारा तो मेरी है। इसमें किसी का दख़ल नहीं, ज़ोर जबरदस्ती नहीं ! कोई मेरे हाथ पीले करे ? छिः, छिः ! मेरे लिए सिन्दूर सस्ता हो जाय ! छिः छिः ! मैं तो अपने पथ की टेर सुन रही हूँ। लाहौर ज़िन्दाबाद ! लाहौर मुझे बुला रहा है। लाहौर में ज़ीनत है—मेरी सब से बड़ी सहेली। बस चलते तो उसे भी मैं अपने साथ चलाऊँगी। पहले तो ज़ीनत मेरी बातें सुनकर झुँझला उठती थी, अब तो मेरी बात उसकी समझ में आ गई है····ज़ीनत का ध्यान आते ही दीपाली लाहौर लौटने का प्रोग्राम बनाने लगती।

बनारस में उसका जन्म हुआ था। यहीं उसने आरम्भिक जीवन के सोलह वर्ष गुज़ारे। लाहौर में गये तो उसे छः साल ही हुए हैं। वहीं उसकी एम० ए० की पढ़ाई समाप्त हुई। अब वह पी-एच० डी० तो कर के ही छोड़ेगी, कुछ तो बनकर दिखायेगी। दुनिया भी क्या याद करेगी कि किसी दीपाली का जन्म हुआ था। तुम्हारे भी दो पैर हैं, दो हाथ हैं, दो आँखें हैं, जैसे दूसरी लड़कियों के हैं। लेकिन दीपाली, तेरी बुद्धि तो निराली है, तेरी प्रतिभा तो विचित्र है, दुनिया को तुझ से बड़ी-बड़ी आशाएँ हैं। अरे, तुम तो बनारस के चप्पे-चप्पे से परिचित हो, बनारस का रोम-रोम पहचानती हो। बनारस के मन्दिर, बनारस के घाट, बाहर से आये हुए यात्री, नगवा से सटी हुई यूनिवर्सिटी, पर इन में से जैसे किसी के साथ भी तेरे मन का मेल न हो। अरे, तेरे पिताजी बनारस में काग़ज़ के व्यापारी हैं, जैसे तेरे चाचाजी लाहौर में काग़ज़ का धन्धा करते हैं। पिताजी का कारोबार चाचाजी से बड़ा ही सही, पर मुझे तो बनारस में रहना एकदम

नापसन्द है। बनारस की साड़ियाँ तो लाहौर में भी पहुँच ही जाती हैं। यहाँ की गंगा बड़ी ही सही, पर वहाँ हमारी रावी भी तो बहुत छोटी नहीं। ले-देकर एक सारनाथ रह जाता है जिसके सामने अवश्य नतमस्तक होना पड़ता है।

पिताजी के बार-बार अनुरोध करने पर दीपाली एक-एक मन्दिर में घूम आई, एक-एक घाट देख आई, दक्षिण और उत्तर भारत के विभिन्न प्रान्तों के यात्रियों की मुखमुद्रा उसे छू-छू गई। पर वह तो जैसे अपने को इन सब आकर्षणों से बचाकर रखती आई थी।

सुनील और विमल बाबू के साथ बनारस के बहुत से स्थानों पर घूमने गई। बनारस ने जैसे अब के पुलकित होकर उसे आशीर्वाद दिया, गंगा ने जैसे अपनी अजस्र धारा द्वारा उसे एक नया ही जीवन-प्रवाह दे डाला। काशी की सात्विक निष्ठा के प्रति तो उसकी आस्था में कोई कमी न थी। यहाँ की सँकरी गलियाँ जैसे हर मोड़ पर अपनी बाँहें फैलाकर कहतीं—यहाँ तो लोग बाहर से आते हैं, एक तुम हो कि यहीं तुम्हारा जन्म हुआ, फिर भी तुम पर लाहौर जाने की धुन सवार है।

काशी अपनी कल्पना-तूलिका द्वारा दीपाली के सम्मुख एक नया ही चित्र प्रस्तुत कर देती, जिसमें एक शुचिता होती, एक परम्परागत सरसता, एक मंगल-कामना! गाती मुस्कराती काशी जैसे उसकी राह रोक लेती। कई बार तो उसे रोमांच-सा हो आता। लेकिन घर लौटने पर जैसे वह इसी परिणाम पर पहुँचती कि वह काशी के लिए नहीं है, उसका जीवन तो अब लाहौर में ही अग्रसर होगा।

एक दिन दीपाली सारनाथ की यात्रा पर निकली, साथ में सुनील और विमल भी थे। वे सारनाथ पहुँचे तो दोपहर ढल रही थी।

दीपाली ने सुनील का ध्यान आकर्षित करते हुए कहा, "यही वह स्थान है सुनील, जहाँ भगवान् बुद्ध ने पहला उपदेश दिया था।"

"और यहीं हम लोग दीपाली देवी से अपने जीवन का सब से पहला उपदेश सुनना चाहते हैं!" सुनील मुस्कराया।

"तो कान खोलकर सुनो !" दीपाली ने हँसकर कहा, "कोई भी बन्धन मत स्वीकार करो, कोई हथकड़ी, कोई बेड़ी मानव के लिए नहीं है।"

विमल की मुखमुद्रा पर दीपाली ने अपने ही मन में भाव अंकित होते देखे। गम्भीर होकर बोली, "जीवन की गति तो अबाध ही रहनी चाहिए, विमल बाबू ! अब आप ठहरे आर्स्टिट। आर्टिस्ट तो अपनी कला-चेतना द्वारा विश्व को मुक्त करने का प्रयास करता है। वह स्वयं ही बँध जाय तो निश्चय ही अपने पथ से भटक जायगा।"

"हम बोलता बाबा, सुनील भी तो आर्टिस्ट !" विमल ने हँसकर कहा, "हम तो अपने पथ पर आरूढ़ रहने सकता, दीपाली देवी ! आमार तो कोनो चिन्ता नाई। विवाह का प्रसंग हमको स्पर्श नाई करने सकता। सुनील को भी हम शेई कथा बोलने सकता कि देखो बाबा, तुम भी आमार अनुकरण करो, कला में विश्वास राखो।"

सुनील उत्तर में मुस्कराता रहा। दीपाली देर तक विमल बाबू के विचार का समर्थन करती रही।

पहले उन्होंने सारनाथ का म्यूजियम देखा। वहाँ सारनाथ की खुदाई से निकली हुई चीजें सजाकर रखी गई थीं। एक-एक वस्तु पर बौद्ध धर्म की छाप थी, एक-एक वस्तु यात्रियों के मन को अतीत की ओर मोड़ देती थी। सुनील बार-बार दीपाली की ओर देखने लगता। वह यह जान लेना चाहता था कि दीपाली के मन पर इन चीजों की क्या प्रतिक्रिया हो रही है। सहसा विमल कह उठा "ई सब आमार अतीत। बाबा, अतीत की नींव पर वर्तमान का निर्माण होने सकता।"

दीपाली बोली, "अतीत नहीं चहिए, मुझे तो वर्तमान चहिए, विमल बाबू ! यह कला तो बहुत पहले की है। देखना तो यह है कि हम आज किस धरातल पर खड़े हैं और भविष्य के लिए हम क्या स्वप्न देख रहे हैं।"

"मुझे तो अतीत और वर्तमान के बीच बहुत बड़ी खाई नजर आती है," सुनील मुस्कराया।

"चलो अब बाहर की हवा का मजा लिया जाय !" दीपाली दरवाजे

की ओर लपकी।

म्यूज़ियम से निकलकर वे नया बौद्ध मन्दिर देखने गये। इसके निर्माण पर लाखों रुपये खर्च किये गये थे और इसके भीतर की दीवारों पर भगवान् बुद्ध की जीवन-घटनाएँ चित्रों में अंकित की गई थीं।

विमल बाबू ने गम्भीर होकर कहा, "ई सब आधुनिक जापानी तूलिका का चमत्कार, अतीत और वर्तमान का अद्‌भुत संगम।"

"वह कैसे, विमल बाबू?" दीपाली मुस्कराई।

"वह ई प्रकार कि अतीत को एक रकम वर्तमान ही अंकित करने सकता। हम बोलता कि यह वर्तमान का उत्तरदायित्व कि मात्र भविष्य की ओर न देखकर अतीत की ओर भी दृष्टिपात करे। अतीत ही हमारा बीज। हम बोलता, अंकुर का यह धर्म परम आवश्यक कि बीज की स्थिति का भी स्मरण रखे।"

"निस्सन्देह!" दीपाली ने प्रशंसासूचक दृष्टि से विमल बाबू की ओर देखा, "अब चलकर खण्डहर देखे जायँ।"

बाहर आकर वे खण्डहरों की ओर चल पड़े। कुछ तो ज़मीन खोदकर निकाले जा चुके थे, कुछ की खुदाई अभी बाकी थी। वहाँ एक दस-बारह वर्ष का छोकरा आकर उनका गाइड बन गया। उसने अपनी कमेन्ट्री तोते की तरह रट रखी थी।

विमल बाबू नन्हे गाइड की कमेन्ट्री पर झुंझला रहे थे। उन्हें इस बात पर क्रोध आ रहा था कि उस छोकरे ने उनका काम क्यों छीन लिया। सुनील न खुश था न नाराज़। वह जानता था कि ऐसे अवसरों पर किसी-न-किसी का रिकार्ड तो अवश्य शुरू हो जाता है। दीपाली बोली, "मुझे तो यह देखकर आश्चर्य हो रहा है कि इस आयु में, जबकि एक बालक को पढ़ने-लिखने और खेलने से ही अवकाश नहीं होना चाहिए, इस बेचारे को गाइड का काम करके घर चलाने की फ़िक्र करनी पड़ती है।"

सुनील ने कुछ उत्तर न दिया। विमल बोला, "तो तुम स्कूल क्यों नहीं जाता, खोका?"

नन्हा गाइड पहले तो चुप हो गया, फिर दीपाली के पूछने पर उसने साफ़-साफ़ बताया कि उसके दो भाई हैं और एक बहन, और तीनों ही उससे छोटे हैं। बाप जन्म का अन्धा है, और मां काफ़ी अरसे से बीमार। उसने यह भी बता दिया कि उसके बहन-भाइयों के मारे माँ परेशान रहती है, और ले-देकर माँ का एक मात्र सहारा वही है।

सारनाथ के बारे में कुछ कहते-कहते नन्हें गाइड ने अपनी कमेन्ट्री में घर की बातें छेड़ दी। विमल बाबू ने झुँझलाकर कहा, "हम तुम्हारा घर का बात तो नहीं सुनने सकता, खोका! तुम हमको सारनाथ का बात बोलो, चाहे मिथ्या ही बोलो।"

"बेचारे को कह लेने दो अपनी बात, विमल बाबू!" दीपाली ने गम्भीर होकर कहा, "इसकी बातों में भी तो अतीत और वर्तमान का मेल हो रहा है।" और फिर उसने सुनील को सम्बोधित करते हुए कहा, "इस लड़के को भी जानने की कोशिश करो, सुनील! सारनाथ के किसी भी खण्डहर से इस लड़के का महत्त्व कम नहीं, क्योंकि यह वर्तमान का प्रतीक है। तुम इसे अवश्य किसी ड्रामे का जीता-जागता पात्र बना सकते हो। वर्तमान की ओर से आँखें बन्द करके अतीत में झाँकना व्यर्थ है। वर्तमान तो सूर्य की तरह है जो हर रोज़ उदय होता है, और अस्त भी होता है तो दूसरे दिन उदय होने के लिए।"

सुनील ने नन्हे गाइड की पीठ पर हाथ फेरते हुए कहा, "दिन में कितने पैसे बन जाते हैं?"

"बाबू साहब, आप ही हमारी जमीन। आप ही हमारी खेती, बाबू साहब!" नन्हे गाइड ने हँसकर कहा, "आप तो राजा लोग। आप न आयें तो हमारे घर चूल्हा भी न जले!"

"ध्यान से सुनो, सुनील!" दीपाली ने कहा, "यह किसी खण्डहर की आवाज़ नहीं है। यह तो युग-सत्य बोल रहा है। इसी में भविष्य की आवाज़ मिली हुई है।"

नन्हा गाइड इन विचित्र टूरिस्टों की पेचदार बातें समझ नहीं रहा था।

विमल ने हँसकर कहा, "तुम्हारा चमत्कार कमेन्ट्री खत्म हो गया, खोका ! सारनाथ से कहीं अधिक तो तुमने घर का कमेन्ट्री सुनाया। देखो, हम लोग तुमको आधा मजदूरी देने सकता। बोलो तुम एक चवन्नी में राजी होने सकता, खोका ?"

नन्हे गाइड के कुछ कहने से पहले ही दीपाली ने अपने पर्स से एक अठन्नी निकालकर उसकी ओर बढ़ाई। इसे हाथ में लेकर नन्हा गाइड बोला, "आज सबेरे से पहली ही अठन्नी हाथ लगी है, बीबीजी ! घर जाने पर माँ मुझको पीटेगी !" नन्हे गाइड के स्वर में बड़ी दीनता थी, "रानी बीबीजी, अपनी अठन्नी भी रख लो आप ही !" और अठन्नी फेंक कर वह चला गया।

नन्हे गाइड ने पीछे मुड़कर न देखा। विमल बाबू ने कहा, "हम बोलता, इसमें भी खोका का कोई चालाकी होने सकता !"

"हमें उसके घर पर जाना होगा, विमल बाबू !" दीपाली के स्वर में वेदना काँप रही थी, "तुम्हारा क्या विचार है, सुनील ?" और फिर उसने अपने पर्स से एक रुपये का नोट निकालकर सुनील को देते हुए कहा, "जाओ, यह नोट उस छोकरे को दे आओ।"

सुनील बोला, "क्यों न हम सब चलकर उस छोकरे को ढूँढें। यह छोकरा तो सचमुच मेरे किसी ड्रामे का पात्र हो सकता है।"

"खाली कल्पना से तो तूलिका का काम भी नहीं चलने सकता !" विमल बाबू ने हँसकर कहा, " हम ई खोका का सत्य कथा को मिथ्या समझने का पाप नहीं लेना माँगता !"

कदम बढ़ाकर वे उधर को चल दिये जिधर वह छोकरा गया था। बड़ी मुश्किल से उन्होंने उसका घर ढूँढ निकाला। उसका पिता सचमुच एक सूरदास था। माँ खटिया से चिपकी हुई थी। कदमों की चाप सुनकर सूरदास बोला, "आ गये, बेटा ? क्यों कुछ मिला ?" सूरदास की आवाज में एक कसक थी।

"किसको पूछ रहे हो, बाबा ?" दीपाली ने पास जाकर कहा, "यह लो

एक नोट ! यह तुम्हारें बेटे की कमाई है, बाबा !"

"कैसी कमाई ?"

"उसने हमें सारनाथ के खण्डहर दिखाये, बाबा ! यह उसी की मज़दूरी है। इसे रख लो।"

"वह कहाँ रह गया ?"

तीनों साथी हतप्रभ-से खड़े थे। इतने में अन्धकार की चादर उलट कर छोकरा वहाँ आ निकला और माँ के पास जाकर बोला, "माँ, आज तो ठनठन गोपाल है !"

"क्यों झूठ बोलता है रे ?" माँ ने क्रुद्ध होकर कहा, "तो खाओगे अपना सिर !" सूरदास ने माँ-बेटे की बीतचीत सुनकर कहा," इसे कुछ न कह, मुरली की माँ ! मुरली की कमाई तो मेरी मुट्ठी में है।"

माँ ने गदगद कंठ से कहा, "तो यह यों ही कह रहा था कि आज ठनठन गोपाल है !"

तीनों साथी बिना कुछ कहे-सुने चले आये। आकाश पर तारों का झुरमुट था। दीवाली बोली, "अतीत बहुत पुराना तो नहीं। भगवान् बुद्ध ने यहाँ बैठकर पहला उपदेश दिया था। वह उपदेश किसी पुस्तक में अवश्य मिल सकता होगा। मुझे तो लगता है कि यह कल ही की बात है !"

"अब तो तोमार प्रथम चमत्कार उपदेश सुनना माँगता, दीपाली देवी !" विमल की आवाज़ में बड़ी उत्सुकता थी।

सुनील बोला, "जिस गज़ से अतीत को नापते हैं, उसी गज से वर्तमान को नापना होगा। अतीत के गज़ को इतना छोटा मत बनाओ। भगवान् बुद्ध की बात को कल की बात बताओगी दीपाली, तो फिर तुम यह भी कहने लगोगी कि अभी कल की बात है कि हमारे खेतों में पहली बार कपास उगी थी, अभी कल की बात है कि गाँव में किसी तरखान ने पहली बार चरखा बनाकर लोगों को चकित कर दिया था।"

दीपाली कुछ न बोली। विमल ने हँसकर कहा, "हम बोलता बाबा, अतीत एकेबारे व्यर्थ, यदि वर्तमान का आँचल आमार हाथ में नहीं रहने

सकता। वर्तमान को भविष्य डाकता ! अब तो भूख भी लग गया। पेट भी भात माँगता बाबा, जैसे आमार तूलिका रंग माँगता !"

"विमल बाबू का उपदेश तो हो लिया, दीपाली ! अब हम तुम्हारा प्रथम उपदेश ध्यान से सुनेंगे !" सुनील ने कार की तरफ़ तेज़-तेज़ डग भरते हुए कहा।

दीपाली अगली सीट पर बैठ गई। विमल और सुनील आराम से पिछली सीट पर बैठ गये।

कार चली तो सुनील ने अपनी बात दोहराई, "अब हम तुम्हारा प्रथम उपदेश सुनेंगे, दीपाली !"

दीपाली मौन रही। विमल बाबू ने बात का रुख बदलते हुए कहा, "नोआखली से गत वर्ष आमार माँ काशी में गंगा-स्नान को आया, बाबा ! हम उसे सारनाथ भी लाया। माँ बोला—विमल बेटा, हम मृत्यु से पूर्व अपने विमल का पाणिग्रहण उर्वशी समान सुन्दरी से होते देखने के लिए अति उत्सुक ! हम बोला—माँ, ई सब हम को स्वीकार नाई। हम यशोधरा को शयनकक्ष में छोड़कर गृहत्याग करने का पक्ष नाई मानने सकता !"

सुनील ने ताली बजाकर कहा, "हियर ! हियर !"



८

कई दिन से डाकिया दीपाली के घर के सामने आकर नहीं रुका था। तीन-चार दिन से तो डाकिये को इस मोहल्ले का मार्ग ही भूल गया था। गली की नुक्कड़ पर खड़ी होकर मोहल्ले वालियाँ आपस में बातें करती, तो कहीं बीच से मीना का नाम भी गेंद की तरह उछलता। यह सोचकर कि मीना तो ससुराल जाकर नगवा को भूल गई, मुहल्ले वालियों के सिर झुक जाते।

एक दिन दूर से डाकिया इस मोहल्ले की ओर आता दिखाई दिया। दोपहर ढल रही थी। डाकिया अपनी मस्ताना चाल से आ रहा था। पीछे-पीछे गली की लड़कियाँ और स्त्रियाँ चल पड़ीं। डाकिया दीपाली के मकान पर आकर रुका। सबकी ज़बान पर बस एक ही बोल था—मीना की चिट्ठी आई है!

दीपाली की माँ ने बाहर निकलकर डाकिये के हाथ से चिट्ठी ले ली। उसने चिट्ठी को गले से लगाया, जैसे सचमुच मीना आ पहुँची हो।

लड़कियों और स्त्रियों ने दीपाली की माँ को बधाई दी। डाकिया स्तब्ध-सा होकर यह दृश्य देखता रहा।

लपककर दीपाली भी बाहर आई। उसने चकित होकर यह दृश्य देखा। माँ के हाथ से चिट्ठी दीपाली के हाथ में आ गई। दीपाली ने भी इसे प्यार से चूमकर गले से लगा लिया, जैसे वह छोटी बहन के गले मिल रही हो।

दीपाली की माँ ने डाकिये से कहा, "भैया, आगे चिट्ठियाँ दे आओ लौटते हुए ज़रा इधर होकर जाना !"

दीपाली भागकर भीतर चली गई और कुछ क्षणों, पश्चात् बाहर आकर बोली, "माँ, मैंने फोन पर पिता जी को सूचना दे दी कि मीना की चिट्ठी आ गई।"

भीतर आकर दीपाली की माँ ने मोहल्ले वालियों को भड़े प्रेम से बिठाया। बुलबुल की तरह चहककर कंचन बोली, "चाचीजी, चिट्ठी मैं खोलूँगी।"

दीपाली ने माँ के हाथ से चिट्ठी ले ली। वह चिट्ठी खोलकर पढ़ने लगी। सबकी आँखें उसी पर थीं, जैसे बहुत बड़ा समाचार सुनने को मिलने वाला हो।

दीपाली की माँ ने तश्तरियों में मिठाइयाँ और फल सजाकर रख दिये। चाय आने में भी देर न लगी। कंचन हँसकर बोली, "तो यह सब तैयारी पहले से ही कर रखी थी, चाचीजी ?"

दीपाली ने पहला कप तैयार किया तो उसकी निगाह डाकिये पर पड़ी जो दोबारा आ पहुँचा था।

सबके देखते-देखते दीपाली ने एक हाथ में चाय का कप लिया और दूसरे हाथ में लड्डू। वह बरामदे को पार करके डाकिये के पास जा पहुँची और बोली, "सबसे पहला हिस्सा तो तुम्हारा ही होना चाहिए।"

फिर दीपाली गद्-गद् कंठ से चिट्ठी पढ़कर सुनाने लगी :

"प्रिय दीदी, तुम सोच रही होगी कि तुम्हारी मीना पिंजरे की मैना बन गई। बात कुछ ऐसी नहीं है। विवाह से पहले मैंने कभी भूलकर भी न सोचा था कि एक नया संसार मेरी प्रतीक्षा कर रहा है। शायद मैं एक सपना देख रही हूँ। मैं स्वयं ही इस सपने की गुड़िया हूँ। पर गुड़िया होकर भी तो मैं नारी हूँ ! इसे मेरी आत्मवंचना कहकर उपहास भले ही करना, पर कठपुतली कहकर मेरा निरादर न करना।

"क्षमा करना, दीदी ! मैं पहले न लिख सकी। वैसे लिखने को तो पहले

भी लिख सकती थी, पर सोचा कि इस जीवन को पहले थोड़ा देख लूँ और समझ लूँ, फिर लिखूँ अनुभव की बात। अब जब मैं यह पत्र लिख रही हूँ, मुझे लगता है कि मेरा कर्त्तव्य मेरे सम्मुख है, अधिकार मेरे हाथ में है। विवाहित जीवन में रोमांस भले ही न रहे, पर जिस धरातल पर पति-पत्नी अपना उत्तरदायित्व सँभालते हैं, उसकी तुम कल्पना भी न कर सकोगी। वह किसी ने कहा है न दीदी, कि जीवन तो जीकर देखने की चीज है, जीवन तो बहता नीर है। परन्तु बहते नीर के भी तो दो किनारे होते हैं!

"मन की बहुत-सी गाँठें खुल रही हैं, खुलती ही जा रही हैं। जीवन का एक-एक क्षण द्वार की तरह खुलता है, मन विभोर हो उठता है; अपरिचित परिचित बनते हैं, सादियों का अन्तर दूर होता है, दो मन समीप आते हैं!

"ये बातें यों कभी शेष न होंगी। एक बात कहूँ, दीदी! लाहौर जाने से पूर्व गंगा में दीपदान करने अवश्य जाना, कंचन को साथ ले जाना। एक दीप मेरे नाम पर भी गंगा में प्रवाहित कर दोगी तो सचमुच मुझे सन्तोष होगा!

"लाहौर जाते हुए एक रात के लिए ही सही, दिल्ली अवश्य रुकना। आशा है सभी मुझे याद करते होंगे।

तुम्हारी
मीना

पुनश्च—

"दिल्ली उतरकर हमें मिलने की बात याद रखना, दीदी! बहुत-सी बातें मिलकर बताने की हैं, पत्र में तो प्रत्येक बात कैसे लिख सकती हूँ? तुम्हारे जीजा जी का तबादला दिल्ली का हो गया, मुग़लसराय से हमें यहाँ पहुँचे बहुत दिन तो नहीं हुए। इति—मीना!"

दीपाली की माँ ने कंचन की माँ को सम्बोधित करते हुए कहा, "मैं तो उस दिन की बाट जोह रही हूँ बहन, जब मेरी दीपाली का भी ऐसा

ही पत्र आयेगा।"

कंचन की माँ हँसकर बोली, "पहले दीपाली का ब्याह तो हो जाने दो, फिर पत्र भी आ जायगा।"

"दीपाली के ब्याह में अब कौन सी सदियाँ लगेंगी, बहन! सारी बात तो लड़का मिलने की है।"

"यूनिवर्सिटी में लड़कों की क्या कमी है?"

"तुम्हारी शुभ इच्छा से मिल ही जायगा कोई अच्छा-सा लड़का।"

"पहले दीपाली से भी तो हाँ करा लो।"

दीपाली थी कि इस विषय में कुछ भी सुनना न चाहती थी। उसने कंचन का हाथ पकड़कर उसे उठा लिया और दोनों सहेलियाँ गली में भाग गईं।

कंचन बोली, "अब तो तुम्हारे हाथ भी पीले किये जाने में देर नहीं मालूम होती, दीपाली!"

"चुप, पगली!" दीपाली में उसके दोपट्टे का आँचल खींचते हुए कहा, "तुम्हारी यह रट कभी बन्द भी होगी!"



९

सूर्यास्त के पश्चात् रात्रि का आँचल फैलता चला छुया। गंगाघाट पर कुलवधुओं और युवतियों के हाथों संजोये जाने वाले नन्हे-नन्हे दीये आकाश के तारों से होड़ लेने के लिए जगमग-जगमग कर उठे। प्रतिदिन तो नहीं आता यह दीपदान का आह्लादमय त्यौहार। फूस के नन्हें-नन्हें पूलों पर रखकर पाँच-पाँच, सात-सात दीये गंगा की धारा में प्रवाहित किये जा रहे थे, जैसे प्रवहमान काल-स्रोत में आशा के ये प्रतीक कहीं सुदूर यात्रा पर भेजे जा रहे हों। जीवन में जो सुन्दर और मधुर है, जो आनन्द रूप और मंगलमय है, उसकी ओर संकेत कर रहे थे ये नन्हे-नन्हे दीये, जिन्हें गंगा की अजस्र धारा बहाये लिये जा रही थी। पुरुष के प्रति नारी की आदि-काल से चली आ रही यह अटूट हित-साधना! असंख्य दीये अब तक बहाये जा चुके थे और असंख्य अभी बहाये जाने वाले थे। यह हिसाब कभी बही में नहीं लिखा गया। किसने सर्वप्रथम दीप संजोकर प्रवाहित किया, कौन सबके पश्चात् अपना दीया प्रवाहित करने के लिए गंगाघाट पर पहुँची, इसका लेखा-जोखा सदा उपेक्षित रहा। किसने धीमी मुस्कान के साथ अपना दीया प्रवाहित किया, और स्नेह की प्रतिमा बन गई, किसने अपना दीया बहाते समय मात्र नाटकीय ढंग का प्रयोग किया, पलक मारते ही कौन यह सब समझ सका।

दीपाली और कंचन दीपदान उत्सव में सम्मिलित अवश्य हुईं, पर इस

सम्बन्ध में दोनों के विचार अलग-अलग थे। सुनील और विमल भी उनके साथ यह उत्सव देखने आये थे। सुनील बोला, "सतलज और व्यास के संगम पर हमारे गाँव की स्त्रियाँ भी इसी प्रकार दीपदान करती हैं—दीवाली के पन्द्रह दिन बाद वैकुण्ठ पूनम की रात को! वे भी इसी प्रकार फूस के पूलों पर दीये संजोकर जल में दूर तक बहते चले जाने के लिए छोड़ देती हैं!"

"ई सब एकेबारे अन्धविश्वास!" विमल ने हँसकर कहा, "नोआखाली में हमारा माँ भी करता दीपदान! हम बोला—माँ, ई दीपदान व्यर्थ। माँ बोला—बेटा विमल, तुम एकेबारे पगला, शास्त्र बोलता कि जब मनुष्य मृत्यु को प्राप्त होता तो यमलोक के पथ में यही दीपक प्रकाश प्रदान करता। हम बोला—माँ, ई सब अन्धविश्वास!"

लेकिन कंचन और दीपाली ने विमल बाबू की बात अनसुनी कर दी। वे अपने साथ थोड़ा धान लेती आई थीं। घाट पर थोड़े-थोड़े अन्तर पर धान डालकर उन्होंने उस पर एक-एक दीया संजो दिया। कंचन अपने साथ एक छोटा-सा गमला भी लेती आई थी जिसमें तुलसी उगी हुई थी, इसे घाट की सब से निचली सीढ़ी के एक सिरे पर रखकर इसके सामने एक दीया संजोकर रख दिया। घाट से सटे हुए एक विशालकाय पीपल के चरणों में भी कंचन एक दीया संजो आई।

दीपाली के हाथ में सरसों के तेल की बोतल थी। कंचन के संकेत पर वह प्रत्येक दीये में थोड़ा-थोड़ा तेल उँड़ेलती रही। फिर उसने भी एक पूले पर अपना एकाकी दीपक संजोकर गंगा में प्रवाहित कर दिया। कंचन कहती ही रही कि एकाकी दीपक प्रवाहित करना तो वर्जित है, पर दीपाली ने एक न सुनी। उसने कहा, "कंचन, तुम शायद मुझे अब तक नहीं समझ सकीं। मैं तो चिर-कुमारी हूँ। मेरा दीया तो एकाकी ही बहेगा गंगा में।"

"सुन रहे हो सुनील, भैया?" कंचन खिल खिलाकर हँस पड़ी, "दीपाली यह क्या कह रही है?"

"दीपाली को यह विचार रखने का अधिकार है?" सुनील ने दृढ़ता

पूर्वक कहा।

"यमलोक के पथ में हम एकेबारे दीपक नहीं माँगता, बाबा !" विमल ने अपना ही स्वर छेड़ दिया, "हम बोलता—हमारा दीपक ई संसार में प्रज्वलित रहे। दीपदान का चित्र तो हम अवश्य बनाने सकता। दीपाली के विवाह पर हम दीपदान का एक चित्र अवश्य भेंट करने सकता।"

दीपाली गम्भीर होकर बोली, "जो चिर-कुमारी विवाह की छलना से मुक्त है, विवाह का दुर्गम पथ जिसे स्वीकार नहीं, स्वेच्छा ही जिसको थाती है, संयम ही जिसका मार्ग-दर्शक है, जिसका जीवन एक बन्दिनी का जीवन तो होने से रहा—उस चिर-कुमारी को कभी विमल बाबू का वह चित्र भेंट में स्वीकार करना होगा, यह तो असम्भव है !"

"सुन रहे हो, सुनील भैया ?" कंचन ने नदी में बहते दीयों की ओर संकेत करते हुए कहा, "ये दीपक हमने संजोये, बाती ने अग्नि को स्वीकार किया, पर दीपाली विवाह को स्वीकार करने को तैयार नहीं। अब इसे कौन समझाये भैया, कि हिसाब की बही में जैसे एक-एक रकम का लेखा-जोखा रहता है, विवाह के पश्चात् नर-नारी के जीवन में एक-एक कर्त्तव्य और एक-एक अधिकार जमा और खर्च का स्थान रखता है। यही बात मीना की चिट्ठी से भी स्पष्ट है, पर दीपाली है कि किसी बात को समझना ही नहीं चाहती। मैं कहती हूँ, वह मेरी बात न माने, मीना का संकेत ही समझे।"

"ई सब मिथ्या, ई सब छलना।" विमल ने हँसकर कहा, "नोआखाली में हमारा माँ भी बोलता—बेटा विमल, विवाह तो प्रत्येक मनुष्य का महान् कर्त्तव्य। हम बोलता—माँ, तुम्हारा बेटा तो कलाकार, कला-साधना उसका उत्तरदायित्व, कोनो सुन्दरी उर्वशी के संग पाणिग्रहण करने का उत्तर-दायित्व कलाकार नहीं उठाने सकता। माँ बोलता—बेटा विमल, तुम विवाह नहीं कराने सकता तो हमारा वंशवृद्धि कैसे होने सकता ?"

सुनील का मन कहीं और था। गंगा में दीये तैरते जा रहे थे। कुल-वधुओं और युवतियों की आवा जैसे उनजें दीयों का पीछा कर रही हों।

कंचन बोली, "तो कल लाहौर जाने की पक्की तैयारी है, सुनील भैया ?"

"बीस दिन तो रह लिये, अब जाकर पीछे का काम सँभालना भी तो जरूरी है।"

दीपाली ने जैसे व्यंग्य कसते हुए कहा, "और तुम पटना कब जा रही हो, कंचन ? मीना हो चाहे कंचन, चाहे कोई और, जो भी लड़की एक बार विवाह का बन्धन स्वीकार करती है, वह तो अपनी स्वतन्त्रता का दावा नहीं कर सकती।"



१०

मैं आ रही हूँ ! मैं आ रही हूँ !—यह थी रेलगाड़ी की आवाज़ जो स्टीम इंजन अपनी शूँ-शूँ और भप-भप से और पहियों की दनदनाहट से पैदा कर रहा था। प्लेटफ़ार्म पर खड़े हुए मुसाफिरों की आँखों में उत्सुकता थी; उनके कण्ठ गद्‌गद् हो उटे। हर तरफ शोर था, पर एक भी बात वस्तुतः निरर्थक न थी। जैसे समूचे शोर की मिली-जुली आवाज़ यही थी—तो तुम आ गईं ! लाहौर के प्लेटफार्म पर यह गाड़ी यों पहुँची जैसे माँ बाँहें फैलाये अपने बच्चों के पास आ पहुँचती है। बच्चे भी उछल-उछल कर उसकी ओर बढ़ने लगे। बिजली की बत्तियों की चकाचौंध, शोर का संगीत, हर चेहरे पर यात्रा की लालसा। जैसे यात्रा ही सही हो, और सब ग़लत हो।

दीपाली ने खिड़की से झाँककर एक उचटती-सी नज़र से प्लेटफार्म को दूर तक देखा। सामान पहले से बाँध लिया गया था। सुनील ने झट एक कुली को आवाज़ दी और वे सामान उठाकर नीचे उतरे।

प्लेटफ़ार्म पर पैर रखते ही दीपाली ने कहा, "बनारस पीछे छूट गया। अब हम लाहौर में हैं। यह यात्रा भी अच्छी रही। यात्रा की जड़ें मन में गहरी धँसी रहती हैं। यात्रा की कहानी ही जैसे सब से महान् हो। इस कहानी के पात्र तो असंख्य हैं जिनके बीचों-बीच हीरो हीरोइन का तो मुश्किल से ही पता चलता है।"

"अच्छा तो अब यात्रा की फिलासफ़ी शुरू होगई !" सुनील ने हँसकर कहा, "ये बातें तो घर चलकर भी हो सकती हैं जिस से सुनने वालों पर थोड़ा रोब भी पड़ सके !"

कोई जाना-पहचाना चेहरा तो नज़र न आया, क्योंकि उन्होंने किसी को अपने पहुँचने की सूचना नहीं दी थी। दीपाली ने न जाने क्या सोचकर आज फिर वही नीली साड़ी पहन रखी थी, जिसे पहनकर वह बनारस के लिए गाड़ी पर सवार हुई थी। जैसे वह अपनी इस नीलाम्बरी की छाप लाहौर के वातावरण पर लगाने के लिए चंचल हो उठी हो। एक ही नज़र में जैसे वह लाहौर के रेलवे स्टेशन की समूची सुन्दरता को पानी के घूँट की तरह पी जाना चाहती थी। आज लाहौर कुछ नया-नया लग रहा था।

"इसे मज़ाक न समझना !" सुनील ने गम्भीर होकर कहा, "लगता है जैसे तुम 'मिट्टी की मूरत' की ही हीरोइन नहीं, बल्कि लाहौर की कहानी की हीरोइन है।"

"और नहीं तो।" दीपाली ने चुटकी ली, "बिजली की ये सब बत्तियाँ मेरे स्वागत में ही तो जगमगा रही हैं।"

आजू-बाजू अनेक यात्री बाहर निकलने की चिन्ता में बढ़े जा रहे थे। दीपाली की मुख-मुद्रा कुछ ऐसी थी जैसे वह कहना चाहती हो—लीजिए दीपाली लाहौर आ पहुँची। अब तो सबकी आँखें मुझे देखकर चमक उठेंगी। लोगों की आवाज़ें, क़दमों की चाप, गाड़ियों की सीटियाँ, इंजनों की भप-भप, पहियों की दनदनाहट—आवाज़ों के इस आरकेस्ट्रा पर उसका रोम-रोम मुग्ध था। एक जगह रुककर दीपाली ने आगे बढ़े जा रहे सुनील को पुकारा। पीछे आता हुआ एक यात्री उस से टकराते-टकराते बचा। बड़े आराम से उसने कुली का नम्बर नोट कर लिया और उसे आगे जाकर मुसाफिरखाने में इन्तज़ार करने का हुक्म दिया। फिर वह सुनील को लिये हुए बड़े इतमीनान से एक ओर बुकस्टाल के सामने जाकर रुक गई।

बुकस्टाल के मालिक ने दीपाली को देखा। उसके चेहरे से मालूम हो

रहा था कि वह दीपाली को पहचानने का यत्न कर रहा है। दीपाली मुस्करा दी, जैसे वह कहना चाहती थी कि इस बुकस्टाल का मालिक भले ही उसे न पहचाने, बुकस्टाल को तो उसे अवश्य पहचान लेना चाहिए था। आज तक कभी उसने इस बुकस्टाल की उपेक्षा न की थी, चाहे वह कहीं जाने के लिए स्टेशन पर पहुँची हो, चाहे कहीं से लौटकर यहाँ उतरी हो।

सुनील ज़रा एक ओर हटकर एक मैगज़ीन के पन्ने पलट रहा था। दीपाली भी अपनी पसन्द का कोई मैगज़ीन ढूँढने लगी। बिजली की रोशनी में उसका चेहरा भला प्रतीत हो रहा था।

बुकस्टाल के मालिक ने इतना तो पहली ही दृष्टि में देख लिया कि आज यह लड़की मेक-अप में नहीं है। कहीं दूर से आई है और लम्बे सफ़र में अपना मनपसन्द मेक-अप न कर सकी। उसकी अलकें बिखरी-बिखरी थीं, चेहरे पर रूज़ की तह का कहीं पता न था, बल्कि आज तो होठों से लिपिस्टिक भी ग़ायब थी। साहसपूर्वक उसने थोड़ा आगे आकर दीपाली को सम्बोधित किया, "आपको पहले भी कहीं देखा है!"

दीपाली ने गम्भीर होकर कहा, "कहाँ देखा है?"

बुकस्टाल का मालिक कुछ कहना चाहता था। लेकिन दीपाली की गम्भीर मुखमुद्रा देखकर स्तम्भित-सा रह गया। उसने बहुत चाहा कि बात को अब आगे न बढ़ाये, पर वह कुछ कहने के लिये विवश था। कुछ क्षणों की ख़ामोशी को चीरते हुए उसने कहा, "नया 'एशिया' मिल गया?"

"उसी की तलाश में आई हूँ!"

"कहाँ से तशरीफ़ ला रही हैं?"

"बनारस से।"

"बनारस तो बहुत बड़ा शहर है। लाहौर से भी बड़ा।"

"लेकिन वहाँ का रेलवे बुकस्टाल यहाँ के इस बुकस्टाल से छोटा है।" दीपाली खिलखिलाकर हँस पड़ी।

बुकस्टाल के मालिक ने एक अंग्रेज़ी मैगज़ीन का अंक उठाकर दीपाली

की ओर बढ़ाया, "यह 'यूनाइटेड नेशन्स वर्ल्ड' भी देखा ?"

"यह कोई नया मैगजीन है ?"

"अजी अब 'एशिया' इस नाम से निकलने लगा है। एडीटर अब भी वही है।"

"तो एक कापी दे दीजिये।" दीपाली ने गम्भीर होकर कहा, "इसकी कीमत !"

"इसे रख लीजिये !" बुकस्टाल के मालिक ने जैसे व्यापार के आँचल को ढीला छोड़ते हुए कहा, "इसे नमूने की कापी के तौर पर लेते जाइये, देखिये पैसे दिखाकर मुझे शर्मिन्दा मत कीजिये।"

"शुक्रिया !"



११

दीपाली बार-बार सुनील से कहती, "सब से जरूरी काम तो तुम्हारी 'मिट्टी की मूरत' को स्टेज करना है। अब 'रंगभूमि' वालों से मिलेंगे और बात पक्की होते देर नहीं लगेगी।" लेकिन मजे की बात तो यह हुई कि जिस दिन 'रंगभूमि' की मीटिंग थी, दीपाली अचानक बीमार हो गई। उसने सुनील से अनुरोध किया कि उसे अवश्य उस मीटिंग में उपस्थित होना चाहिए।

उस दिन रविवार था। मीटिंग शाम के चार बजे रखी गई थी। मीटिंग के लिए विशेष रूप से रावी का किनारा चुना गया था, क्योंकि जैसा कि सुनील ने बनारस जाने से पहले एक बार सुझाव रखा था, क्लब के सेक्रेटरी ने आग्रहपूर्वक सभी सदस्यों को इस बात के लिए राजी कर लिया था कि नदी-किनारे के मुक्त वातावरण में 'मिट्टी की मूरत' का महत्त्व समझने में सुविधा होगी।

क्लब के सेक्रेटरी ने बहस शुरू करते हुए कहा, "हजरात, 'रंगभूमि' इस बात पर गर्व कर सकती है कि सुनील ने अपना नया ड्रामा 'मिट्टी की मूरत' स्टेज करने की हमें स्वीकृति दे दी, लेकिन अब यह देखना आप लोगों का काम है कि हम 'रंगभूमि' की ओर से कहाँ तक 'मिट्टी की मूरत' के साथ न्याय कर सकते हैं। क्योंकि आप तो जानते ही हैं कि लाहौर का टेस्ट कैसा है। मैं यह भी मानता हूँ कि लोगों के टेस्ट को बदलने का भी

हमारा काम है। 'मिट्टी की मूरत' नई चीज है। डर तो जरूर लगता है कि लाहौर के लोग कहीं इसे हूट न कर दें। उस अवस्था में 'रंगभूमि' की ख्याति को धक्का लगने का भी अन्देशा है। सारी बात पर आप लोग खुले दिल से विचार कर सकते हैं।"

इसके उत्तर में सुनील मुस्कराता रहा। उसने कुछ कहने की आवश्यकता न समझी।

प्रधान के सामने बोलने वालों की लिस्ट रखते हुए सेक्रेटरी ने उठकर कहा, "अब मैं नफ़ीस अहमद साहब से प्रार्थना करूँगा कि वे अपने विचार हमारे सामने रखें।"

नफ़ीस अहमद ने अपनी अचकन के बल दुरुस्त करते हुए उठकर कहा, "'मिट्टी की मूरत' के बारे में मुझे सिर्फ़ यही अर्ज करना है कि इसकी कोई थीम नहीं बनती। यह एक अधूरी-सी चीज है। हजरात, सुनील साहब मुझे माफ फरमायेंगे, अगर मैं यह कहने की जुर्रत करूँ कि महज़ डायलाग के बल-बूते पर पूरा ड्रामा खड़ा नहीं किया जा सकता।"

नफ़ीस अहमद के बाद पारुल कोहली को अपने विचार प्रकट करने की आज्ञा दी गई।

पारुल ने जामुनी रंग की शलवार-कमीज पर सफेद दुपट्टा पहन रखा था। बालों का बड़ा-सा गोल-मटोल जूड़ा, कानों में गोल-गोल बालियाँ। वह बड़ी नज़ाकत से इठलाकर खड़ी हुई और उसने कहना शुरू किया:

"शायद नफ़ीस साहब यह भूल रहे हैं कि कला किसी बन्धन में नहीं रह सकती। कला का तो एक बहाव होता है, जो कहीं रुकता नहीं। कला किसी के हाथ की कठपुतली नहीं बन सकती। कला को किसी खास गज से नापना कला का सब से बड़ा अपमान है। मैं तो समझती हूँ कि 'मिट्टी की मूरत' पर उस कला की छाप है जो देश-देश की सीमाओं को पार कर जाती है, जहाँ कलाकार किसी एक देश की सीमाओं के हाथ की कठपुतली नहीं बना रह जाता। 'मिट्टी की मूरत' से 'रंगभूमि' का नाम ऊँचा होगा। इसे स्टेज करने का रिस्क हमें अवश्य लेना चाहिए।

रिस्क इसलिए कह रही हूँ, क्योंकि कुछ लोगों को इसकी महानता में सन्देह है। वे भी देख लेंगे कि 'मिट्टी की मूरत' उतना घटिया नाटक नहीं जितना घटिया इसे समझने की भूल की जा रही है।"

मीटिंग में शोर सुनाई देने लगा। मालूम होता था कि कुछ लोगों को पारुल का सुझाव बिलकुल पसन्द नहीं आया। प्रधान ने आर्डर आर्डर का अंकुश दिखाते हुए कहा, "अब हम ज़ीनत कुरैशी से दरख़्वास्त करेंगे कि इस सिलसिले में हमारी रहनुमाई करें।"

काली शलवार-कमीज और जाली के काले दुपट्टे वाली ज़ीनत ने पहले तो अपना नाम बोलने वालों की लिस्ट से वापस लेने की कोशिश की, लेकिन जब चारों तरफ़ से आवाजें आने लगीं कि ज़ीनत कुरैशी को अपनी बात ज़रूर कहनी चाहिए तो वह कुछ बोलने के लिए राज़ी हो गई। उसने खड़े होकर कहना शुरू किया :

"एतराज़ करने वालों को यह हक ज़रूर पहुँचता है कि जायज़ एतराज़ पेश कर सकें। पारुल की यह बात तो मैं हरगिज़ नहीं मान सकती कि कला को नापने के लिए कोई गज़ होना ही नहीं चाहिए। माना कि कला बहता पानी है और जो लोग कला को बन्द जौहड़ बनाने पर तुले हुए हैं, मैं यकीनन उनका साथ नही दे सकती।"

इस पर उन लोगों ने तालियाँ बजाईं जो पारुल की बात से सहमत थे। प्रधान ने आर्डर-आर्डर कहते हुए लोगों के शोर पर कन्ट्रोल पा लिया।

ज़ीनत ने अपनी बात जारी रखते हुए कहना शुरू किया :

"जब मैं यह कहती हूँ कि एतराज़ करने वालों को भी पूरी आज़ादी हो, तो मेरा यह मतलब समझा जाना चाहिए कि हम ख्वाह-म-ख्वाह लिहाज़दारी में न आयें और चीज़ को ठोक-बजाकर क़बूल करें। मैं जानती हूँ कि यहाँ कुछ ऐसे लोग भी मौजूद हैं जो छूटते ही यह कहेंगे कि किताब लिखने का काम बढ़ई के काम से मुख़्तलिफ़ है, यानी अगर कोई चीज़ पहली बार स्टैंडर्ड सिक्का बनकर नहीं निकलती, तो लाख कोशिश करने पर भी फिर स्टैंडर्ड नहीं बन पाती। लेकिन मैं समझती हूँ कि फ़नकार

चाहे तो एक चीज़ को दूसरी बार ही नहीं, तीसरी बार भी लिख सकता है, और यह कोशिश कर सकता है कि पहली या दूसरी बार लिखने में जो कमी रह गई थी उसे तीसरी बार लिखते वक्त पूरा किया जाय। मैं उन लोगों की बात भी समझती हूँ जिन्हें 'मिट्टी की मूरत' नाम ही नापसन्द है। उन लोगों की बात भी मेरे कान में पड़ चुकी है, जो 'मिट्टी की मूरत' में ज़बान की ग़लतियाँ निकाल सकते हैं। लेकिन जहाँ तक ज़बान का तअल्लुक है, उसमें तो फेर-बदल की हमेशा गुंजाइश रहती है। और मेरा तो ख़याल है कि सुनील साहब ज़बान के मामले में हमें थोड़ी-बहुत आज़ादी ज़रूर देंगे। ज़बान का मामला वाक़ई बड़ा टेढ़ा है। इसे लोगों की ज़बान के करीब लाना तो ख़ैर बहुत ज़रूरी है, सादगी और सलासत की कोशिश भी हाथ से नहीं जाने देनी चाहिए। साथ ही हमें यह भी नहीं भूल जाना चाहिए कि किसी ज़बान का पिछला सरमाया भी हमारे सामने रहना चाहिए और लिखते वक्त हमें यह ज़रूर देखना चाहिए कि अब तक के लिट्रेचर के धारे में हमारी चीज़ कहाँ तक फिट बैठती है!"

इस पर उन लोगों ने तालियाँ बजाईं जो 'मिट्टी की मूरत' के विपक्ष में थे। अब प्रधान ने केवल चौधरी का नाम लिया और एक छरहरे बदन के व्यक्ति ने कोट-पैंट और टाई की प्रदर्शिनी करते हुए उठकर कहना आरम्भ किया :

"लेडीज़ एण्ड जैण्टलमैन, 'मिट्टी की मूरत' पर बहुत ले-दे हो ली। मेरा तो अब भी यह ख़याल है कि हम सब लोग इस बात का फ़ैसला एक राय होकर कर सकते हैं कि सुनील साहब को यह कहा जाय कि वे 'मिट्टी की मूरत' की बजाय हमारे लिए कोई नया ड्रामा लिखकर दें जिसमें ख़ास तौर पर लाहौर के टेस्ट का ख़याल रखा गया हो। जब तक हमारे मुल्क में अच्छे ड्रामे दस्तयाब नहीं होते, हमें चाहिए कि विदेशी ज़बानों के स्टैंडर्ड ड्रामे अपनी ज़बान में तर्जुमा करके स्टेज करते रहें। आख़िर दूसरे मुल्कों के ड्रामा पर भी तो हमें प्राइड होना चाहिए। हम अपनी दुनिया को इतना नैरो क्यों समझ बैठे हैं? दुनिया के मुल्क मार्डन एज में एक ही शहर की

गलियों की तरह हैं। आज जब कि ऐरोप्लेन से कुछ ही घण्टों में हजारों मील का ट्रैवल किया जा सकता है, क्यों न हम कोई इब्सन का ड्रामा ही स्टेज करना डिसाइड करें। इब्सन पर तो कुल दुनिया नाज कर सकती है, बल्कि मैं तो कहूँगा कि सुनील साहब दूसरा ड्रामा लिखने से पहले कुछ दिन इब्सन की स्टडी जरूर करें क्योंकि यह कालिदास और भवभूति का दौर नहीं है।"

इसके बाद बहुत से लोगों ने 'मिट्टी की मूरत' के पक्ष और विपक्ष में बहुत कुछ कहा। कई बार मीटिंग में शोर उठा और आपस की तू-तू मैं-मैं होते-होते बची। प्रधान को कई बार आर्डर-आर्डर कहना पड़ा। मालूम होता था कि अधिक संख्या ऐसे सदस्यों की है, जो 'मिट्टी की मूरत' का महत्त्व समझ ही नहीं सके, या पूर्वग्रह के कारण यह ड्रामा उन्हें अप्रिय है।

दीपाली के साथ बनारस जाने से पहले 'रंगभूमि' की एक लम्बी मीटिंग में सुनील ने स्वयं पूरा ड्रामा पढ़कर सुनाया था। उस समय भी सुनील को बीच-बीच में यह सन्देह अवश्य हुआ था कि शायद 'रंगभूमि' वाले इसे रद्द कर दें। लेकिन बीच-बीच में दीपाली की मधुर टीका द्वारा उस मीटिंग की आबोहवा कण्ट्रोल में रही थी, और सुनील यह विचार लेकर मीटिंग से लौटा था कि उसका ड्रामा अवश्य स्टेज किया जायगा। जहाँ तक इस ड्रामा की थीम का सम्बन्ध था, सभी सदस्यों के सामने इसका उद्घाटन पूरी तरह किया जा चुका था। आज दीपाली की अनुपस्थिति से मीटिंग का रंग इतना बिगड़ जायगा, इसकी तो तनिक भी सम्भावना न थी।

अन्त में प्रधान ने जोर देकर कहा, "अब हम सुनील जी से प्रार्थना करेंगे कि वे अपने विचार हमारे सामने रखें।"

तालियों के बीच सुनील उठकर खड़ा हो गया। खादी का कुरता-पाजामा और सिर पर घुँघराले बालों का छत्ता। उसके चेहरे पर किसी तरह का मलाल न था। प्रसन्न मुद्रा से उसने कहना शुरू किया :

"रावी के किनारे 'रंगभूमि' की इस मीटिंग में 'मिट्टी की मूरत' पर जो बहस हुई, उसे सुनकर मैं अपने दिल में किसी प्रकार की रंजिश को

स्थान नहीं दे सकता। लेकिन मैं इतना अर्ज़ किये बिना नहीं रह सकता कि मैंने भी ड्रामा के पीछे पागल होकर अपना घर छोड़ा और कुछ वक्त रासधारियों के साथ भी गुज़ारा। रासधारियों की संगत में मेरा दम घुटता था, क्योंकि वे मुझे अपने साथ ज़मीन के नीचे-ही-नीचे चलने के लिए मजबूर करते थे, और अब यहाँ आकर मैं साफ़-साफ़ देख रहा हूँ कि आप लोग आसमान में उड़ रहे हैं और ज़मीन पर उतरना ही नहीं चाहते। इस सूरत में आप ही बताइये कि हमारी कला की जड़ें हमारी धरती के अन्दर कैसे गहरी जा सकती हैं? जहाँ तक 'मिट्टी की मूरत' का सम्बन्ध है, मैं तो यही अर्ज़ कर सकता हूँ कि मैं अपने इस ड्रामा में किसी तरह का हेर-फेर करने के लिए तैयार नहीं हूँ।"

यह कहकर सुनील अपनी जगह पर बैठ गया और मीटिंग में सन्नाटा-सा छा गया। जब सुनील ने अपनी जगह से उठकर कुछ कहना शुरू किया था तो यों मालूम होता था कि एक भारी-भरकम चट्टान उठकर खड़ी हो गई है और उसे आज सदियों की ख़ामोशी के बाद ज़बान नसीब हुई है। अब मानो यह चट्टान फिर अपनी जगह पर बैठ गई थी, जैसे उसकी मुखमुद्रा पर अब कभी भाषा की रेखाएँ फैलती नज़र नहीं आ सकेंगी।

'मिट्टी की मूरत' पर बहस ख़तम हो चुकी थी। प्रधान की राय से सैक्रेटरी ने घोषणा की, "हजरात, 'मिट्टी की मूरत' पर आख़िरी फ़ैसला किसी अगली मीटिंग में किया जायगा। हम सुनील जी को विश्वास दिलाते हैं कि अगली मीटिंग में उनके विचारों पर अधिक ध्यान दिया जायगा। मुझे आशा है कि उस मीटिंग में दीपाली कपूर भी अवश्य उपस्थित होगी और हम उसके विचारों से भी लाभ उठा सकेंगे।"

बहस के बाद झट चाय के प्याले आने लगे। प्लेटों में रखे हुए अंगूर और सेब भी खास तौर पर पेश किये जा रहे थे। सुनील को यह महसूस होते देर न लगी कि इन लोगों के लिए ड्रामा पर होने वाली बहस से कहीं अधिक विशेषता तो इस पिकनिक की है, जिसके लिए ये लोग रावी के किनारे इकट्ठे हुए थे।

सन्ध्या मन्थर गति से रावी की लहरों पर झूमती चली आ रही थी। सूरज कभी का अस्त हो चुका था। पिकनिक के शोर में बहस की सब बातें विलीन हो गईं

केवल चौधरी के अनुरोध पर जीनत ने अपना दिलपसन्द गीत छेड़ दिया :

वगदी ए रावी विच्च सुट्टीयाँ गण्डेरियाँ
तू न जमदी हीरे सानूँ होर बथेरियाँ।[1]

१. रावी बह रही है और उस पर गण्डेरियाँ बहती चली जा रही हैं। ओ हीर, तेरा जन्म न हुआ होता, तो हमारे लिए और बहुत-सी लड़कियाँ थी।



११

हजारों बरस का पुराना इन्सान आज के समाज में भी ज़िन्दा है। तो फिर कालिदास और भवभूति को क्यों स्थान नहीं मिल सकता ? यह सोचते ही सुनील झुँझला उठा। दीपाली तो कहती है—नाटक लाजवाब है ! जैसे किसी ने सुनील के मस्तिष्क के द्वार पर हल्की-सी दस्तक दी, जैसे किसी की हल्की आवाज़ गूँज उठी—नाटक लाजवाब है ! काश दीपाली बीमार न पड़ गई होती ! काश वह रंगभूमि की मीटिंग में उपस्थित होती ! कला की धज्जियाँ उड़ी थीं, साहब ! फिर भी मैं ज़िन्दा हूँ। ख़ैर अच्छा हुआ।

कहिये सुनील साहब, क्या इरादे हैं ? बिस्तर गोल कीजिये, साहब ! इब्सन का हवाला देने वाले कालिदास को भूल गये, भवभूति को भूल गये। कहेंगे—दो हजार बरस पहले की बात कर रहे हैं, तेरह-सौ वर्ष पहले की बात कर रहे हैं इस शताब्दी में ! लेकिन कालिदास की आवाज़ तो आज भी नई प्रतीत होती है—'पुरानी होने के कारण कोई वस्तु अच्छी नहीं होती, और नई होने के कारण कोई वस्तु बुरी भी नहीं होती।'

क्या नाम था उसका ? हाँ, भवभूति। खूब नाटक लिखता था। पर आलोचकों को पसन्द न था। फिर भी उसकी अपनी कला पर कितनी आस्था थी :

उत्पत्स्यतेऽस्तिमम कोपि समानधर्मा
कालो ह्यम् निरवधिर्विपुला च पृथ्वी।

—'मेरा कोई समानधर्म उत्पन्न होगा। काल अनन्त है और पृथ्वी विशाल है।'

'मिट्टी की मूरत' में बात नहीं बनी। थीम रास नहीं आई। ठीक कर लीजिये। 'रंगभूमि' को 'मिट्टी की मूरत' बिलकुल नापसन्द है।

और वह विचारधारा में बह गया।

चलिये सुनील साहब, गाँव लौट चलें। क्यों? हँसते हैं आप? कौन रोक रहा है? आप का ख़याल आपको मुबारक। दीपाली बहुत समीप है, पर सचमुच दीपाली बहुत दूर है। अजी दीपाली को तो आपका नाटक बहुत पसन्द है····काश वह मेरे साथ रावी के किनारे चलती और ठण्डी हवा के झोंकों में उसकी अलकें उड़ रही होतीं, तो मैं अवश्य कहता—दीपाली, सुना तुमने कि ये लोग क्या कह रहे थे?····दीपाली है तो बड़ी गम्भीर लड़की, बड़ी सूझ-बूझ रखती है। वही तो 'मिट्टी की मूरत' की जान है। उसके बिना तो 'मिट्टी की मूरत' मूरत ही रहती है। यह लड़की तो सचमुच 'मिट्टी की मूरत' में जान डाल के ही रहेगी····

तो अब ये हवाई किले बनाये जा रहे हैं?

तुम फैशन की शौकीन साधारण लड़कियों से बिलकुल अलग हो, दीपाली! तुम सोच सकती हो। फैशन पर लट्टू लड़कियों की भीड़ में तुम हमेशा अलग नज़र आती हो, दीपाली! तुम्हारा अपना अन्दाज़ है। तुम्हारे मन में नई वस्तु को स्वीकार करने की भावना का अभाव नहीं····

अरे सुनील साहब, यह क्या चक्कर है? खुद आप अपने दाम में सैयाद आ गया!

यह तो ग़लत बात है। मैं तो अपने जीवन में सैंकड़ों हजारों चेहरे देख चुका हूँ।

ये तो बेकार की बातें हैं। क्या तुम उन चेहरों की रेखाएँ उभार सकते हो?

अजी यह परीक्षा व्यर्थ है। हजारों नहीं, मैं तो लाखों चेहरे देख चुका हूँ। वे सब चेहरे मेरी कल्पना में तारों की तरह चमक रहे हैं। तारों की

तरह दूर, बहुत दूर। दीपाली बहुत दूर तो नहीं, फिर भी कितनी दूर नज़र आती है !

यह तो प्रभात की किरणें हैं, सुनील साहब ! यह तो एक आशा लाई हैं, एक सन्देश लाई हैं।

अजी सुनील जी महाराज, एक काम करो। पहले अपनी 'मिट्टी की मूरत' में थोड़ी जान डालो। इसे दोबारा लिखो। तीसरी बार लिखो। फिर लिखो। फिर लिखो। मेहनत तो जरूरी है। यों ही तो नहीं बन जाती 'मिट्टी की मूरत' ! संसार के बड़े-बड़े नाटककारों ने तो दस-दस बीस-बीस बार लिखे अपने मास्टरपीस। तब जाकर कुछ बात बनी और संसार ने उन्हें स्वीकार किया। मैं तो पहली बार लिखी हुई चीज उठा लाया लाहौर के बाज़ार में ! मेरे जैसा मूर्ख कौन होगा ?

अजी यह लाहौर है। लाहौर को धोखा नहीं दिया जा सकता। लाहौर को भले-बुरे की पहचान है। जाइये, लाहौर से तशरीफ़ ले जाइये। लाहौर को आपकी जरूरत नहीं है।

रंगभूमि वालों से तो रासधारी ही अच्छे थे। वे मेरी बात सुनते तो थे, भले ही वे पुरानी दुनिया के लोग थे। जमीन के नीचे रहना ही उन्हें ज़्यादा पसन्द था। वे परम्परा के नीचे बुरी तरह दबे हुए थे। लेकिन वे इन्सानियत से तो बात करते थे। अजी उनकी कला पर तो फिर भी जीवन के हस्ताक्षर थे।

तो रंगभूमि तुम्हें नापसन्द है, सुनील ?

रंगभूमि हवा में उड़ रही है। रंगभूमि जमीन पर उतरना ही नहीं चाहती। उसकी जड़ें जमीन में कैसे गहरी धँस सकती हैं ?

लाहौर तो परीक्षा लेता है, सुनील साहब ! लाहौर को खरे-खोटे की पहचान है।

मैं भी लाहौर के लिए कुछ तो लाया था।

लाहौर का टेस्ट तो बहुत ऊँचा है, सुनील साहब ! जो लाहौर की परीक्षा में पूरा उतरता है, उसीका लाहौर स्वागत करता है। तुमने तो

अपने नाटक में ज़रा भी फेर-बदल करने से इन्कार कर दिया। अजी, लाहौर में तो जो भी आया बड़ा बनने के लिए ही आया। लाहौर का हर बड़ा आदमी लाहौर में पैदा नहीं हुआ था। लाहौर के बड़े आदमी बाहर से आये। लाहौर में आकर उन्होंने मेहनत की। आरम्भ में उन्हें बार-बार अनुभव हुआ कि लाहौर में उनके लिए स्थान नहीं, फिर तो वे इतने चमके कि उन्होंने लाहौर के सिर पर बैठकर हुकूमत की।

लेकिन मुझ पर तो सिर मुँडाते ही ओले पड़े !

रंगभूमि वालों ने तुम्हें धोखे में तो नहीं रखा। झूठी प्रशंसा के पुल नहीं बाँधे। तुम्हारी रचना के बखिये उधेड़कर रख दिये। लाहौर में बुझी हुई सिगरेट का काम नहीं। लाहौर को तो ज़हीन इन्सान चाहिए जिसमें अभी आग बाकी हो। ज़िन्दगी के तकाज़े पूरे करने होंगे, सुनील साहब ! 'मिट्टी की मूरत' का तो इस बाज़ार में धेला भी नहीं मिल सकता। कोई और बाज़ार तलाश करो। कहीं तो अक्ल के अन्धे मिल ही जायँगे जो 'मिट्टी की मूरत' को सोने की मूरत समझ लें और तुम्हारे सामने अपनी जेब खाली कर दें।

लेकिन दीपाली ने तो कहा था—नाटक लाजवाब है ! 'मिट्टी की मूरत' की हीरोइन के चेहरे की रेखाएँ दीपाली से मिलती हैं। मेरा कोई समान धर्म उत्पन्न होगा, अवश्य उत्पन्न होगा ! काल अनन्त है। पृथ्वी विशाल है। क्या इरादे हैं, समालोचक जी ? नाटक लाजवाब न सही, इतना बुरा भी तो नहीं है। इसका बीज जीवन से लिया गया। देश के जीवन से, देश की मिट्टी से लिया गया है इस नाटक का बीज। बहस कीजिये, धर्म काँटे पर तोलिये। काल अनन्त है। पृथ्वी बहुत विशाल है। दीपाली का विचार ग़लत नहीं हो सकता। नाटक लाजवाब है।

तो बाज़ारी नाटकों के आशिकों की तरह मजनू क्यों बने जा रहे हैं, सुनील साहब ? सँभल कर बैठिये। डोर हाथ से न छोड़िये। लाहौर का टेस्ट तो बहुत ऊँचा है। लाहौर न देशी है न विदेशी। लाहौर न सब-का-सब हिन्दू है, न मुसलमान, न सिक्ख, न ईसाई, न ऐंग्लो-इण्डियन। न

जमीन का, न आसमान का, लाहौर तो लाहौर है। लाहौर को तो हमेशा एक चीज की तलाश रही है। जीवन एक नाटक है। अनहोनी जरूर होकर रहेगी····

अजी सुनील साहब, खैरियत से तशरीफ़ ले जाइये।

दीपाली तो 'मिट्टी की मूरत' पर जीवन के हस्ताक्षर देख चुकी है। वह जानती है कि जीवन के हस्ताक्षर की तो लाहौर के दिल में भी बड़ी इज़्ज़त है।

अजी सुनील साहब, इन बातों में क्या रखा है ?

मतलब ?

अरे बाबा, मतलब क्या पूछते हो ? इस अफ़रा-तफ़री में क्या मतलब बताया जाय ! लाहौर की ज़बान समझने का यत्न कीजिये। लाहौर तो उँगलियों पर नचाना खूब जानता है। लाहौर को तो हमेशा किसी नई चीज की तलाश रहती है। रंगों की गलियों में घूमने में लाहौर को मज़ा आता है। लाहौर की कोई एक आवाज नहीं है। क्या कहा ? लाहौर में फ़साद भी होते हैं, झगड़े भी होते हैं। लेकिन ये झगड़े और फ़साद बहुत दिन तो नहीं चलते। लाहौर फिर से रंगों और आवाज़ों और ज़बानों की गलियों में घूमने लगता है। लाहौर की तलाश तो जारी रहती है····क्या तुम भी किसी तलाश में हो ? यह बात है, तो शौक से तलाश कीजिये। इन रंगों में, इन आवाज़ों में, इन ज़बानों में कुछ तो हाथ लगेगा····

ये रंग, ये आवाज़ें, ये ज़बानें ! वह इनमें खो गया। वह इन से अलग भी तो न रह सकता था। काश दीपाली अचानक बीमार न पड़ गई होती ! काश दीपाली का चेहरा सामने होता। उसकी आवाज़ सुनाई दे सकती। उसके ओंठों पर एक मुक्त मुस्कान खेल रही होती। उसकी आँखों में नई वस्तु के लिए, 'मिट्टी की मूरत' के लिए स्वीकृति की भावना तैर रही होती। उसने तो कई बार ज़ोर देकर कहा है—नाटक लाजवाब है ! उसने अपने कालिदास को, अपने भवभूति को, अपने इब्सन को पहचान लिया है। दीपाली ने भूल तो न की होगी। 'मिट्टी की मूरत' का जीवन तो उसकी मुट्ठी में है।

लेकिन रंगभूमि इसे समझने में असमर्थ है। नई चीज़ जो ठहरी। ज़बान नई, प्रसंग नया, पेश करने का ढंग नया। वही पिटी-पटाई ज़बान होती, पिटी-पटाई ज़मीन होती, तो शायद इसे झट स्वीकार कर लिया जाता। ख़ैर, परवाह नहीं····

वह इस विचारधारा में बहा जा रहा था कि एक झटके के साथ उसका ध्यान टूट गया, जैसे कोई उसे आवाज़ दे रहा हो।

उसने उठकर दरवाज़ा खोला। बाहर पारुल खड़ी थी

"खूब मूड में हैं, सुनील साहब !" पारुल मुसकराई।

"आज इधर का रास्ता कैसे भूल गई, पारुल ? मैं तो 'मिट्टी की मूरत' में जान डालने की कोशिश कर रहा था।"

पारुल ने झट अन्दर आकर कुर्सी पर बैठते हुए कहा, "लेकिन 'मिट्टी की मूरत' तो पहले ही जिन्दा है ! चाय-वाय नहीं पिलायँगे आज ? ख़ैर छोड़िये, देर हो जायगी। मैं दीपाली से मिलने जा रही थी। सोचा आपको भी लेती चलूँ। आज सुबह-सुबह उनका नौकर आया था। दीपाली का हुक्म है कि मैं आपको भी ज़रूर लाऊँ !"

"तुम चलो, पारुल ! मैं थोड़ा ठहरकर आ जाऊँगा। मुझे थोड़ा काम है।"

"यह तो न होगा। दुनिया के काम तो कभी ख़त्म ही नहीं होते।

सुनील ने कुरसी पर बैठे-बैठे बाहर खिड़की से आती हुई सूरज की किरणों को देखा। फिर उसने दूसरे कमरे में जाकर कपड़े बदलते-बदलते दरवाज़े की दरज़ से पारुल को देखा जो उस समय मैगज़ीन उठाकर उसके कवर के चित्र को बड़े ध्यान से देख रही थी। उसे लगा कि कवर के चित्र से तो पारुल कहीं अधिक सुन्दर है। कल रंगभूमि की मीटिंग में तो पारुल ने ही मेरा पक्ष लिया था। पारुल की ओर से नज़र हटाकर वह दीपाली के विचार में खो गया। देखें आज क्या-क्या बातें होती हैं। देखें उसकी तबियत कैसी है। पारुल तो दीपाली के सामने बच्ची है। दीपाली का कोई मुक़ाबिला नहीं। उसके सामने तो कोई पर नहीं मार सकता। न जाने कहाँ

से इतने गहरे विचार ढूँढ़कर लाती है, जैसे कोई पनिहारी गहरे कुएँ से पानी का डोल खींचती है और प्यासे राही की ओक में ठण्डा पानी उँडेल देती है···· किरणों ने पारुल के बड़े-से जूड़े को कितना उजाल रखा था, पर अगले ही क्षण उसे दीपाली के जूड़े का ध्यान आ गया। पारुल का जूड़ा तो दीपाली के जूड़े की नक़ल मालूम होता है। इसमें वह मौलिकता कहाँ है? वे हाथ और हैं जिनसे दीपाली के जूड़े को रूप मिलता है। दीपाली की क्या बात है। वह तो जिस चीज़ को भी हाथ लगा दे उसी में जान पड़ जाती है।



१३

ताँगेवाले ने घोड़े की पीठ पर बड़े आराम से हाथ फेरकर उसे पुचकारते हुए कहा, "शाबाश, ईदु बेटा ! बोहनी कर रहे हैं। राजा सवारियाँ बैठी हैं। ज़रा अपनी चाल से उन्हें खुश कर दे।"

सुनील ने अगली सीट पर बैठते हुए कहा, "नई बस्ती जायँगे। सिक्ख नेशनल कालिज के पास।"

"जहाँ हुक्म करें, बाबू साहब !" ताँगे वाले ने पीछे मुड़कर कहा, "बाँदी किसकी और गहने किसके !"

पारुल बोली, "एक रुपया मिल जायगा, इस से ज़्यादा नहीं।"

ताँगेवाला डेढ़ रुपये पर अड़ गया था, लेकिन बात सवा पर तय हो गई। ताँगा चला तो सुनील ने ताँगेवाले को सम्बोधित करते हुए कहा, "आपका नाम, खाँ साहब ?"

'बन्ने खाँ।"

"आपने हमें राजा का खिताब दिया, पर राजा तो नाई को कहते हैं !"

"तोबा करता हूँ, बाबू साहब ! मैं ऐसी गुस्ताखी नहीं कर सकता।"

"देखो बन्ने खाँ, राजा कहलाना इसलिए भी अच्छा नहीं लगता, क्योंकि अब तो राजाओं का ज़माना खत्म हो रहा है। और अब तो अंग्रेज़ को भी यहाँ से बोरिया बिस्तर गोल करना होगा।"

"अंग्रेज़ को तो यहाँ से न जाने दीजिए।" ताँगेवाले ने अपनी बड़ी-बड़ी

मूँछों पर हाथ फेरते हुए कहा, "अभी तो खैर जंग ख़त्म हुए देर नहीं हुई। हिटलर कहता था कि मेरे जोड़ का कोई ताकतवर नहीं। अब कहाँ है हिटलर? अल्लाह पाक ने अंग्रेज़ों को यों ही तो रुतबा नहीं दे रखा।"

"अजी खाँ साहब, सदा तो किसी का राज नहीं रहता।" पारुल ने हँसकर कहा "एक दिन तो अंग्रेज़ को यहाँ से जाना ही होगा।"

"अरे सुन रहे हो, ईदु बेटा?" ताँगेवाले ने घोड़े को पुचकारते हुए कहा, "अंग्रेज़ तो हमें इसलिए अच्छा लगता है कि वह ख़ुश होता है तो ख़ूब बख्शीश देता है। चलो आज की बोहनी भी ख़राब नहीं रहेगी।"

सूरज की किरणों में लाहौर मुस्करा रहा था। सड़क पर खासी रौनक थी। स्टेशन की तरफ़ से बहुत से ताँगे चले आ रहे थे। ये शायद किसी गाड़ी की सवारियाँ थीं।

"हर रोज़ लाहौर के स्टेशन से सैंकड़ों सवारियाँ सवार होती हैं और उस से भी ज़्यादा उतरती हैं!" पारुल ने आश्चर्यपूर्वक कहा "इस यात्रा का कहीं अन्त नहीं।"

"और यात्रा का अन्त क्यों हो?" सुनील ने गम्भीर होकर कहा, "मैं तो कई बार सोचता हूँ कि लाहौर में आकर मैंने ग़लती की। लेकिन पिछले पन्द्रह-बीस रोज़ जो मैं दीपाली के साथ बनारस में गुज़ार आया, मुझे सदैव याद रहेंगे। काश तुम भी साथ होतीं, पारुल! वहाँ तुम्हें विमल बाबू से भी मिलाते। बड़े ही मज़ेदार हैं विमल बाबू। कहते हैं कि कभी विवाह नहीं करायेंगे। तूलिका लेकर बैठते हैं तो रंगों में जान डाल देते हैं। रहने वाले तो नोआखाली के हैं, पर बनारस में उनकी उमर गुज़री। बनारस की ऐसी-ऐसी कहानियाँ सुनाते हैं कि—"

"कि सुनील शायद वहीं रह जाता!" पारुल ने सुनील को टोका।

"वहाँ कैसे रह जाता? लाहौर में जली-कटी सुनना तो ज़रूरी था।"

"मैं कहती हूँ रंगभूमि वालों की बातों पर मत जाइये। हम में ताकत होगी तो एक नई रंगभूमि खड़ी कर सकते हैं। मैं तो उस दिन का इन्तज़ार कर रही हूँ, जब लाहौर में 'मिट्टी की मूरत' स्टेज किया जायगा और इस

बहाने हमारी एक्टिंग की तूती भी बोलने लगेगी!"

"तुम लोगों की एक्टिंग पर तो मुझे पूरा भरोसा है। लेकिन रंगभूमि की मीटिंग में इतने लोग ग़लत बात तो नहीं कह रहे थे। शायद वे ठीक कह रहे थे कि मुझे पहले इब्सन की स्टडी करनी चाहिए।"

"इन लोगों का तो काम ही यही है कि आगे जाने वाले की टाँग खींची जाय।"

ताँगेवाला शायद अपनी सवारियों की बातें पूरी तरह न समझ सका। वह घोड़े को दौड़ाये लिये जा रहा था। और यों ही ताँगा एक जगह रुका, पारुल बोली, "लीजिये सुनील जी, दीपाली का घर आ गया।"

ताँगेवाले की मजदूरी चुका दी गई, और सुनील को लिये हुए पारुल झट दीपाली के कमरे में जा पहुँची। जीनत वहाँ पहले से मौजूद थी।

"आइये! सुनील साहब, जीनत ने छूटते ही कहा, "यकीन कीजिये आप ही का ज़िक्र हो रहा था।"

"शुक्रिया!" कहकर सुनील आराम कुर्सी पर बैठ गया। दीपाली के ओंठों पर मुस्कान की रेखाएँ अवश्य उभरीं, पर वह मुँह से कुछ न बोली। पारुल ने जीनत के कान में कुछ कहा, और फिर उनमें कानाफूसी शुरू हो गई।

दीपाली सचमुच आज कोई महाश्वेता मालूम हो रही थी। नीलाम्बरी के स्थान पर उसने खादी की सफेद धोती पहन रखी थी। खादी का सफेद बलाउज। उसके चेहरे का रंग तो गौर वर्ण था, पर उसकी समस्त ललाई न जाने एक दिन के बुखार ने ही कैसे चूस ली थी।

"टेम्परेचर तो कल रात से कम हो गया है।" दीपाली ने धीरे-धीरे ओंठ खोले, "डाक्टर ने कहा है कि आज शाम तक टेम्प्ररेचर नहीं रहेगा।"

"बीमार होने का सब से बड़ा मज़ा तो यही है कि थोड़ा आराम नसीब हो जाता है," सुनील ने हँसकर कहा, "नहीं तो जिन्दगी के काम तो कभी खतम ही नहीं होते, और किसी-न-किसी तरह की भाग-दौड़ तो लगी ही

रहती है।"

ज़ीनत दीपाली के सिरहाने की तरफ बैठी थी, पारुल भी ज़ीनत के समीप पलंग पर बैठ गई थी, और दोनों सहेलियों में आँखों-ही-आँखों में न जाने क्या प्रसंग चल रहा था।

दीपाली काँपती-सी आवाज़ में बोली "मैंने सुना है कि कल रंगभूमि की मीटिंग में बहुत-सी बे सिर पैर की बातें कही गईं। ज़ीनत मुझे एक-एक बात बता चुकी है। घबराने की तो कोई ज़रूरत नहीं है। 'मिट्टी की मूरत' तो लाजवाब चीज़ है। हम इसे ज़रूर स्टेज करेंगे।"

पारुल ने हँसकर कहा, "एक मज़ेदार बात सुनोगी, दीपाली? जब मैं आज अनारकली में सुनील के चौबारे पर पहुँची, तो कमरा अन्दर से बन्द था।"

"और तुम्हें एक-दो बार दस्तक देनी पड़ गई होगी!" ज़ीनत बीच में बोल ऊठी।

"सुनो तो। जब सुनील ने दरवाजा खोला तो जनाब बहुत खोये-खोये से नज़र आ रहे थे। मैंने कहा—खूब मूड में हैं, सुशील साहब! तो फ़रमाने लगे—'मिट्टी की मूरत' को ज़िन्दा करने की कोशिश कर रहा था।"

इस पर ज़ीनत ने कहकहा लगाया। पारुल ने झट सँभलकर कहा, "अब इनसे पूछिये कि इसका क्या मतलब था? रंगभूमि की मीटिंग में 'मिट्टी मूरत' पर जो ले-दे हुई उस से जनाब के दिमाग़ के कल-पुर्ज़े ढीले ह गये हैं, यह बात तो ज़ाहर है।"

सुनील ने कुछ उत्तर न दिया। ज़ीनत ने हँसकर कहा, "ख़ैर छोड़ो, पारुल! 'मिट्टी की मूरत' तो अच्छा ड्रामा है। लेकिन मैं कहती हूँ कि आज मौसम भी तो अच्छा है।"

दीपाली उठकर बैठ गई। पारुल ने उसके पीछे गाव-तकिया रख दिया, ताकि उसे ज़रा भी कष्ट न हो। ज़ीनत ने तो इसी बात पर ज़ोर दिया कि वह लेटी रहती तो अच्छा होता। लेकिन दीपाली तकिये के सहारे बैठी रही।

खिड़की से नीला आकाश दिखाई दे रहा था। कभी दीपाली अपनी खादी की सफ़ेद धोती की तरफ़ देखने लगती, कभी उसकी आँखें आसमान की तरफ़ उठ जातीं। जैसे उसे नीली साड़ी का ध्यान आ रहा हो जो उसे पसन्द थी और जिसे सुनील ने नीलाम्बरी का प्यारा-सा नाम दे रखा था। कुछ क्षणों की ख़ामोशी के बाद उसने काँपती-सी आवाज़ में कहा, "वह ज़रा दवा की शीशी तो उठा देना मेण्टल पीस से, सुनील ! दवा की ख़ुराक लेने का वक्त हो गया।"

सुनील ने शीशी उठाकर दीपाली की हिदायत के अनुसार शीशे के गिलास में दवा डाली, लेकिन इसे हलक में उँडेलते ही दीपाली ने नाक सिकोड़ी। दवा शायद बहुत कड़वी थी। दीपाली ने धीरे-धीरे कहना शुरू किया :

"ड्रामा ने तो कई बार करवट बदली। कई बार उसने नई मंज़िल की ओर कदम बढ़ाया। एक वह ज़माना था कि किस्मत को इन्सान की ज़िन्दगी पर हावी दिखाया जाता था। शुरू के यूनानी ड्रामा में किस्मत के साथ इन्सान की ज़िन्दगी का टकराव ही तो नज़र आता है। कालिदास की शकुन्तला पर भी एक तरह से यही रंग छाया हुआ है। ऋषि के श्राप से शकुन्तला की अँगूठी गुम हो गई। मेरा मतलब है कि ऋषि ने श्राप दिया —शकुन्तला, भगवान करे तुझे वह आदमी पहचान ही न पाये जिसके ध्यान में तू इतनी मग्न हुई जा रही है कि मुझे प्रणाम करने का भी तुझे ध्यान नहीं रहा !···अब शकुन्तला के पास तो दुष्यन्त की अँगूठी थी और यह अँगूठी देखकर दुष्यन्त उसे पहचानने से इन्कार नहीं कर सकता था। कालिदास ने दिखाया कि किस प्रकार रास्ते में ऋषि के श्राप के कारण शकुन्तला की अँगूठी दरिया में गिर गई और मछली के पेट में चली गई, और—"

"और यहाँ हमारे पेट में मक्खन-लगे टोस्ट भी नहीं गये !" पारुल ने चुटकी ली।

"पारुल को भी दूर की सूझी !" ज़ीनत ने क़हक़हा लगाया।

सुनील अपने ही विचारों में खोया जा रहा था। दीपाली ने अपनी बात जारी रखते हुए कहा :

"हाँ, तो मैं कह रही थी कि देश-देश में सदियों तक ड्रामा इसी ढब पर चलता रहा। फिर शेक्सपियर आया। उसने कहा कि यह ग़लत है कि किस्मत इन्सान की ज़िन्दगी पर हावी है। यहाँ से रीयलिज़्म की दाग़-बेल पड़ी। फिर नये एक्सपेरिमेन्ट्स् किये गये। इन्सान की अज़मत से इन्कार करना कठिन हो गया। देश-देश में जनता की ताक़त ने ज़ोर पकड़ा और जनता की कला सामने आई। देश-देश में इसे लोक-कला का नाम दिया गया।"

"कुछ आप भी तो कहिये, सुनील साहब!" ज़ीनत ने हँसकर कहा, "हमारी दीपाली ने तो गोया आज पी-एच० डी० के लिए अपनी पूरी थीसस पेश कर दी।"

"मैं आज सुनना चाहता हूँ!" सुनील ने एक बार गर्दन उठाकर फिर आरामकुर्सी की टेक लगा ली।

ज़ीनत को सपाट बातचीत से नफ़रत थी। बात में चमक लाने के लिए उसने फुलझड़ी छोड़ी, "दीपाली को लोक-कला की दुहाई देने का ख़बत हो गया है। मैं तो सिरे से लेबल के ख़िलाफ़ हूँ।"

पारुल बोली, "अब जवाब दो, दीपाली!"

सुनील ने केवल इतना ही कहा "क्यों न आज इस बहस को यहीं रोक दिया जाय। तुम्हारी तबियत अच्छी नहीं, दीपाली!"

दीपाली ने सँभलकर गाव-तकिये की टेक लगा ली। एक हल्की-सी मुस्कान उसके ओंठों पर फैल गई। बोली, "पारुल, जानती हो तुम्हारा नाम पारुल क्यों है?"

"अच्छा, तो नज़ला मुझ पर गिरने जा रहा है?" पारुल ने जैसे दीपाली के वार को रोकते हुए कहा, "सच पूछो तो पारुल बंगाली नाम है। जिन दिनों मेरा जन्म हुआ था, मेरे पिताजी कलकत्ते में थे। पड़ोस में कोई पारुल रही होगी उसकी देखा-देखी मुझे भी पारुल कहने लगे।"

"तो तुम्हारे पिताजी ने तुम्हें वह कहानी नहीं सुनाई ? बड़ी मजेदार कहानी है।"

"हम भी सुनेंगे।" जीनत ने अबाबील की तरह गरदन उठाकर कहा।

"पारुल एक फूल होता है बंगाल में।" दीपाली ने कहना शुरू किया, "लेकिन यह कहानी एक फूल से नहीं एक लड़की से शुरू होती है। लड़की का नाम था पारुल। उसके थे सात भाई। बहन भाइयों में बेहद मुहब्बत थी, और—"

"और वौर क्या !" "जीनत ने हँसकर कहा, "भला बहन-भाइयों में मुहब्बत क्यों न होगी ? अच्छा भई, माफ़ करना। पहले तुम अपनी कहानी ज़रूर सुना डालो।"

"घर में सौतेली माँ आ गई और—"

"और उसने बच्चों को तंग करना शुरू कर दिया होगा।" जीनत ने दोबारा दीपाली को टोका।

दीपाली ने सँभलकर कहा, "जीनत अब वायदा करो कि बीच में टोकोगी नहीं, तब मैं कहानी सुनाऊँगी।"

"अच्छा तो वायदा रहा !"

"हाँ, तो सुनो मैं कह रही थी कि सौतेली माँ ने पारुल को मार डाला और उसके सातों भइयों का भी नाम-निशान मिटा दिया, लेकिन जैसा कि इस कहानी में कहा गया है, पारुल मर कर भी मर न सकी। जिस गड्ढे में उसे दबाया गया वहाँ एक सफेद फूल खिल आया।"

"आज तो तुम भी सफेद फूल मालूम हो रही हो, दीपाली !" जीनत ने चुटकी ली, "भई, माफ करना। मैंने समझा कि तुम्हारी कहानी पूरी हो गई।"

"पारुल के सातों भाई चम्पा के सात फूल बन कर खिल उठे। जब भी कोई सफेद फूल को हाथ लगाने आता था, तो पारुल अपनी कहानी सुनाने लगती। हाँ, तो मैं कह रही थी कि जैसे पारुल मर कर भी मर

नहीं सकी थी और फूल बनकर खिल गई थी, लोक-कला भी कुछ ऐसी ही चीज़ है। सुनील की कला पर लोक-कला की छाप है। लोक-कला ही वह कला है जो अमर रहेगी। लाख इसे ज़मीन के नीचे दबाया जाय, हर बार यह फूल बन कर खिल उठेगी। लोक-कला कभी ज़मीन के नीचे दबकर नहीं रह सकती।"

"हियर ! हियर !" जीनत ने उलछकर कहा, और उसने शरारत से पारुल की गरदन में अपनी बाँहें डाल दीं।

लेकिन सुनील बराबर खोया-खोया-सा नज़र आ रहा था।



१४

दीपाली बीमार थी। रंगभूमि में 'मिट्टी की मूरत' के सम्बन्ध में अभी तक कोई फ़ैसला नहीं हो सका था। जब भी सुनील दीपाली से मिलने जाता, वह उसे विश्वास दिलाती कि लाहौर की स्टेज पर यह नाटक अवश्य खेला जायगा, रंगभूमि वाले न मानेंगे तो कहीं और प्रबन्ध कर लिया जायगा। लेकिन जब भी सुनील अपने कमरे में पहुँचता, वह मन-ही-मन में कहता—कब तक लाहौर में पड़े रहोगे ? रंगभूमि वाले तो टालमटोल किये जा रहे है। लाहौर को आपका काम पसन्द नहीं !···अगले ही क्षण जैसे उसका स्वाभिमान उभरकर कहता—हारने वाली असामी तो हम भी नहीं, अपनी ताकत तो हमें आजमानी ही होगी।

कभी अनारकली में पारुल और जीनत से भेंट हो जाती, तो वे 'मिट्टी की मूरत' की प्रशंसा में कुछ-न-कुछ कहना आवश्यक समझती। उस समय वह असमंजस में पड़ जाता। उत्तर में वह कभी मुस्करा पड़ता और कभी कहता—छोड़िये 'मिट्टी की मूरत' तो मिट्टी की मूरत ही रही। थीम जानदार नहीं। बात नहीं बनी। खैर दम रहा, तो कुछ और लिखेंगे।

इधर कुछ दिनों से पारुल और जीनत के साथ एक और लड़की से भी अक्सर उसकी भेंट हो जाती। यह थी तेजकौर। रंग साँवला, चेहरा सुडोल—लड़कों जैसा, देखने में पारुल और जीनत से भी कहीं ज़्यादा तेज़। ज़ीनत ने उसका परिचय कराते हुए बताया था कि अगरचे तेजकौर सिक्के-

बन्द ग्रेजुएट नहीं है, फिर भी उसका अंग्रेज़ी का ज्ञान कुछ कम नहीं है और इसमें उसके अपने परिश्रम का बहुत हाथ है। तेजकौर का बाप एक मामूली टेलर मास्टर था और बाग़बानपुरा में दुकान करता था।

"व्यास के किनारे एक गाँव में मेरा जन्म हुआ था।" एक दिन तेजकौर ने बताया, "गाँव में अपनी छत पर खड़ी होकर बचपन से ही मैं देखती आई हूँ कि व्यास किसी हद तक एक नीम दायरा-सा बनाता हुआ बहता है। व्यास के इस नीम दायरे का मुझ पर इतना प्रभाव पड़ा कि मुझे ऐसी हर चीज़ पसन्द आने लगी जो कुछ-कुछ वैसी ही मुड़ी हुई हो।" सुनील पर तेजकौर के इन शब्दों का गहरा प्रभाव पड़ा।

एक दिन ज़ीनत ने अपने जन्म दिन की खुशी में सुनील को अपने यहाँ डिनर पर बुलाया। बीमार होने के कारण दीपाली के आने का तो प्रश्न ही नहीं उठ सकता था। पारुल अभी तक नहीं पहुँची थी। ज़ीनत के अब्बाजान अमृतसर गये हुए थे, अम्मीजान खाने के इन्तज़ाम में लगी हुई थीं। ड्राइंग रूम में गपशप हो रही थी। ज़ीनत बोली, "हमारी तेज तो पारुल से भी जल्दी बात को पकड़ती है।"

"पारुल की ग़ैरहाज़िरी में यह कहना तो ठीक नहीं, ज़ीनत!" सुनील ने कहकहा लगाया। फिर उसने गम्भीर होकर कहा, "वैसे अगर तेजकौर भी उतनी ही समझदार है तो मुझे यह मानने में तो हरगिज़ कोई एतराज़ नहीं है।"

"ज़ीनत तो मुझे बना रही है!" तेज झट कह उठी, "कहाँ पारुल, कहाँ मैं!"

"ख़ैर छोड़ो," ज़ीनत ने हँसकर कहा, "अकबर इलाहाबादी का कलाम तो सुना होगा?"

"इरशाद!" सुनील ने बड़ी उत्सुकता से कहा।

ज़ीनत ने झूम-झूम कर यह शेर पेश किया :

बेपर्दा कल जो आईं नज़र चन्द बीवियाँ,
अकबर यह देख ग़ैरते क़ौमी से गड़ गया।

पूछा जो उनसे आपका पर्दा वह क्या हुआ,
कहने लगीं कि अक्ल पै मर्दों की पड़ गया !

तेजकौर ने छूटते ही कहा, "मैंने समझा तुम दूसरा ही शेर सुनाओगी, वही, हाँ ज़रा—"

"वह तो तुम्हारे मुँह से ही अच्छा लगेगा, तेज !" जीनत मुस्कराई।

तेजकौर ने कहना शुरू किया :

कहा मजनूँ से यह लैला की माँ ने,
कि बेटा, तू करे एम० ए० अगर पास;
तो फ़ौरन ब्याह दूँ लैला को तुझ से,
बिला हुज्जत मैं बन जाऊँ तेरी सास।
कहा मजनूँ ने यह अच्छी सुनाई,
कुजा आशिक कुजा कालिज की बकवास;
बड़ी बी आपको क्या हो गया है,
हिरन पै लादी जाती है कहीं घास ?
यह अच्छी आपने भी कह सुनाई,
मुझे समझा है कोई हरचरण दास ?
यही ठहरी जो शर्तें वसले लैला
तो इस्तीफ़ा मेरा बा हसरतो यास !

तेजकोर का उच्चारण काफ़ी ज़ोरदार रहा। अकबर इलाहाबादी के कलाम का यह अंश जीनत के अब्बा जान को विशेष रूप से पसन्द था। उसने गम्भीर होकर कहा, "एक बार जब अब्बाजान मुझे गांधी जी के दर्शन कराने वर्धा ले गये तो गांधी जी के सामने भी न जाने क्या सोचकर अब्बाजान ये शेर पेश कर दिये थे और गांधी जी ने हँसकर कहा था—मजनूँ एम ए० पास करे न करे, लैला ने तो बी० ए० पास कर लिया !"

सुनील ने कहा, "गांधी जी आप से मिलकर बेहद खुश हुए होंगे।"

जीनत ने जोर देकर कहा "गांधी जी का इशारा मेरी तरफ़ ही तो था। आज मेरे अब्बा जान यहाँ होते तो वह खुद यह किस्सा सुनाते, बल्कि

वह तो कहते—अब के आप भी हमारे साथ वर्धा चलें, वहाँ गांधी जी से मिलकर आपको कुछ कम खुशी न होगी। अब्बा जान तो कह रहे थे कि आपको अपने किसी ड्रामा में गांधी जी के ख़यालात पेश करने चाहिएँ। लाहौर काँग्रेस के दिनों में जब गांधी जी बाग़वानपुरा में हमारे घर पर तशरीफ़ लाये थे, तो मैं उन दिनों मां की गोद में खेलने वाली बच्ची थी। उन्होंने मुझे अपनी गोद में लेकर कहा था—'यह लड़की तो बड़े ऊँचे विचारों की निकलेगी।' यह बात आज भी मेरे अब्बा जान खुशी से कहा करते हैं।

"लैला और मजनूँ की बात तो बीच में ही छूट गई।" तेजकौर ने टोका।

"सुना भी करो, तेज!" जीनत ने सँभल कर कहना शुरू किया, "हमारे अब्बा जान को ड्रामा का बेहद शौक है। लेकिन जब ड्रामा पर बात करते-करते बीच में ही पालिटिक्स की बात शुरू कर देते हैं तो मुझे हँसी आ जाती है।"

तेजकौर ने हँसकर कहा, "और यह भी तो बता दो जीनत, कि जब भी तुम्हारे आब्बा जान पालिटिक्स की बात को बीच में ही छोड़कर दीपाली की प्रशंसा करने लगते हैं और ज़ोर देकर कहते हैं कि एक्टिंग में जीनत कभी दीपाली का मुकाबिला नहीं कर सकती, तो तुम्हारे दिल पर क्या गुज़रती है।"

जीनत ने बात का रुख बदलते हुए कहा, "दीपाली की एक्टिंग मुझ से कहीं बेहतर है। यह तो सही है। दीपाली के चाचा जी बरसों से कांग्रेस में मेरे अब्बा जान के साथ काम करते आ रहे हैं। दोनों पुराने दोस्त हैं और जेल में एक साथ दिन गुज़ार चुके हैं।"

इतने में पारुल भी आ निकली और जीनत हँसकर बोली, "आओ पारुल, तुम्हारे नम्बर की ही कमी थी।"

"एक नम्बर तो फिर भी कम रह गया!" पारुल ने सोफ़े पर बैठते हुए कहा, "दीपाली जब से बनारस से आई है, घर से नहीं निकली। कल

मैं उसके यहाँ गई थी। वह कह रही थी—क्या मैं कभी तुम्हारे साथ काफ़ी-हाउस भी जा सकूँगी? मैंने कहा—तुम बहुत जल्द अच्छी हो जाओगी! उस समय उसकी आँखों की उदासी देखते ही बनती थी। दीपाली की चाची तो कोई देवी है देवी। इतनी शरीफ़ कि कुछ न पूछो। उसकी बेटी रश्मि तो मुझे बहुत ही प्यारी लगी। मैंने कहा—चाची जी, दीपाली का ज़्यादा ध्यान रखा करो।"

इतने में अम्मी जान भी आकर बातचीत में सम्मिलित हो गईं। सुनील कुछ खोया-खोया-सा नज़र आ रहा था। अम्मी जान बोलीं, "सुनील, तुम्हें कौनसा ग़म सता रहा है?"

"अम्मी जान, कभी-कभी मैं सोचता हूँ कि मैं लड़की क्यों न हुआ।" सुनील ने अपने बालों में अंगुलियाँ फेरते हुए कहा।

इस पर ज़ोर का क़हक़हा पड़ा, जैसे बिल्लौर का गिलास गिरकर टूट गया हो। ज़ीनत तो हँसते-हँसते दोहरी हो गई, "अम्मी जान, देखा सुनील का अन्दाज़। अब अगर सुनील के दिमाग़ पर लड़की बनने की धुन सवार है, तो हमीं ने क्या बिगाड़ा है? मैं भी कह सकती हूँ—काश मैं लड़का होती!"

"आज दीपाली यहाँ न हुई।" अम्मी जान ने हँसकर कहा, "मैं सब समझती हूँ कि सुनील इतना खोया-खोया क्यों नज़र आ रहा है। मैं तो कई बार दीपाली की चाची से कह चुकी हूँ कि लड़का बुरा नहीं। पीछे इसका घर लखपति ख़ानदान न सही, लेकिन लड़के में तो कोई ऐब नहीं?"

"और हम कब कहते हैं कि लड़के में ऐब है।" पारुल ने चुटकी ली।

"लड़के में ऐब नहीं तो लड़की में भी तो ऐब नहीं?" ज़ीनत ने जैसे सुनील और दीपाली के विवाह की सरस कल्पना करते हुए कहा।

सुनील कुछ न बोला। उसके हाथ में आज का अख़बार था जो उसने मेज़ से उठाकर पढ़ना शुरू कर दिया था।

"इस तरह से ग़म नहीं किया करते !" अम्मी जान ने गम्भीर होकर सुनील को सम्बोधित किया, "मैं सब ठीक कर दूँगी। लड़की को तो पराये घर जाना ही होता है। आज नहीं तो कल, उसका डोला तो उठकर ही रहता है। बड़े-बड़े बादशाह भी तो शाहज़ादियों को घर में बिठाकर नहीं रह सकते।"

जीनत सहसा ख़ामोश हो गई। जैसे वह आँखों-ही-आँखों में अपनी सहेलियों से कह रही हो—मेरे सामने वह दिन आ रहा है जब हम लाख इन्कार करने पर भी बाबुल का देश छोड़कर चली जायेंगी।

उसी समय नौकर ने आकर कहा, "डिनर तैयार है।"

डिनर बहुत बढ़िया था। आँखों-ही-आखों में सभी ने अम्मी जान की प्रशंसा की—मेहमाँनवाज़ी हो तो ऐसी। क्यों न हो, जीनत का जन्मदिन बरस में एक ही बार आता है। "या तो दावत दी न जाय, दी जाय तो रंग बाँध दिया जाय !" पारुल ने हँसकर कहा, "अब के तो मुझे भी अपने जन्मदिन पर जीनत से होड़ लेनी पड़ेगी।"

"मैंने तो ज़रा भी मेहनत नहीं की !" जीनत ने हँसकर कहा, "अम्मी जान को क्रेडिट दो, मुझे नहीं।"

सुनील ने बात का रुख़ बदलते हुए कहा, "जीनत, मैं तो चाहूँगा कि 'मिट्टी की मूरत' में तुम्हारी एक्टिंग भी दीपाली से कम न रहे।"

"लेकिन यह खेला कब जायगा ?" अम्मी जान ने हँसकर कहा, "रंगभूमि वालों ने तो शायद इसे खेलने से इन्कार कर दिया। मैं तो अल्लाह पाक से यही दुआ माँगती हूँ कि जब दीपाली जैसी हीरोइन मिल गई है तो न सिर्फ़ यह ड्रामा खेला जाय बल्कि यह कामयाब होकर रहे।"

सुनील कुछ न बोला। उसके चेहरे पर निराशा की रेखाएँ उभरीं, जैसे उसे ड्रामा खेले जाने की बिलकुल आशा न हो, और इसके कामयाब होने का तो जैसे प्रश्न ही न उठता हो।

"अम्मी जान की दुआ हमेशा सच होकर रहती है !" पारुल ने गम्भीर होकर कहा, "एक बात पूछूँ, जीनत ? अब तो ख़ैर दीपाली को ही 'मिट्टी

की मूरत' की हीरोइन का पार्ट दिया जा चुका है, लेकिन अगर कहीं यह पार्ट तुम्हें दे दिया जाय तो कैसा रहे ?"

"अब एक्टिंग तो एक्टिंग है !" जीनत ने गम्भीर होकर कहा, "हमारे अब्बा जान भी तो कहा करते हैं कि ज़िन्दगी भी एक ड्रामा है। ड्रामे की कामयाबी का दारोमदार बहुत-सी बातों पर है। हर एक्टर मन से एक्टिंग करे, ड्रामा ठीक लिखा गया हो, पूरी तरह रिहर्सल की गई हो और स्टेज का पूरा इन्तजाम हो—तब जाकर ड्रामा कामयाब होता है।"

तेज कुछ न बोली। पारुल ने हँसकर कहा, "मैं चाहूँ तो दीपाली से कहकर 'मिट्टी की मूरत' में उसका पार्ट तुम्हें दिला दूँ जीनत, और तुम्हारा पार्ट उसे दिला दूँ। मेरा तो ख़याल है कि सुनील को भी इसमें कोई एतराज न होगा।"

जीनत के लिए भी मुँह में आई हुई बात को पीछे धकेलना सहज न था। बोली, "किसी ड्रामा की हीरोइन बार-बार थोड़े ही बदली जाती है। और फिर इस ड्रामा में तो मैं अपने लिए साइड रोल ही मुनासिब समझती हूँ।"

"चमकने वाले तो साइड रोल में भी चमक जाते हैं !" पारुल ने चुटकी ली।

सुनील ने बात का रुख़ बदलते हुए कहा, "आज का डिनर तो खूब रहा, अम्मी जान !"



१५

एक दिन सवेरे ही ज़ीनत और दीपाली सुनील से मिलने आईं तो सुनील बैठा कुछ लिख रहा था। सूरज की पहली किरणों में सुनील के घुँघराले बाल चमक रहे थे। दोनों सहेलियाँ दरवाजे की दरज़ में से उसे देखती रहीं। फिर दोनों को एक शरारत सूझी। दीपाली ज़ीनत के कहने से ज़ीने में जाकर छिप गई और ज़ीनत ने स्वयं भीतर जाकर कहा, "अजी सुनील साहब, किसी दिन तो छुट्टी भी किया करो। हर वक्त लिखना, लिखना, लिखना। इस तरह से तो आदमी पागल हो जाता है। वहाँ दीपाली बीमार पड़ी है और यहाँ आपको लिखना सूझ रहा है।

"लेकिन दीपाली तो यहाँ आने को कह रही थी कल शाम ही।" सुनील ने गम्भीर होकर कहा, "तुम बैठो, वह भी आ रही होगी।"

"अजी उठकर कपड़े बदलिये। इस से पहले कि वह यहाँ आये, क्यों न हम वहाँ जा पहुँचें? एक बात पूछूँ, सुनील साहब! दीपाली इतने दिन बीमार रही और आप मुश्किल से चार-पाँच बार ही उनके यहाँ गये होंगे। तो क्या लिखने वालों को लिखने का इतना ही ख़ब्त होता है?"

"ख़ैर, यह बात छोड़ो, ज़ीनत! कल शाम ही तो उसको मिलकर आया हूँ। वह कह रही थी—मैं बिलकुल अच्छी हो गई हूँ। आज सवेरे यहाँ आने का उसने पक्का वादा किया था।"

"अजी उसके वादे हमेशा सच्चे नहीं होते। उसे मैं ज़्यादा

जानती हूँ।"

"अब तो मैं भी उसे जानता हूँ। मेरा दिल तो यही कहता है कि वह ज़रूर आयेगी।"

चट से दरवाज़ा खोलकर दीपाली कमरे के अन्दर आ गई और छूटते ही बोली, "तुम्हारा दिल ठीक कहता है, सुनील!"

"अच्छा अब समझा!" सुनील ने हँसकर कहा, "यह दोनों सहेलियों की शरारत थी! तो तुम दरवाजे की ओट से सब सुन रही थीं, दीपाली? अच्छा ही हुआ कि मेरे मुँह से कोई ख़राब बात नहीं निकली!"

दीपाली आराम-कुर्सी पर बैठ गई। मालूम होता था कि उसकी कमज़ोरी दूर होने में कुछ दिन लगेंगे। ज़ीनत पास वाली बुक-शेल्फ़ पर ही डट गई थी जिस से सुनील तिपाई का काम लेता था। नीचे से एक पुस्तक निकालकर वह यों ही पन्ने पलट रही थी। सुनील अपने पलंग पर जा बैठा था। न जाने क्या सोचकर उसने कहना शुरू किया, "मैं तो उसी वक्त लिखने बैठता हूँ जब मैं लिखे बग़ैर रह ही नहीं सकता। उस वक्त मुझे महसूस होता है कि मेरे दरवाजे के बाहर कोई ताकतवर इन्सान बन्दूक लिये बैठा है और वह अपनी बन्दूक दिखा-दिखाकर मुझ से कह रहा है—'जो लिखना है फौरन लिख डालो वरना तुम्हारी जान की खैर नहीं।' अब मेरे लिए यह बताना तो कठिन है कि वह ताकतवर इन्सान कौन है।"

"तो वह आपको बन्दूक से क्यों डराता है?" ज़ीनत ने कहकहा लगाया, "आपकी जगह मैं होती तो लिखने से साफ़ इन्कार कर देती। अब बताइए कि यह भी क्या अजब मज़ाक है कि कोई आदमी मुझे बन्दूक दिखाकर लिखने को कहे। तुम्हारा क्या खयाल है, दीपाली?"

"अब जब सुनील यह कह रहा है, तो हमें उसकी बात पर यकीन करना होगा।" दीपाली ने अपने चेहरे पर झुकी हुई लट को ऊपर उठाते हुए कहा।

"लेकिन तुमने तो उस दिन कहा था दीपाली, कि सुनील के ड्रामा पर लोक-कला का रंग छाया हुआ है। तो क्या लोक-कला भी बन्दूक की गोली

से डरकर पैदा होती है ?" ज़ीनत हँसते-हँसते दोहरी हो गई।

दीपाली खामोश बैठी रही। वह सोच रही थी कि किसी तरह सुनील का ड्रामा खेला जा सके और कम-से-कम उसकी प्रसिद्धि एक कदम तो आगे बढ़े। रंगभूमि वालों पर उसे बहुत क्रोध आ रहा था। 'मिट्टी की मूरत' में उन्हें दोष-ही-दोष क्यों नज़र आ रहे हैं ? नई चीज़ को यों सन्देह की दृष्टि से देखा जायगा, तब तो कला पुराने मलबे के नीचे ही दबी रहेगी और शायद इसी तरह एक दिन दम तोड़ देगी।

ज़ीनत ने पुस्तक से आँखें उठाकर कहा, "सुनील साहब, एक बात तो साफ़ है कि आपको लाहौर पसन्द है, भले ही लाहौर ने आपको पसन्द न किया हो।"

सुनील के सामने बहुत से काग़ज़ बिखरे हुए थे। मालूम होता था कि वह कई घण्टों से लिख रहा था। जैसे उसे इस बात की ज़रा भी परवाह न हो कि कोई उसकी रचना को पसन्द भी करता है या नहीं। न जाने क्या सोचकर उसने कहना शुरू किया, "कभी-कभी मैं सोचता हूँ कि मैं क्यों लिखता हूँ ? ख़ैर, वह बन्दूक वाली बात तो मैं मज़ाक में कह गया था। कलाकार कला की साधना में क्यों इतना पागल हो जाता है ? क्यों उसके सामने एक नई दुनिया उभरने लगती है ? क्यों वह अपने ही कल्पित संसार में खोया रहता है ?—ये प्रश्न कभी-कभी मेरा रास्ता रोककर खड़े हो जाते हैं। एक तरफ़ युद्ध की शक्तियाँ जीवन को मलियामेट करने पर तुल जाती हैं, तो दूसरी ओर एक कलाकार अपनी कला-साधना में कैसे इतना लीन रह सकता है ? एक तरफ़ विनाश, दूसरी तरफ़ निर्माण—इन दोनों में कैसे कोई ताल-मेल बिठा सकता है ?"

ज़ीनत की आँखों में चमक थी, जैसे वह सुनील से ऐसी ही बातें सुनने की आशा रखती हो। उसने अबाबील की तरह गर्दन उठाकर कहा, "आपका मतलब है, नागासाकी और हिरोशिमा पर ऐटम बम क्यों गिराये गये ?"

दीपाली को तो जैसे इस बहस से कोई वास्ता ही न हो। ज़ीनत ने

पुस्तक उसके हाथ में थमाते हुए कहा, "लो तुम तसवीरें देखो, हम ज़रा जमकर बहस कर लें।"

दीपाली ने ज़ीनत के हाथ से पुस्तक लेकर उसके डस्ट-कवर पर नज़र जमा दी। आज वह केवल सुनना चाहती थी, या शायद सब-कुछ सुनते हुए भी कुछ भी समझना नहीं चाहती थी।

ज़ीनत बोली, "आपको याद है न, सुनील साहब! जब जंग बन्द होने की खुशी में लाहौर के टाउन-हाल के क़रीब रोशनी की गई थी, तो हम एक साथ रोशनी का यह मेला देखने गये थे। हर चेहरे पर खुशी नाच रही थी, हर क़दम खुशी के ताल पर उठ रहा था। एक सिरे से दूसरे सिरे तक लोग बाराती मालूम हो रहे थे। औरतें और लड़कियाँ बढ़िया-से-बढ़िया मेक-अप करके आई थीं। बच्चे सीटियाँ बजा रहे थे, जैसे आने वाले दौर के शहरी इस बात पर खुशियाँ मना रहे हों कि अब जंग न होगी।"

"कुछ लोग तो आज भी यही कहते हैं कि जंग तो कभी बन्द नहीं हुई। पहली जंग और दूसरी जंग, इस किस्म के नाम फ़ज़ूल हैं।"

"लेकिन वह रोशनी तो जंग बन्द होने की खुशी में ही की गई थी। मुझे याद है सुनील साहब, कि उस रात किस तरह हम लोगों ने नागासाकी और हिरोशिमा पर बम गिराये जाने के खिलाफ़ गरमागरम बहस की थी और किसी नतीजे पर पहुँचे बगैर ही इस नुक्ते पर तो हम लोग मुत्तफ़िक हो गये थे कि इस से पहले कभी दुनिया में इतना जुल्म नहीं हुआ था।"

"क्या जंग वाकई बन्द हो गई?—यह सवाल तो बार-बार मेरे मन की चारदीवारी से टकराने लगता है। कुछ लोग यह भी कहते हैं कि अब जंग न हो, लेकिन मेरा मन कहता है कि जंग तो अब भी हो रही है।"

"आपका मतलब है कि नेकी और बदी की जंग हमेशा जारी रहती है?"

"खैर, यह बहस तो यों खत्म न होगी। एक बात जो मुझे लिखने के लिए उकसाती है, यही है कि इससे पहले कि हम पर ऐटम बम गिराये

जायँ, हम अपना काम लगातार करते चले जायँ।"

इतने में तेज़कौर ने प्रवेश किया। उसके साथ नीम-फ़ौजी लिबास में एक सरदार साहब भी थे।

"यह रहे मेरे मामा जी!" तेजकौर ने परिचय कराते हुए कहा, "यह हैं सुनील जी। इनके बारे में मैं पहले ही बहुत-कुछ बतला चुकी हूँ। ये रहीं मेरी सहेलियाँ—दीपाली और ज़ीनत।"

सुनील उठकर खड़ा हो गया। उसने दूसरे कमरे से कुर्सी लाकर सरदार साहब को बैठने को कहा। तेजकौर ज़ीनत की बग़ल में खड़ी हो गई।

सरदार साहब उठकर पलंग पर बैठ गये और बोले, "तेज, तू आराम से बैठ जा कुर्सी पर।"

"आपको पहले भी कहीं देखा है, सरदार जी।" सुनील ने सरदार जी को कुछ-कुछ पहचानते हुए कहा।

"ज़रूर देखा होगा।" सरदार साहब मुसकराये, "वाहगुरु सच्चे पादशाह दे सिंघ को आ पने ज़रूर देखा होगा।"

"लेकिन याद नहीं आ रहा है, सरदार जी!"

सरदार जी ने अपनी डायरी सुनील के आगे खोलकर दिखाते हुए कहा, "अपना नाम और पता तो आप जी ने अपने हाथ से लिख रखा है मेरी डायरी में।"

लेकिन सुनील को यह याद नहीं आ रहा था कि यह मुलाकात कहाँ हुई थी। उसने क्षमा-याचना के स्वर में कहा, "इतना तो बता ही दीजिए सरदार जी, कि हम लोग कहाँ मिले थे?"

"ओ भोलयो पादशाहो, सिंघों को इतनी जल्दी भूल गये?" सरदार जी ने हँसकर कहा, "पिछले सोमवार बस दे विच मुलाकात हुई हमारी-आपकी। आप जी ने अपने मुखारबिन्द से उच्चारा कि सिंघ आप जी को जरूर मिलें। और वाहगुरु सच्चे पादशाह दे सिंघ आप जी दे पास हाज़िर हैं।"

"मैं क्या सेवा कर सकता हूँ?"

"सेवा भी ज़रूर बतायेंगे। सिंघाँ दी पेन्शन अंग्रेज ने जबत कर ली। सिंघ तो किसी दे पास से कुछ नहीं माँगते। सिंघाँ दा तो वाहगुरु रखवाला है। हमने उस दिन भी बताया था कि सिंघों ने दो जंगें देखीं। पहली जंग विच सिंघ बसरे गये थे, और सिंघों ने ही बसरे से लौटकर वह गीत बनाया था—'छई रन्न गई बसरे नूँ, छई, कि मोड़ीं बाबा डाँग वालया, छई।'[1]—और दूसरी जंग में फिरंगी ने एक पंजाबी रिसालदार की पेन्शन जबत कर ली और हमारा मुल्क गुलामी दे बोझ दे नीचे इतना दबा हुआ है कि हमारा कोई अफसर अपने एक रिसालदार भाई दी पेन्शन बहाल नहीं करा सकता। अब इस दा इलाज सिंघों ने यही सोचा है कि अंग्रेज़ बहादुर को दरखास्त जरूर दी जाय।"

"खैर, आपकी पेन्शन तो बहाल हो जायगी, सरदार जी!" सुनील ने हँसकर कहा, "और आपकी दरखास्त तो अभी लिख देंगे। पहले यह बताइए कि आप क्या पीयेंगे ?"

"सिंघों को कुछ नहीं चाहिए।"

"फिर भी कुछ तो ज़रूर लें, चाय लेंगे या लस्सी !"

"तो फिर लस्सी ही पीयेंगे सच्चे पादशाह दे सिंघ !"

सुनील का संकेत पाकर तेजकौर नीचे चली गई। सरदार जी ने झूम-झूमकर कहना शुरू किया :

"पहले सारी बात सुन लो। दूसरी जंग दे दिनों में सिंघों ने कई बार फिरंगी दी चालों को समझकर अपने भाइयों को बताया कि क्या मामला है। देस दी आज़ादी दी आवाज़ भी पहले-पहल सिंघों ने बुलन्द की। सिंघों ने अपनी डायरी विच अंग्रेज़ दी चाल दे बारे सारा हाल लिख डाला। अब सिंघों को यह मालूम नहीं था कि हमारी डायरी पकड़ी जायगी। फिरंगी ने हमारी डायरी में हमारे दिल दा हाल पढ़वा कर सुना और उसका मतलब भी पूछा। आप तो समझदार हैं। हमारे बीच में कोई-कोई काली

१. पंजाब का एक प्रसिद्ध लोकगीत—'छई, स्त्री बसरे की ओर चली गई, छई ! अरे ओ लट्ठ वाले बाबा, उसे उधर से मोड़ दो, छई !'

भेड़ तो रहती ही है। ऐसी ही किसी भेड़ ने मुख़बरी कर दी थी और उसी भेड़ ने फिर सिंघाँ दी बात दा मतलब समझा दिया फिरंगी को। और फिरंगी ने झट सिंघाँ दी पेन्शन जबत करने दा आर्डर निकाल दिया।"

दीपाली ने पुस्तक बुक-शेल्फ़ में रख दी और बड़े ध्यान से सरदार जी की बातें सुनने लगी। कभी-कभी वह जीनत की तरफ भी देख लेती, जैसे आँखों-ही-आँखों में कहना चाहती हो कि सरदार जी भी कोई पहुँचे हुए इन्सान हैं।

कभी सरदार जी फ़ौज के मार्च करने की कहानी सुनाने लगते और कभी प्रसंग को फ़िरकी की तरह उलटा घुमाकर यह किस्सा छेड़ देते कि किस तरह अंग्रेज़ अपनी डिप्लोमेसी दिखाकर फ़ौज को पीछे हटने का आर्डर निकाल देता था। कभी वह इस बात पर ज़ोर देते कि अंग्रेज़ की जीत में ऐटम बम का भी उतना हिस्सा नहीं, जितना सचमुच हिन्दुस्तानी फ़ौजों की ताकत का, कभी वह दूसरे मुल्कों के जीवन से अपने मुल्क का मुकाबिला करते हुए इस बात की छाप लगा देते कि हमारा मुल्क जो कभी सोने की चिड़िया था, अब बहुत ग़रीब हो गया है। शायद वे अभी तक फ़ैसला नहीं कर पाये थे कि अंग्रेज़ को अभी यहाँ से चले जाना चाहिए या दो चार साल ठहर कर।

इतने में तेजकौर लौट आई। उसके पीछे-पीछे लस्सी का गिलास लिये हुए एक छोकरा आ पहुँचा। सरदार जी ने लस्सी का गिलास लेकर मुँह से लगाया और पूरा गिलास चढ़ा गये। तेजकौर ने उठकर अपना रुमाल सरदार जी को दे दिया। सरदार जी ने गिलास छोकरे को देते हुए झट रुमाल से अपनी मूँछें पोंछ लीं और कहना शुरू किया :

"सिंघाँ दी दरखास्त सूबे दे गवर्नर दे नाम लिखी जायगी। गवर्नर साहब को लिखना है कि रिसालदार अर्जुनसिंघ तो उनको अपना भाई समझता है। गवर्नर बहादुर को यह भी लिखना है कि जैसा फ़ौजी गवर्नर बहादुर है, वैसा फौजी सच्चे पादशाह दा सिंघ है। और अगर गवर्नर

सिंघाँ दी बात नहीं सुनेगा तो सच्चे पादशाह दे सिंघ वायसराय बहादुर को अपनी दरख़ास्त भेजने दे लिए मजबूर हो जायेंगे।" यह कहते-कहते सरदार जी खाँसने लगे।

सुनील पूरे ध्यान से सारी बात सुन रहा था और तीनों सहेलियाँ भी स्तब्ध-सी होकर सरदार जी की बातों में रस ले रही थीं। सरदार जी ने अपनी बात जारी रखते हुए कहा :

"सिंघाँ दी दरख़ास्त विच यह भी जरूर लिखा जायगा कि रिसालदार अर्जुनसिंघ ने हिटलर दे एक सौ रिसालदारों को ठण्डा किया और यह भी लिखा जायगा कि अगर सच्चे पादशाह दा सिंघ अर्जुनसिंघ यह बहादुरी न दिखाता तो अंग्रेजाँ दा नाम-निशान भी दिखाई न देता ; यह भी कि अर्जुनसिंघ दे पास दस तमग़े मौजूद हैं, यह भी कि गवर्नर तो गवर्नर, अर्जुनसिंघ तो वायसराय बहादुर को भी अपना फ़ौजी भाई समझता है। कोई बात छूट न जाय ! कोई बात छूट गई तो इस दा बुरा असर पड़ेगा।"

फिर अर्जुनसिंघ ने अपने झोले से कुछ काग़ज़ात निकालकर सुनील के हाथ में थमा दिये और कहा, "नम्बर वगैरा इन काग़जों में देख लो। इतना ध्यान रखना कि कहीं नम्बर गल्त न लिखा जाय।"

सुनील उसी समय सरदार जी की दरख़ास्त लिखने बैठ गया। बीच-बीच में वह कई बातें सरदार जी से पूछता रहा। सरदार जी हर बात का जवाब देते समय मूँछों को ताव दे लेते और ज़ोर देकर कहते, "गुरु दे सिंघ चाहते हैं कि यह दरख़ास्त गोली की तरह जाकर गवर्नर को लगे।"

दरख़ास्त लिखी जा चुकी थी। अर्जुनसिंह ने उसे पूरे ध्यान से सुना और खुश होकर कहा, "दरख़ास्त तो वैसी ही बन गई जैसी सच्चे पादशाह दे सिंघ चाहते थे। दो जंगाँ विच सिंघों ने दुश्मनाँ दे मक्कू बाँध डाले। बहादुरी से गोलियाँ चलाईं। दसम पादशाह दा नाम लेकर जीत हासिल की। उस दिन जब मेरी-आपकी बस में मुलाकात हुई, तो मैं समझ गया था कि आप जी तो दरख़ास्त लिखने में विलायत पास को भी ठण्डा कर सकते हैं। इसीलिए तो मैंने आप जी दे हाथ से आप जी दा नाम और

पता अपनी डायरी में लिखवा लिया था। आज सवेरे बीबी तेज ने आप जी दा नाम लिया, तो मैं समझ गया कि हो-न-हो आप जी वही गुरमुख हैं, जिन्हाँ दे साथ रिसालदार अर्जुनसिंघ दी बस विच मुलाकात हुई। जब सिंघों ने डायरी खोलकर बीबी तेज को आप जी दा नाम और पता दिखाया, तो उसने भी तसदीक की कि यह गुरमुख आप जी ही हैं और हम चलकर आप जी दी सेवा विच हाजिर हो गये। तो अब सिंघाँ को आज्ञा मिलनी चाहिए।"

"इतनी भी क्या जल्दी है, मामा जी ?" तेजकौर ने कहा, "हमारे सुनील जी तो ड्रामा लिखते हैं। आपकी बातें तो इनके काम आ सकती हैं।"

"कैसा डरामा लिखते हैं ?" रिसालदार अर्जुनसिंह ने अपने सब कागज़ात सँभालकर थैले में रखते हुए कहा, "सिंघाँ दी बातें तो कभी खतम ही नहीं होंगी, दिल खोलकर सुन लो। बोलो कौन सी बात सुनोगे ? हाँ, सिंघों को याद आ गई एक बात। बड़ी खास बात। ऐसी बात कि अगर कोई अपने डरामे में उसका जिकर भी कर दे तो देखने वालों को मजा आ जाय !"

सरदार जी की बातें सुनते-सुनते दीपाली के पेट में बल पड़ गये थे। ज़ीनत भी चाहती थी कि सरदार जी अपनी मज़ेदार बातें जारी रखें। आँखों-ही-आँखों में दोनों सहेलियों ने एक-दूसरी की तरफ़ देखा। तेजकौर पर भी जैसे किसी ने जादू कर दिया हो।

सरदार जी ने जंग बन्द होने की खुशी में मैदाने-जंग में होने वाले समारोह का प्रसंग छेड़ दिया।

"जब दूसरी बड़ी जंग खत्म हुई तो गुरु दे सिंघाँ दी ही नहीं, सारे हिन्दुस्तान दी इज्जत बच गई। ओ भाई लोगो, आप पूछोगे कैसे बच गई! तो सारी बात सच्चे पादशाह दे सिंघ खोलकर सुनायेंगे। मैदाने-जंग विच अमन दे झण्डे लहराये जाने लगे, तो अपने-अपने वतन से दूर और

नज़दीक वाले सभी फौजी भाइयों से कहा गया कि वे अपने-अपने देश दा कौमी गीत सुनायें। उस वक्त सच्चे पादशाह दे सिंघ बड़ी सोच-विचार विच डूब गये। सब ने रिसालदार अर्जुनसिंघ दे मुँह दी तरफ़ देखना शुरू कर दिया। अब अर्जुनसिंघ ने दसम पादशाह दा नाम लेकर अरदास की कि हे सच्चे पादशाह, चिड़ियाँ दे साथ बाज़ाँ को लड़ाने वाले सच्चे पादशाह, आज तो अपने सिंघाँ दी लाज रख ले। तो भाई लोगो, दसम पादशाह ने रिसालदार अर्जुनसिंघ दी लाज रख ली। दसम पादशाह तो बड़े भारी महाकवि थे। बस जी, फिर क्या हुआ, सच्चे पादशाह ने अपने गुरमुख अर्जुनसिंघ को भी कवि बना दिया।"

"तो आपने कोई अपनी कविता रचकर सुनाई थी, मामा जी ?" तेज कौर ने झट पूछ लिया। "तो अब तक कभी अपनी कविता मुझे क्यों नहीं सुनाई ?"

"ओ भोलिये, चैन नाल बैठ ! वह कविता भी आ रही है। पहले उस कविता दा हाल तो पूरा कर लेने दे। हाँ तो सुनो, भाई लोगो ! जब सिंघों को कहा गया कि वह भी अपना कौमी गीत सुनायें तो रिसालदार अर्जुनसिंघ ने इसके लिए अपनी सेवा पेश कर दी। पहले उसने अपने फ़ौजी भाइयों को बताया कि एक पार्टी 'घुग्गी दन्द बटेरा'[1] बोलेगी और दूसरी पार्टी इसके जवाब में 'हाय हाय शेरा !'[2] कहेगी। बस जी, फिर तो काम बन गया। सिंघाँ दी इज्जत बच गई। हमने दो टोलियाँ दे विच बट कर अपने देश दा यह नया जोड़ा हुआ कौमी गीत हवा में उछाल दिया :

घुग्गी दन्द बटेरा, ओ घुग्गी दन्द बटेरा,
हाँ घुग्गी दन्द बटेरा !
हाय हाय शेरा, हाय हाय शेरा, हाय हाय शेरा !
घुग्गी दन्द, ओ घुग्गी दन्द,
ओ घुग्गी दन्द बटेरा !

१. फ़ाख्ता के दाँत में बटेर।
२. हाय हाय, ओ शेर!

हाय हाय, ओ हाय हाय, भई हाय हाय शेरा !
घुग्गी, ओ घुग्गी, घुग्गी, घुग्गी, घुग्गी !
दन्द बटेरा, दन्द बटेरा, दन्द बटेरा !
घुग्गी दन्द, घुग्गी दन्द, घुग्गी दन्द !
दन्द बटेरा, दन्द बटेरा, दन्द बटेरा !
हाय हाय शेरा, हाय हाय शेरा, हाय हाय शेरा !
बले, बले, बले, बले ऽ ऽ ![1]

ओ भाई लोगो, आपको शायद यक़ीन भी न आये, पर यह बात तो सिंघाँ दे रिकार्ड विच लिखी जा चुकी है कि फौजी जीत दे उस जशन विच हिन्दुस्तानी सिपाहियाँ दा गीत सब से ज्यादा पसन्द किया गया था, बल्कि यह गीत इतना बढ़िया रहा कि दूसरे मुल्काँ दे फौजी भाई भी हमारे साथ शामिल हो गये थे। हमारी पंजाबी भाषा को वह पूरी तरह समझ तो न सकते थे और ठीक-ठीक उच्चारण भी नहीं कर सकते थे। पर जी, दसम पादशाह दी कुछ ऐसी किरपा हुई कि सब देशाँ दे मुकाबिले विच हिन्दुस्तान दा यह कौमी गीत अव्वल नम्बर रहा। बस जी, क्या पूछते हो, यह उसी रात दी बात है कि रिसालदार अर्जुनसिंघ ने अपने कैम्प विच आकर अपनी डायरी विच सब बातें लिख डालीं और साथ यह भी लिख दिया कि हिन्दुस्तान अब अंग्रेज़ दा गुलाम नहीं रह सकता और उसे अपना बोरिया-बिस्तर गोल कर के हिन्दुस्तान को हिन्दुस्तान वालों के हाथों में देकर भाग जाना होगा। वह डायरी पकड़ ली गई। सिंघाँ दे खिलाफ कोर्ट मार्शल

१. फ़ाख्ता के दांतों में बटेर आ गया। अरे फ़ाख्ता के दांतों में बटेर, हां फ़ाख्ता के दांतों में बटेर ! हाय हाय ओ शेर, हाय हाय ओ शेर, हाय हाय ओ शेर ! फ़ाख्ता के दांतों में, अरे फाख्ता के दांतो में, अरे फ़ाख्ता के दांतों में बटेर आ गया। हाय हाय, अरे हाय हाय, भई हाय हाय, ओ शेर ! फ़ाख्ता, ओ फ़ाख्ता, फ़ाख्ता, फ़ाख्ता, फ़ाख्ता ! दांतों में बटेर, दांतों में बटेर, दांतों में बटेर ! फ़ाख्ता के दांतों में, फ़ाख्ता के दांतों में, फ़ाख्ता के दांतों में ! दांतों में बटेर, दांतो में बटेर, दांतों में बटेर ! हाय हाय ओ शेर, हाय हाय ओ शेर, हाय हाय ओ शेर ! शाबाश, शाबाश, शाबाश, शाबाश !

तो खैर नहीं हुआ, लेकिन उनकी पेन्शन जरूर जबत कर ली गई। उसके लिए तो आप जी ने दरखास्त लिख ही दी और अब सिंघाँ दा काम बन ही जायगा।"

दीपाली, ज़ीनत और तेजकौर खुश थीं। अर्जुनसिंह की बातों में वे पूरी तरह खो गई थीं। उनके कानों में अब तक सरदार जी का गीत गूँज रहा था।

कोई और समय होता तो दीपाली झट पूछ लेती कि सरदार जी एक तरफ़ आप हिन्दुस्तान को आज़ाद देखना चाहते हैं और दूसरी तरफ़ आपको अपनी पेन्शन बहाल कराने की इतनी चिन्ता सता रही है, लेकिन उसने खामोश रहना ही उचित समझा।

"जाते-जाते अंग्रेज फिर रुक गये।" अर्जुनसिंह ने मूँछों पर ताव देकर कहा, "गुरु दे सिंघ तो आज भी यही सोचते हैं कि एक-न-एक दिन अंग्रेज को अपना बिस्तर गोल करना ही पड़ेगा।"

"अंग्रेज को यहाँ से भगाने की तो शहीद भगतसिंह ने भी कुछ कम कोशिश नहीं की थी, मामा जी!" तेजकौर ने जोर देकर कहा, "जिस साल भगतसिंह को फाँसी दी गई थी, उसी साल मेरा जन्म हुआ था। मेरे बाबा जी हमेशा कहा करते कि भगतसिंह जैसा शहीद पहले कभी नहीं हुआ। वह हमेशा आसमान पर एक तारे की ओर अंगुली उठाकर यह कहा करते थे कि यह तारा भगतसिंह के शहीद के होने के बाद ही दिखाई देने लगा था। बल्कि वह तो कहा करते थे कि इस तारे में भगतसिंह की आत्मा चमक रही है। कई बार मैं देखती थी कि किस तरह साँझ के समय चौगान में खड़े होकर बाबा जी लोगों को वह तारा दिखा रहे हैं और किस तरह सबकी अंगुलियाँ एक-साथ उस तारे की ओर उठ गईं।"

"ओ भाई लोगो, हम तो भगतसिंघ दे पैराँ दी धूल भी नहीं हैं, चाहे हम वाहगुरु सच्चे पादशाह दे सिंघ हैं और दो जंगाँ विच लड़ आये हैं!" अर्जुनसिंह की आँखों में चमक आ गई, "जब भगतसिंघ ने दिल्ली दी असम्बली विच बम गिराया और हमारे सोये हुए देश को जगाया तो

हमारे बहुत-से लीडर तो अभी पंघूड़ियाँ विच पड़े लोरियाँ सुन रहे थे।"

अर्जुनसिंह अपना झोला उठाकर खड़ा हो गया।

"अच्छा तो सरदार जी कभी-कभी दर्शन देते रहा करो।" सुनील ने प्रणाम किया।

अर्जुनसिंह चला गया तो तेजकौर बोली, "मामा जी की दरख्वास्त का न जाने क्या परिणाम निकलेगा?"

"अब मामा जी की बात को यहीं पर टप्प कर दो, तेज!" जीनत ने भुँझलाकर कहा।

दीपाली पहले तो खामोश रही, फिर उसने भी जीनत का पक्ष लेना आवश्यक समझा। बोली, "तेज, अब हम अपनी बात भी तो करेंगे।"

लेकिन सुनील तो जैसे मन्त्रमुग्ध-सा बैठा था। फिर उनने सँभलकर कहा, "हम लोगों की बातों का क्या है? हम तो यहाँ से चलकर कॉफी हाउस में जा बैठेंगे, नया प्रसंग नहीं मिलेगा तो घिसी-पिटी बातों में उलझे रहेंगे। पर सच पूछो तो अर्जुनसिंह जैसे आदमी तो ढूँढ़ने से भी नहीं मिलते।"



१६

दीपाली की कोशिश से रंगभूमि वाले 'मिट्टी की मूरत' स्टेज करने के लिए तैयार हो गये, बल्कि उन्होंने तो यह बात भी स्वीकार कर ली कि इसे सुनील ही डायरेक्ट करे।

सुनील तो एक प्रकार से इसकी आशा छोड़ बैठा था। लेकिन दीपाली तो असम्भव को भी सम्भव कर दिखाने की क्षमता रखती थी। दीपाली ने सलाह दी कि पहले पूरी तरह रिहर्सल की जाय और ड्रामा स्टेज करने में जल्दबाजी से काम न लिया जाय। सुनील से कहकर उसने सक्रिप्ट में कहीं-कहीं आवश्यक परिवर्तन करा लिये। कलाकार की स्वन्तत्रता के पक्ष में होते हुए भी उसका विश्वास था कि कोई भी कला-कृति विकास की मंज़िलों से होकर गुज़रती है और सुनील ने भी विश्वास दिलाया कि जिस हद तक इसे सुधारा जा सकता है उसमें तो कलाकार को भी निश्चय ही कोई संकोच नहीं होना चाहिए।

जीनत के अब्बा जान ने एक हज़ार का चैक रंगभूमि की प्रबन्ध-कारिणी को भेज दिया था और अपने पत्र में लिखा था—"मेरा यक़ीन है कि 'मिट्टी की मूरत' से पंजाब की इज़्ज़त बढ़ेगी। रंगभूमि फ़िरका दाराना फ़िज़ा के ख़िलाफ़ जद्दो-जहद करते हुए आपसी मेल-मिलाप के लिए बहुत बड़ा काम कर रही है। मै ख़ुश हूँ कि रंगभूमि ने 'मज़हब नहीं सिखाता आपस में बैर रखना' को अपना आइडियल बनाया है।" दीपाली ने अपने

चाचा जी की तरफ़ से पन्द्रह सौ का चैक भिजवाया था और ज़ीनत के अब्बा जान की देखा-देखी रंगभूमि वालों के नाम पत्र में लिखवाया, "मैं तो पॉलिटिक्स से आर्ट का दर्जा बहुत ऊँचा समझता हूँ, क्योंकि जो काम पॉलिटिक्स नहीं कर सकता, वह आर्ट कर दिखाता है। हमारे यहाँ ड्रामा के लिए बहुत कम जगह रह गई है, क्योंकि सिनेमा ने एक तरह से ड्रामा पर धावा बोल दिया है। लेकिन जो बात ड्रामा में हो सकती है, वह सिनेमा में किसी तरह मुमकिन ही नहीं। हमारे मुल्क में किसी ज़माने में ड्रामा बहुत तरक्की कर चुका है। ड्रामा का पलड़ा तो सिनेमा से कहीं ज़्यादा भारी होना चाहिए, क्योंकि यह हमेशा ज़िन्दगी के ज़्यादा करीब रह सकता है। देखने वालों की वाह-वाह का जो असर ड्रामा के एक्ट्रों पर पड़ सकता है, वह सिनेमा में तो मुमकिन ही नहीं। आपसदारी की भावना को भी सब से ज़्यादा बढ़ावा ड्रामा से ही मिल सकता है। इन आशाओं के साथ मेरी शुभ कामना यही है कि रंगभूमि तेज़ी से आगे बढ़े।"

दीपाली, ज़ीनत और पारुल ने लाहौर के हरेक कालिज में पहुँचकर रंगभूमि की तरफ़ से स्टेज किये जाने वाले ड्रामा के सम्बन्ध में प्रचार किया, साथ ही छपे हुए परचे भी तकसीम किये जिन में 'मिट्टी की मूरत' के लेखक सुनील का पूरा परिचय दिया गया था।

लड़कियों की देखा-देखी जावेद ने भी यह काम हाथ में लिया। मालूम होता था कि कालिजों के लड़के-लड़कियों को सब से ज़्यादा इन्तज़ार इसी बात का है कि 'मिट्टी की मूरत कब स्टेज किया जायगा, क्योंकि छपे हुए परचों में यही कहा गया था कि तारीख़ का एलान बाद में किया जायगा।



१७

आज रिहर्सल का पहला दिन था। पूरी कास्ट रिहर्सल के लिए तैयार थी। हर किसी के चेहरे पर उत्सुकता थी। दीपाली तो जैसे मन्त्रमुग्ध-सी नज़र आ रही थी। जीनत उसके करीब आकर बार-बार उसके कान में कुछ कहने लगती। अचानक सुनील ने कहना शुरू किया :

"हमारी कास्ट के हर सदस्य को यह समझ लेना चाहिए कि उसे अपना पार्ट करते वक्त ज़िन्दगी को सामने रखना है, यानी उसे उसी हवा में साँस लेना चाहिए जिसमें कि नाटक का वास्तविक पात्र जी रहा है। वही लबो-लहजा, वही हाव-भाव, ज़िन्दगी का हू-बहू वही रंग !"

सुनील की यह हिदायत समझकर दीपाली ख़ामोश खड़ी रही। कास्ट के दूसरे लोग भी स्तब्ध-से रह गये।

दीपाली को आज पहली बार लगा कि 'मिट्टी की मूरत' की हीरोइन के रूप में उसे जीवन के पाताल में उतरना होगा। जैसे वह रासधारी के समीप जाकर कह सकती हो—तुम्हारे जीवनमें मुझे अपना जीवन मिल गया। तुम ने अपनी पत्नी को छोड़ा, अपनी बच्ची को छोड़ा। लेकिन किस लिए ? जीवन को पाने के लिए ? यह कहना भी तो ग़लत है कि तुमने उन्हें छोड़ दिया था। तुम तो उन्हें बार-बार पहचानने और उनको असली रूप में देखने की कोशिश करते रहे।

जावेद था हीरो—घर छोड़कर भाग जाने वाला रासधारी। सुनील उसे

उसका पार्ट समझा रहा था। दीपाली ने पलट कर जावेद की तरफ़ देखा। जैसे आज वह एक नये ही रूप में नज़र आ रहा हो। यह वही नौजवान था, जो ज़ीनत के यहाँ कई बार उस से मिल चुका था—वही ज़ीनत का चचाज़ाद भाई।

जावेद को उसका पार्ट समझाने के पश्चात् सुनील ने बारी-बारी पारुल, ज़ीनत और तेजकौर को आवश्यक हिदायतें दीं, फिर उसने मनचन्दा, तुफ़ैल और आबिद के समीप जाकर उन्हें उनका पार्ट समझाया। अर्जुनसिंह भी इस ड्रामा में पार्ट के लिए राजी हो गया था। उसने भी सुनील से अपना पार्ट पूरी तरह समझ लिया।

सुनील ने अपनी कास्ट को सम्बोधित करते हुए कहा, "हम पुराने ज़माने की हा-हू वाली एक्टिंग का साथ बिलकुल न देंगे, जिसमें क़दम-क़दम पर क़हक़हे लगते थे, जिसमें आँसू भी हुक्म में बँधे ग़ुलामों की तरह क़हक़हों के पीछे से निकलकर उन क़हक़हों में ही खो जाने पर मजबूर थे। यहाँ भी वैसी बात होती तो यक़ीन कीजिए 'मिट्टी की मूरत' तो एक ही धक्के के साथ गिर पड़ती और बुरी तरह टूट जाती!"

रिसालदार अर्जुनसिंह ने झट अपनी जगह से उठकर कहा, "ओ भाई लोगों, मेरा दिमाग तो कहता है कि जीवन भी वाहगुरु सच्चे पादशाह दा डरामा है। पहले कोई यह बताओ कि छोटी स्टेज पर इतना बड़ा डरामा कोई कैसे खेलेगा!"

कास्ट के सब सदस्य एक-साथ हँस पड़े। लेकिन सुनील ने अपनी बात जारी रखते हुए कहा, "जीवन चीख़ता नहीं और जीवन बिलकुल गूंगा भी नहीं है। जीवन तो अनगिनत सदियों से आँसू पीता आया है। जीवन की छाप कला पर कहाँ तक लग सकी है, यही अच्छी कला की पहचान है। अच्छी कला बोलती कम है, वह तो केवल समझाती है, अपनी बात संकेतों से समझाती है, दबी ज़बान से, कभी हल्की-सी मुस्कान से, कभी एक व्यंग्य से, जिसे समय आने पर हथौड़े की चोट भी बनाया जा सकता है।"

अर्जुनसिंह ने हँसकर कहा, "ओ भाई लोगो, यह बात तो वाहगुरु

सच्चे पादशाह दे सिंघाँ ने समझ ली, पर डरामे दी कहानी भी तो समझाओ, क्योंकि सारा नाच तो उसी रस्सी पर नाचा जाना है।"

सुनील जैसे इसी प्रश्न की प्रतीक्षा कर रहा था। उसने सबको बैठने का संकेत करते हुए खड़े होकर कहना शुरू किया :

"हाँ, तो कहानी सिर्फ इतनी है कि रासधारी का जन्म एक गाँव में हुआ, जहाँ वह खेला-कूदा और बड़ा हुआ। फिर—"

"फिर विर पीछे बताना !" अर्जुनसिंह ने टोककर कहा, "सुनील जी, यह तो बताया ही नहीं कि उस रासधारी दा जन्म किस गाँव में हुआ था।"

"आप समझ लीजिये सरदार जी, कि उसका जन्म आप ही के गाँव में हुआ था। खैर, वह घर से भाग गया। घाट-घाट का पानी पीना ही उसे पसन्द था। दाने-दाने पर अपनी मोहर देखना ही उसे मन्जूर था। और—"

"और वीर पीछे बताना जी !" अर्जुनसिंह ने हँसकर कहा, "पहले यह दाने-दाने दी मोहर वाली बात सिंघाँ दी समझ में आ जाय। वह मोरों और कूँजों वाला गीत तो याद है न ?

"वह गीत हम जरूर सुनेंगे, सरदार जी !" जावेद ने उछलकर कहा, "यह रिहर्सल तो होती ही रहेगी।"

"सुनील जी दी आज्ञा हो तो सच्चे पादशाह दे सिंघ वह गीत ज़रूर सुना सकते हैं।"

"हाँ हाँ, जरूर ! सरदार जी ज़रूर सुनाओ !" सुनील मुस्कराया, और अर्जुनसिंह ने अपनी मोटी आवाज़ से वह गीत प्रस्तुत किया :

मोर कूँजाँ नूँ आखदे, तुहाडी रैंहदी नित्त तियारी
जाँ मोरो तुहाडा देश कुचज्जड़ा, जाँ तुहाडी किसे नाल यारी
ना मोरो साडा देश कुचज्जड़ा, ना साडी किसे नाल यारी
बचड़े छोड़ मुसाफ़िर होइयाँ, डाढे रब्ब ने चोगा खिलारी।[1]

१. कूँज = सारस जाति का पक्षी जो जाड़े में पहाड़ों से मैदानों में उतर आता है और गरमी शुरू होते ही लौट जाता है। गीत में मोरों और कूँजों में वार्तालाप दिखाया गया है : 'मोर कूँजों से कहते हैं—तुम तो नित्य प्रति किसी न किसी यात्रा के लिए तैयार

तेजकौर ने हँसकर कहा, "मामा जी, अब ज़रा सुनील जी को ड्रामे की कहानी भी तो समझा लेने दीजिए।"

"हाँ बीबी, सुनील जी को अपने ड्रामे दी कहानी समझाने दी तो पूरी छुट्टी है।"

सुनील ने कहना शुरू किया :

"वह रासधारियों के साथ शामिल हो गया और कई साल तक उनके साथ गाँव-गाँव घूमता रहा, जहाँ उसने बहुत कुछ देखा, और बहुत कुछ अनुभव किया। लेकिन फिर उसे घर की याद सताने लगी और वह उदास हो गया। उसके सपनों में उसका गाँव उसे पुकारने लगा और वह घर लौट आया। घर वालों ने बहुत जल्द उसके पैरों में जंजीर बाँध दी, उसका ब्याह कर दिया। उसने इस जंजीर से आज़ाद होकर भाग जाना चाहा। लेकिन वह ऐसा न कर सका। रासधारी की पत्नी पार्वती ने एक बच्ची को जन्म दिया। और—"

"वाहगुरु सच्चे पादशाह !" अर्जुनसिंह ने अरदास के लहजे में कहा, "उस बच्ची दे ऊपर मेहर रखना, सच्चे पादशाह !"

कास्ट के हर सदस्य के चेहरे पर मुस्कान की रेखाएँ उभरीं, सुनील ने सँभलकर कहना शुरू किया :

"हाँ, तो मैं कह रहा था कि रासधारी अपनी पत्नी और बच्ची को छोड़कर भाग गया। वह फिर से रासधारियों में शामिल हो गया। जगह-जगह के जीवन को वह अपने हृदय और मस्तिष्क में समोने लगा। जिस गाँव में उसका जन्म हुआ, वह उसी गाँव से बँधकर नहीं रह सकता था, वहीं रहकर तो मरना नहीं चाहता था। लेकिन कुछ वर्ष गाँव से बाहर गुज़ारने के बाद वह उदास हो गया और घर लौट आया। अब के पार्वती

नज़र आती हो। या तो तुम्हारा देश असुन्दर है या फिर तुम यहाँ किसी के प्रेम-पाश में बँध गई हो।' 'न हमारा देश असुन्दर है, न हम किसी के प्रेम-पाश में बँध गई हैं। बच्चों को पीछे छोड़कर हम मुसाफ़िर बन गई हैं। निष्ठुर भगवान् ने न जाने कहाँ-कहाँ बखेर रखा है हमारा दाना-पानी।

ने उसे पहचानने से इन्कार कर दिया। उसने कहा—पार्वती, अपनी आँखों के सामने वे लम्बी रातें ले आओ, जो तुमने मेरे वियोग में जाग-जाग कर काट दीं। मेरे लिये नहीं, अपने लिये नहीं, बल्कि अपनी मोहिनी के लिए, अपनी मूरत के लिए जिसे तुम हवा के बड़े-से-बड़े झोंके से बचा-कर रखना चाहती थीं। हाँ, तो तुम मुझे पहचानती हो? तुम्हारी याद मुझे यहाँ ले आई—तुम्हरी याद, इस बच्ची की याद !"

"वाहगुरु सच्चे पादशाह !" अर्जुनसिंह ने दोबारा अरदास की, "हे सच्चे पादशाह, रासधारी दी घर वाली और उस दी बच्ची को बचाकर रखना !"

कास्ट के सदस्य हँस पड़े। सुनील ने हँसी को चीरते हुए अपनी बात जारी रखी :

"कुछ दिन रासधारी अपने गाँव में रहा, लेकिन पार्वती और उसकी सात वर्ष की बच्ची मोहिनी ने उसे पहचानने से इन्कार कर दिया। यहाँ से कहानी करवट लेती है। रासधारी फिर चला गया। गाँव में काल पड़ गया। विपत पर विपत, अन्याय पर अन्याय। काल पड़ा तो गाँव वाले दूध के लिए ही नहीं, पानी के लिए भी तड़पने लगे। पार्वती ने गाँव छोड़ना स्वीकार न किया। गाँव में लोग मरने लगे, तो गाँव वाले घर छोड़कर जीवन की तलाश में निकल पड़े। रासधारी तो पहले ही भेस बदलकर चला गया था, क्योंकि वह जिन्दा रहना चाहता था। लेकिन 'मिट्टी की मूरत' ने अपनी मिट्टी से अलग होने से इन्कार कर दिया।"

"वाहगुरु सच्चे पादशाह !"

"हाँ, तो किसी भी कीमत पर रासधारी की पत्नी अपनी बच्ची को लेकर गाँव छोड़ने के लिए राजी न हुई। गाँव में बाहर से सहायता के लिए रिलीफ़ पार्टी उस समय पहुँची, जब 'मिट्टी की मूरत' की आत्मा शरीर छोड़ गई थी।"

"वाहगुरु सच्चे पादशाह !"

"मिट्टी की मूरत की बच्ची मोहिनी बच गई। रासधारी एक बार फिर

अपने गाँव में लौट आया। उस समय मोहिनी किसी पड़ोसिन के पास थी। मोहिनी उसे देखकर डर गई। वह एक खिलौने से खेल रही थी। मिट्टी का खिलौना देखकर रासधारी को 'मिट्टी की मूरत' का ध्यान आ गया, जो अब इस दुनिया में नहीं थी। वह बार-बार कहता रहा—मोहिनी, मैं तेरा पिता हूँ, मैं तुझे नये-नये खिलौने लाकर दूँगा !···पर पड़ोसिन ने मोहिनी को देने से इन्कार कर दिया।"

"वाहगुर सच्चे पादशाह !"

"रासधारी फिर रास्ता नापने पर मजबूर हुआ। उस के दिल पर गहरी चोट लगी। वह फिर उसी रागिनी का पिछा करने लगा जो जीवन की लम्बी डगर की ओर से आ रही थी। रासधारी अपनी मंज़िल पर पहुँचने में सफल हुआ या नहीं, यही तो 'मिट्टी की मूरत' में दिखाने का यत्न किया गया है।"

दीपाली मन्त्रमुग्ध-सी खड़ी थी। उसे लगा कि सुनील तो स्टेज पर अपने हर पात्र के भेस में आने की क्षमता रखता है। वह सँभलकर बोली, "रिहर्सल शुरू की जाय, या अभी और देर है ?"

कास्ट का हर सदस्य रिहर्सल के लिए तैयार था। कमरे में रोशनी थी और खिड़की से आती हुई बाहर की आवाज़ें जीवन की पृष्ठभूमि प्रस्तुत कर रही थीं। अर्जुनसिंह ने अपनी जगह से उठकर कहा, "ओ भाई लोगो, कहानी तो समझ विच आ गई। अब तो रिहर्सल दी गाड़ी को पटरी पर डालो।"

"अब रिहर्सल शुरू होती है।" सुनील एक सफल डायरेक्टर की तरह मुस्कराया।

जावेद हीरो के रूप में सामने खड़ा था। दीपाली के हाथ में उसके पार्ट का परचा था। उसने अपने सिर से पल्लू खींचते हुए बड़े ठहराव से कहा :

"रास्ता कठिन है। लोग पुराने हैं। नई रागिनी सुनाऊँ तो किसे और कैसे ?"



१८

'मिट्टी की मूरत' स्टेज किया गया, तो शहर के सैकड़ों कला-प्रेमी लोग वाई० एम० सी० ए० में इसे देखने आये। विशेष रूप से कालिजों के विद्यार्थी भारी संख्या में उपस्थित थे। मालूम होता था कि लाहौर को वाकई नई चीज़ की क़दर है और पढ़े-लिखे लोग रंगमंच की प्रगति के लिए कटिबद्ध हैं।

लेकिन 'सिविल एण्ड मिलिट्री गज़ट' में केवल चौधरी ने 'मिट्टी की मूरत' की धज्जियाँ उड़ाकर रख दीं। सुनील को खूब आड़े हाथों लिया गया। दीपाली की एक्टिंग के सिवा चौधरी को 'मिट्टी की मूरत' की एक भी बात पसन्द नहीं आई थी। ड्रामे की थीम एकदम भोंडी, ज़बान अधकचरी, डायरेक्शन सिरे से फ़ज़ूल—यह था चौधरी की आलोचना का लुब्बे-लुबाब। सुनील को 'रासधारियों की दुम' का खिताब दिया गया था। अन्तिम पंक्तियों में चौधरी ने यों तान तोड़ी थी—अंग्रेज़ी स्टेज के मुकाबिले में हिन्दुस्तानी स्टेज अभी कई मील पीछे है।"

इतनी खैरियत थी कि 'ट्रिब्यून' में डॉक्टर रमेश भारद्वाज ने 'मिट्टी की मूरत' की बहुत-सी खूबियाँ गिनाईं जिन में भाषा की ताज़गी, थीम की मौलिकता और भारतीय परम्परा की अधिकारपूर्ण अभिव्यक्ति का विशेष रूप से उल्लेख किया गया था। यह भी कहा गया था कि सुनील से भारतीय स्टेज को बड़ी आशाएँ हैं और यदि वह डटकर कार्य करता रहा तो यह

असम्भव नहीं कि वह अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त करे।

दीपाली का फ़ोटो बहुत से पत्रों में प्रकाशित हुआ, यहाँ तक कि जीनत को भी उस से ईर्षा होने लगी। सहेलियां बार-बार उसे छेड़ती, "अब तो अख़बारों में तेरे नाम की धूम है, दीपाली! अब तो घोड़े पर नहीं, कार पर नहीं, हवाई जहाज़ पर चढ़कर आयेगा तेरा दूल्हा।"

कुछ कला-आलोचकों ने दीपाली और सुनील से इण्टरव्यू लिये और स्टेज को नया जन्म देने के सम्बन्ध में उनके विचार भी प्रस्तुत किये। एक इण्टरव्यू में तो जीनत के विचार भी प्रस्तुत किये गये। दीपाली से कहीं अधिक जीनत ने अपने इण्टरव्यू में सुनील की प्रशंसा की, और लगे हाथ उसने केवल चौधरी की कटु आलोचना भी कर दी, "केवल साहब का तो कोई कुसूर नहीं, कुसूर तो उनकी तालीम का है जो इंग्लैण्ड में हुई। वे तो हर चीज़ को अंग्रेज़ी गज़ से ही नापते हैं, और हमारी कला को अंग्रेज़ी कला की पिट्ठू बनाने पर तुले हुए हैं। लेकिन सुनील का सब से बड़ा कमाल यह है कि उसने ठीक मौके पर लाहौर आकर हमें रास्ता दिखाया। मैं यह तो नहीं कहती कि हम जिस हाल में हैं, उसी में खुश रहें। तरक्की तो जिन्दगी के लिए ही नहीं, ड्रामा के लिए भी जरूरी है। सचमुच हमें दूसरे देशों की कला से बहुत-कुछ सीखना है। क्योंकि कला तो एक है। देश-देश की कला के बीच सरहदें कायम नहीं की जा सकतीं। लेकिन मैं पूछती हूँ कि हम अंग्रेज़ों की नक़ल करने पर ही क्यों तुले रहें!"

एक इण्टरव्यू में सुनील ने ज़ोर देकर कहा, "अंग्रेज़ ने हमारे साहित्य पर अंग्रेज़ी छाप लगाने का यत्न किया, हमारी कला को भी अपना गुलाम बनाया। हमारे देश में तो कालिदास हुए, भवभूति हुए। इस युग में भी अंग्रेज़ ने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और आग़ा हशर जैसे नाटककारों को देखा। बंगाल और महाराष्ट्र में जो कोशिशें हो रही हैं वे भी तो किसी से छिपी हुई नहीं हैं। बंगाल के स्वर्गीय डी० एल० राय का नाम कौन नहीं जानता? महाराष्ट्र में मामा वारेरकर का बोल-बाला है। मैं कहता हूँ कि क्या पंजाब इस दिशा में कुछ नहीं करना चाहता। केवल साहब पूछते हैं—शेक्सपीयर

कहाँ है, इब्सन कहाँ है, बर्नार्ड शॉ कहाँ है। माना कि वे सब तो यहाँ नहीं हैं, लेकिन उसी रोशनी को ढूँढ़ने वाला एक मामूली-सा नाटककार सुनील यहाँ ज़रूर है। उसका चेहरा इतना सुन्दर न सही, लेकिन उसके हाथ में भी लेखनी है। वह भी कुछ करना चाहता है। कला-साधना के लिए उसने घर छोड़ा, घाट-घाट का पानी पिया। इसे उसका अहम् न समझा जाय। यह तो एक विनम्र निवेदन मात्र है। सत्य की अभिव्यक्ति भी तो आवश्यक है। जब कोई सामने पड़ी हुई चीज़ को भी न देखे, तो यह आवश्यक हो जाता है कि वह चीज़ स्वयं पुकारकर कहे—मैं जैसी भी हूँ, मुझे देखो तो सही!"

'सिविल एण्ड मिलटरी गज़ट' में पाठकों की चिट्ठियों वाले कालम में लम्बी बहस छिड़ गई। एक पाठक ने अपनी चिट्ठी में लिखा, "मैं चाहता तो नहीं था कि इस मज़मून पर कलम उठाऊँ। लेकिन मेरे सामने ज़ीनत, दीपाली, सुनील या अर्जुनसिंह की तारीफ़ करने का सवाल तो नहीं है। मैं तो सिर्फ़ यह अर्ज़ करना चाहता हूँ कि 'मिट्टी की मूरत' अपनी खामियों के बावजूद बहुत कामयाब रहा। पहली बार हमें महसूस हुआ कि हम ड्रामा के फ़ील्ड में किसी दूसरे प्रान्त से बहुत ज़्यादा पिछड़े हुए नहीं हैं। हर चीज़ का एक अन्दाज़ होता है, और जब यह अन्दाज़ अच्छे रूप में हो तो उम्मीद बँधती है कि काम आगे बढ़ेगा। सुनील के कलम में ज़ोर है, हर करैक्टर को वह जानता-पहचानता है। इसीलिए 'मिट्टी की मूरत' में इतनी ताज़गी है। ताज़गी थीम में भी है और ज़बान में भी, क्योंकि किताबी ज़बान की बजाय हर करैक्टर को उसकी अपनी ज़बान में पेश किया गया है।"

एक और पाठक ने लिखा, "केवल चौधरी का लेख बहुत भ्रान्तिपूर्ण है। मालूम होता है कि वह पहले से ही रंगभूमि के विरुद्ध खार खाये बैठे थे और उनका सारा नज़ला सुनील पर गिरा और 'मिट्टी की मूरत' के सम्बन्ध में झूठ का पहाड़ खड़ा किया गया!"



१६

फाल्गुन के अन्तिम दिन थे। चिराग़ों का मेला बड़े ठाठ से आ पहुँचा। शालामार के भीतर और बाहर सिर-ही-सिर नजर आते थे। यों लगता था कि पहले कभी मेला इतना नहीं भरा। जीनत, तेजकौर और दीपाली भीड़ में यों तैर रही थीं जैसे मुरग़ाबियाँ पानी पर तैरती हैं। जैसे यह मेला पुकार-पुकारकर कह रहा हो—मैं तो बहुत पहले से चला आ रहा हूँ, मेरे चिराग़ तो हमेशा रोशन होते आये हैं।

"सुनील अभी तक नहीं आया।" जीनत ने हँसकर कहा, "आज तो मेले का दूसरा दिन है। माना कि शहर के लोग तो आज ही ज़्यादा आते हैं, लेकिन मेले की बहार कल भी कुछ कम न थी, दीपाली! तेज से पूछो कि कल कितना मज़ा आया। कल तो तुम भी ग़ायब रहीं। और जहाँ तक सुनील का सम्बन्ध है, अब तो वह आने से रहा!"

"सुनील को नया-नया काम मिला है, जीनत!" दीपाली ने हँसकर कहा, "फिर सुनील की आदत तो तुम जानती ही हो। काम करता है तो खूब मन लगाकर, कभी बेगार नहीं टालता।"

"लेकिन आज तो छुट्टी है। इतवार को तो कोई दफ़्तर नहीं खुलता। यह चिराग़ों का मेला तो साल में एक ही बार आता है। सुनील को आना चाहिए था।"

"तुम समझती होगी जीनत कि मैं सुनील की मैं वकालत कर रही हूँ, पर

बात यह नहीं। मैंने तो बल्कि उसे नौकरी करने से मना किया था। लाख समझाया कि वह तो कलाकार है और कला-साधना में ही उसे अपनी ज़िन्दगी लगा देनी चाहिए। लेकिन वह कहता है कि अपनी रोटी तो हर किसी को खुद कमानी चाहिए। एक दिन चाचा जी से कहने लगा—'देखिये लाला जी, मुझ से तो चौबारे का किराया लीजिए। आपको तो इसकी परवाह नहीं, लेकिन मैं सोचता हूँ कि आपकी मेहमानदारी तो बहुत हो ली। किराये में रियायत भले ही कर दीजिये, लेकिन किराया लीजिये ज़रूर।' चाचा जी हँसकर बोले—'जेब में पैसे मालूम होते हैं, इन्हें वहीं पड़े रहने दो।' वह बोला—'मुझे नौकरी मिल रही है, चाचा जी! सोचता हूँ बिना काम किये लाहौर में कब तक पड़ा रहूँगा। पढ़ने-लिखने का काम तो चलता ही रहता है, लेकिन इन्सान तो जन्म-जन्म का मज़दूर ठहरा।' अब मैं क्या बोलती?"

तेजकौर ने अब तक बीच में बोलना उचित नहीं समझा था। लेकिन अब वह भी ख़ामोश न रह सकी। बोली, "सुनील ने मेरी राय पूछी थी। इस बात को दस दिन भी नहीं हुए होंगे जब सुनील से अनारकली में भेंट हुई। कहने लगा—तेज, मुझे एक प्रेस में प्रूफरीडर का काम मिल रहा है, मैं चाहता हूँ इसे न छोड़ूँ। मैंने हँसकर कहा—यह तो बड़ी शर्म की बात होगी कि हमारा एक कलाकार लाहौर में प्रूफरीडर बनने पर मजबूर हो जाय, लाँछन तो हम पर ही आयगा, दुनिया तो हम पर ही हँसेगी। वह बोला—तेज, ये बड़ी-बड़ी बातें हैं। छोटी बातों का भी तो अपना महत्त्व है। सच पूछो तो रोटी कमाने की बात इतनी छोटी भी नहीं। जब तक हमारे देश की यह हालत नहीं हो जाती कि हर कलाकार कला-साधना द्वारा ही अपनी रोटी कमा सके, तो कोई दूसरा काम तो उसे करना ही होगा।"

मेले का शोर उभर रहा था और भीड़ को चीरती हुई तीनों सहेलियाँ शालामार के भीतर जा पहुँचीं। मौसम बहुत अच्छा था। रंग-रंग के लिबास, एक-से-एक बढ़कर छैले और गभरू, एक-से-एक बढ़कर बनी-ठनी कँवारियाँ और दुलहनें, दोस्तों के मज़ाक, तूम्बे, काटो और अलगोजे के स्वर,

भीड़ के धक्के—इस शोर और धक्का-पेल में तीनों सहेलियाँ अठखेलियाँ करती चली जा रही थीं। लोग हँस रहे थे, गा रहे थे, मज़ाक कर रहे थे। छैले और गभरू कँवारियों पर आवाजें कस रहे थे।

"यह मज़ाक भी ज़रूरी है!" ज़ीनत ने हँसकर तेज और दीपाली की ओर देखा, "यह शोर जितना भी बेहंगम होता जा रहा है, उतना ही मेले का रंग उभर रहा है।"

अचानक दरवाज़े की ओर से तूम्बे पर गीत का यह बोल थिरक उठा :

झाँझरां वज्जन नूँ पाइयाँ,
लंघ गई पैर बोच के![1]

तेज बोली, "यह गीत तो हमारे गाँव में भी गाया जाता है, लेकिन यहाँ तो वे गभरू यों गा रहे हैं जैसे खेत में गोपिया घुमाया जा रहा हो।"

गाने वालों की टोली दरवाज़े की ओर से इधर को बढ़ी चली आ रही थी। जैसे सब-के-सब गभरू मिलकर यह घोषणा कर रहे हों कि युवकों की प्रेयसी ने पाजेब पहनने के बावजूद यों पैर सँभालते हुए पास से गुज़र कर उन्हें एक मूक चुनौती क्यों दी।

दीपाली बोली, "रौनक तो यहाँ भी कुछ कम नहीं, लेकिन शालामार के बाहर चलकर मज़ा लिया जाये।"

"वहाँ धक्के भी ज़रा ज़्यादा ही मिलेंगे।" तेज ने क़हक़हा लगाया, "तो बाहर चलते हैं, ज़ीनत! अब दीपाली को नाराज़ भी तो नहीं कर सकते।"

भीड़ को चीरती हुई तीनों सहेलियाँ बाहर की तरफ़ चल पड़ीं। लोगों की रगों में नया खून उछल रहा था, उनके चेहरों पर मुस्कान नाच रही थी। कोई कह रहा था—माल बुरा नहीं! कोई कह रहा था—दूध में बताशे घुले जा रहे हैं! फिर एक तरफ़ से आवाज़ आई—मेले की गुड़िया! किसी ने कहा—फ़ाख़ता नहीं कबूतरी! पास से एक आवाज़ उछली—हुस्न

---

१. पायल तो झंकार के लिए पहनी थी, लेकिन वह तो पैर सँभालकर ही पास से गुज़र गई।

का छज्जा ! ये सब आवाजें, ये सब मज़ाक मेले में रंग भर रहे थे। इसका बुरा मनाना तो ठीक नहीं था। लोग आ रहे थे, टोलियाँ की टोलियाँ। हर टोली सुन्दरियों के लिए नया-से-नया खिताब घड़ रही थी।

जीनत बोली, "मेले की कबूतरी तो तुम हो, दीपाली !" यह सफेद लिबास आजकल तुम्हें इतना पसन्द क्यों आने लगा है। और फिर आँखों-ही-आँखों में सुनहरी साटन के अपने ग़रारे, चुस्त मलगजी कमीज़, काली वासकट और दूधिया सफ़ेद दुपट्टे की ओर संकेत करते हुए कहा, "मेले की गुड़िया तो मैं हूँ।"

तेजकौर ने काली सलवार कमीज पर लाल दुपट्टा पहन रखा था। उसके बाल माथे पर छज्जे की तरह उठे हुए थे। जीनत बोली, "तेज के बालों को देखकर ही तो किसी ने उसे 'हुस्न के छज्जे' का खिताब दिया।"

मेले में शहरी और देहाती आजू-बाजू घूम रहे थे। जीवन के उलझते-सुलझते अनुभव मेले के शोर में घुल रहे थे। दुकानदारों की आवाजें, खोंचे वालों की पुकार। गुब्बारे और खिलौने बेचने वाले अलग चिल्ला रहे थे—रंग-रंग के गुब्बारे! नये खिलौने! लूट लो, लूट लो! छैलो और गभरुओं की बातचीत का भी तो यहाँ कुछ कम मजा न था—देख तो बन्तासिंघ, उस लड़की की आँखें तो गिटारी की सी हैं, कहीं मुझ पर चोंच न चला दे !···नहीं यार, वह तो सुन्दरियों की 'सरकार' है···आज तो इसे लड्डू खिलायें···लड्डू नहीं, जलेबियाँ···बन्तासिंघ यार, यह कबूतरी मेरे छतनारे पर बैठ जाय तो मजा आ जाय···यार, यह सुनहरी सुन्दरियों की सरकार ग़रारा कहाँ से उड़ा लाई ? काली वासकट भी तो खाने को दौड़ती है···ये स्वर मेले के आरकस्ट्रा पर उभर रहे थे, और शालामार के दरवाजे के समीप खड़ी तीनों सहेलियाँ अपने रूप और मेक-अप की विजय पर खुश थीं। वे खूब समझती थीं कि मेले के रोज तो सब को आजादी होनी चाहिए।

दोपहर तो कभी की ढल गई थी। मौसम और भी प्यारा हो गया था। दीपाली बोली, "अब तो खैर सुनील क्या आयेगा। उसे नया-नया काम मिला है। प्रेस तो आज बन्द होगा। लेकिन जैसा कि वह कल कह रहा

था, उसे तो प्रेस के मालिक ने ढेर-के-ढेर प्रूफ़ थमा दिये होंगे और ताकीद कर दी होगी कि ये प्रूफ तो वह घर से ही ख़तम करके लाये। प्रूफ़ तो ख़ैर वह अब तक ख़तम कर चुका होगा, और यह भी हो सकता है कि वह अब भी आ निकले।"

तेज और जीनत में से किसी ने भी कुछ उत्तर न दिया। तीनों सहेलियाँ देर तक मेले में घूमती रहीं। फिर जीनत बोली, "चलो, ज़रा बाग़ के भीतर चलकर बैठने के लिए कोई जगह ढूँढी जाय, और जी भरकर फव्वारों और आबशारों का मज़ा लिया जाय।"

दरवाज़े के भीतर भीड़ किसी कदर छँट गई थी और भीतर जाने में कोई कठिनाई न हुई। तेज ने आश्चर्यपूर्वक कहा, "शाम उतर रही है, और चिराग़ कहीं नज़र नहीं आते। तो फिर यह चिराग़ों का मेला क्यों कहलाता है?"

जीनत बोली, "तुम्हें तो कुछ भी मालूम नहीं, तेज! ज़रा दीपाली से तो पूछो।"

दीपाली क्या बताती! वह तो जैसे देखकर भी कुछ नहीं देख रही थी। उसकी कल्पना में तो सुनील तैर रहा था—कलाकार सुनील नहीं, प्रूफ़रीडर सुनील। वह यह समझने का प्रयत्न कर रही थी कि सुनील अपनी कला-साधना में कैसे आगे बढ़ेगा।

जीनत ने दीपाली को झकझोरकर कहा, "तेज को बता दो न दीपाली, कि इसे चिराग़ों का मेला क्यों कहते हैं और आज कहीं चिराग़ क्यों नहीं जल रहे।"

"चिराग़ तो कल जलाये जा चुके, तेज!" दीपाली ने सँभलकर कहा, "आज तो मेले का दूसरा दिन है। आज तो ये हिन्दू, मुसलमान और सिक्ख ही इस मेले के चिराग़ बने जा रहे हैं। एक चिराग़ तो मिट्टी के होते हैं, जिनमें सरसों का तेल डालकर रुई की बाती जलाई जाती है। वे सब चिराग़ तो मुँडेरों पर जलते हैं, आलों में जलते हैं। जगह-जगह देख लो। वे बुझे हुए चिराग़ तो आज भी देखे जा सकते हैं, जिन्हें कल रात

जलाया गया था और अब वे अपनी-अपनी जगह पर पड़े हैं। बाती जल चुकी है, तेल ख़तम हो चुका है।"

"वैसे दीपाली ठीक कहती है, तेज !" ज़ीनत ने गम्भीर होकर कहा, "चिराग़ों का तो सिर्फ बहाना है जो कल रात हो लिया। आज तो वाकई हिन्दू, मुसलमान और सिक्ख ही, जो यहाँ आजू-बाजू चल रहे हैं और जिनके दम-क़दम से इस मेले की बहार है, इस मेले के जीते-जागते चिराग़ हैं। इसीलिए तो मैंने कहा था कि मेले में सबको आज़ादी है, मेले में कोई किसी की बात का बुरा न मनाये, मेले में तो कम ख़ूबसूरत लड़की को भी 'कबूतरी' और 'सुन्दरियों की सरकार' का खिताब मिल सकता है।"

तीनों सहेलियाँ बाँह में बाँह डाले ऊपर की तरफ़ जाने लगीं, तो तेजकौर चलते-चलते ठिठक गई। "रुक क्यों गई, तेज ?" ज़ीनत ने पूछा, "और वह लड़का तुम्हें घूर-घूरकर क्यों देख रहा है ?"

"कौनसा ?" तेजकौर ने पूछा, और फिर वह जाने क्या सोचकर बोली, "एक कहानी याद आ गई, सुनोगी ?" फिर बिना इन्तज़ार किये कि ज़ीनत क्या कहती है, उसने अपनी कहानी शुरू कर दी :

"यह पिछले साल की बात है। उस दिन गुरु गोबिन्द सिंह का जन्म-दिन था। मैं प्रीतनगर में थी, जहाँ मेरे एक दूर के रिश्ते के चाचा जी रहते हैं। बाहर से एक शायर आया हुआ था, जिसका कलाम मुझे बेहद पसन्द आया। देखने में वह बहुत मासूम नज़र आता था। हम चाचा जी की कोठी के सामने वाले गोल चक्कर में घूम रहे थे। हमारी कोठी पर दो दीये रोशन थे। मैंने हँसते-हँसते शायर से कहा—'दाईं तरफ़ वाला दीया आपका है और बाईं तरफ़ वाला मेरा।' वह खुशी से उछल पड़ा, जैसे उसकी कविता के दोनों दीये जगमगा उठे हों। प्रीतनगर के मुशायरे में उसकी कविता 'दो दीये' मुझे बहुत पसन्द आई थी। अब जो हवा का झोंका आया तो दाईं तरफ़ वाला दीया बुझ गया। मैं खिलखिलाकर हँस पड़ी, और मैंने कहा—'यह बाईं तरफ़ वाला दीया भी तो आपका ही है।' उस गोल दायरे में हमने सात चक्कर लगाये। आठवें चक्कर में कोठी

के दरवाज़े पर चाची जी मिल गईं। उन्होंने मुझे कोठी के अन्दर बुला लिया, और बेचारा शायर उसी दायरे में घूमता रहा होगा। शायद उसने रात-भर रतजगा किया होगा। अगले दिन वह कहीं नज़र न आया।"

"यह तो तुमने बहुत ज़ुल्म किया, तेज़!" ज़ीनत ने ज़ोर देकर कहा, "तो क्या वह नौजवान, जो तुम्हें घूर-घूरकर देख रहा था, उसी शायर का कोई भाई तो नहीं है?"

"तेजकौर ने लपक कर कदम बढ़ाते हुए कहा, "वाकई इस नौजवान की सूरत देखकर मुझे वह शायर याद आ गया।"

ज़ीनत ने झुँझलाकर कहा, "तुम्हें हमेशा किसी-न-किसी शायर का ही ख़याल आता है। ख़ैर छोड़ो। कितनी अजीब बात है कि बागवानपुरा वालों को चिराग़ों के मेले का उतना शौक़ नहीं रहा, हालाँकि बीस-बीस कोस से देहाती यहाँ भागे चले आते हैं। जंग ख़तम होने के बाद महँगाई बढ़ रही है और यहाँ तो पेट के धन्धे से ही फ़ुरसत नहीं मिलती। यही हाल रहा तो हमारे मेले ख़तम हो जायँगे।"

"महँगाई से कहीं ज़्यादा ख़तरा तो हमारे मेलों को पॉलिटिक्स से है," तेजकौर ने बढ़ावा दिया, और फिर उसने दीपाली को झँझोड़कर कहा, "तुम भला किस की याद में खोई जा रही हो, दीपाली? सुनील तो इस वक्त अपने कमरे में बैठा प्रूफ़ पढ़ रहा होगा। ड्रामा लिखकर पेट की आग नहीं बुझाई जा सकती, तो लाचार होकर प्रूफ़ पढ़ने होंगे।"

दीपाली ने कुछ भी उत्तर नहीं दिया। रात उतर आई थी। मेले की भीड़ काफी छिदरी हो गई थी। हर किसी को घर जाने की जल्दी थी। ज़ीनत दोनों सहेलियों के कन्धों पर बाँहें रखे शालामार के बाहर चली आई। पकौड़े तलने वाले एक दुकानदार से उसने कसोरे में तेल भरवा लिया, दियासलाई की एक डिबिया भी खरीदी और उन्हीं पैरों तीनों सहेलियाँ शालामार के भीतर चली आईं।

उन्होंने आलों में से शीघ्र ही ऐसे दीये तलाश कर लिये, जिन में कल रात बाती पूरी जलने से पहले ही तेल ख़तम हो गया था। ऐसे सात दीये

उठाकर उन्होंने बड़े चाव से उन्हें एक स्थान पर अर्द्धगोलाकार रूप में टिका दिया।

ज़ीनत ने हरेक दीये में तेल डाला, और फिर दियासलाई से एक दीये को संजोकर इसकी जलती हुई बाती से दूसरे दीयों को भी संजो दिया।

तेजकौर ने बड़े चाव से कहा, "जोत से जोत जले!"

दीपाली डरती थी कि कहीं हवा तेज़ न हो जाय और एक ही झोंके में ये दीये बुझ न जायँ।

"आसमान पर तारे चमक रहे हैं," ज़ीनत ने दुआ के अन्दाज़ में हाथ उठाकर कहा, "और ज़मीन पर ये चिराग़ रोशन हैं। सात चिराग़, हफ्ते के सात दिन, सात समुन्दर, सात बादशाहतें, सात रंग!"

"तारों को तो बड़ी-से-बड़ी आँधी भी नहीं बुझा सकती," तेजकौर ने न जाने क्या सोचकर कहा।

"मुझे तो यह नन्हे-मुन्ने चिराग़ ही अच्छे लगते हैं," ज़ीनत ने खुशी से नाचकर कहा। फिर वह उदास हो गई। चिराग़ों की रोशनी में उसके चेहरे पर न जाने कैसी निराशा स्पष्ट होती गई।

दीपाली ने सँभलकर कहा, "तुम्हें क्या चिन्ता सता रही है, ज़ीनत?"

"एक आँधी आ रही है," ज़ीनत का गला भर आया।

दीपाली और तेजकौर ने आश्चर्य से ज़ीनत की यह बात सुनी। सहसा स्नेह-भावना से गद्‌गद होकर ज़ीनत ने अपनी दोनों बाँहें दायें-बायें खड़ी सहेलियों के गले में डाल दीं।



२०

सुनील के माथे पर बल न आया। यदि सचमुच वह कोई शोबदाबाज़ होता तो लाहौर छोड़कर भाग गया होता और सोच लेता कि यहाँ मजमा लगाने में सफलता न हुई तो और कोई जगह ढूँढ़ ली जाय। यह देश तो विशाल है, यहाँ मूर्खों की क्या कमी है! यहाँ काम न बना, तो कहीं और बन जायगा। वह कोई बाज़ीगर न था कि कलाबाज़ियाँ खाकर लाहौर का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करता, न वह मदारी ही था कि बन्दर-बन्दरिया का ब्याह रचाता और डुगडुगी बजाता, और न वह कोई नेता ही था कि किसी जलूस का पथ-प्रदर्शक बनता। वह तो एक कलाकार था। उसे तो अपनी कला से ही प्रेम था। आशा की डोरी थामे जा रहा था। 'मिट्टी की मूरत' ने उसका स्थान बना दिया था। कुछ हल्कों में उसका परिचय हो गया था, यही क्या कम था?

कभी-कभी वह सोचता कि वह तो एक प्रूफ़रीडर है। लाख शेखी बघारे, लाख हवाई किले बनाये, सचाई तो सचाई है। आख़िर सचाई तो यही है न कि वह एक प्रेस में प्रूफ़रीडर है। कम्पोजीटरों की गलतियों पर निशान लगाना ही उसका काम है। प्रूफ़ पढ़ते-पढ़ते आँखें थक जाती हैं, तब कहीं पेट के लिए दो रोटियाँ नसीब होती हैं। लेकिन अगले ही क्षण वह सोचता कि क्या लाहौर में वह प्रूफ़रीडरी का काम करने के लिए आया था। यहाँ तो वह इसलिए आया था कि नाटककार के रूप में अपने पथ पर अग्रसर

हो। चलिए, पेट के लिए भी तो कुछ करना ही पड़ता है। अपने पैरों पर खड़े होने में तो कोई बुराई नहीं।

प्रूफ़ पढ़ते-पढ़ते थोड़ी फ़ुरसत मिल जाती तो उसका ध्यान पीछे की ओर पलट जाता। वह तो अनगिनत लोगों से मिला था, उसने तो अनेक लोगों की कहानियाँ सुनी थीं, और विशेष रूप से गुजरात में तो वह गाँव-गाँव घूमा था। कई बार वे दृश्य उसकी कल्पना को झकझोर जाते जिन्हें वह देख चुका था। सचमुच वह बड़े गर्व से कहना चाहता था—यह आदमी, जो आज यहाँ प्रूफ़रीडर बना बैठा है, असल में एक कलाकार है। और अगले ही क्षण उसके मन के भीतर से कोई व्यंग्यकार कह उठता—क्यों जी, वे दिन भूल गये जब फ़लाँ होटल में प्लेटें साफ़ किया करते थे, फ़लाँ जगह लारी के क्लीनर बने घूमते थे, फ़लाँ जगह फ़िल्म में एक्सट्रा का काम करते रहने पर मजबूर थे?....और वह जैसे इस व्यंग्यकार का मुँह बन्द करने की बजाय मन-ही-मन अपने को कोसता। और दूसरे ही क्षण जैसे अपनी वकालत करते हुए कहना चाहता—यह क्या कम था कि मैं प्लेटें साफ़ करते-करते लारी क्लीनर बन गया था, आख़िर मेरा कदम आगे की ओर ही तो उठा था। और उससे भी अगला कदम था होटल में बैरा बनने का काम। मैंने तो इस तरह के कई काम किये। ये सब तो सीढ़ियाँ थीं। मंज़िल तो मेरे सामने एक ही रही। वह थी मेरी कला-साधना। मैंने जितने भी पापड़ बेले, केवल पेट की ख़ातिर ही तो नहीं, क्योंकि पेट तो किसी-न-किसी तरह भर ही जाता है। घाट-घाट का पानी पीते हुए, एक काम छोड़कर दूसरा काम हाथ में लेते समय मेरे सामने एक ही ध्येय रहा—वह थी मेरी शिक्षा और कला-साधना। शिक्षा भी कितने विचित्र ढंग से हुई, इस पर तो मेरा ध्यान हमेशा जमा रहा। जहाँ से जो शब्द मिला उसे मैंने दीये की तरह संजोया, जहाँ से जो भाव हाथ लगा उसे मैंने पाला-पोसा और बड़ा किया; उसे मैंने अपना बनाया, उसे मैंने अपने अनुभव की पुट दी, उसकी नोक-पलक सँवारी, तब कहीं जाकर मैं उसे अपनी कला-कृति में एक नगीने की तरह जड़ सका। और ज्यों ही नये प्रूफ़ों का

पुलन्दा उसकी मेज़ पर आ टिकता, वह अपने विचार-प्रवाह से छुट्टी लेकर काम में जुट जाता।

प्रूफ़रीडरी के अतिरिक्त उसे रेडियो-स्टेशन से भी थोड़ी-बहुत आमदनी होने लगी थी। यह सब 'मिट्टी की मूरत' की बदौलत हुआ। रेडियो-स्टेशन में जाकर लोगों से मिलने के लिए उसके पास समय होता तो शायद उसे अधिक प्रोग्राम मिल सकते थे। पर वह तो ले-देकर एक प्रूफ़रीडर था। प्रूफ़रीडिंग और कला-साधना के बीच सचमुच कितनी बड़ी खाई थी, पर वह अपनी कल्पना में इस खाई को पाट लेता। वह सोचता कि प्रूफ़रीडिंग तो केवल दो रोटियों का साधन है, और लाहौर में उसका जीवन तो कला के लिए है।



२१

प्रेस से मिलने वाली तनख्वाह और रेडियो से मिलने वाले कॅण्ट्रेक्टों की आमदनी से सुनील की जेब गर्म होने लगी तो उसने अनारकली में दीपाली के चाचा का चौबारा छोड़कर पुरानी अनारकली में एक छोटा-सा मकान किराये पर ले लिया। इस से उसका आत्म-सम्मान बढ़ गया। उधर दीपाली हृदय से तो खुश थी, पर ऊपर से वह यही कहती रही—देखो, सुनील, तुमने चाचा जी का चौबारा छोड़कर अच्छा नहीं किया।

दीपाली और जीनत दोनों ही सुनील की कला-साधना में सहायक होने के लिए अधिक-से-अधिक उत्सुक थीं। तेजकौर अलग सुनील के ड्रामा में अच्छा-सा रोल पाने की कोशिश कर रही थी। जब भी वह कहीं बाज़ार में सुनील से मिलती, तो यही पूछती, "अगला ड्रामा कब आ रहा है और हमें अबके कौनसा रोल मिलने वाला है?" इसके उत्तर में सुनील यही कहता—मेरा ड्रामा पूरा तो होने दो।

एक दिन बाज़ार में अर्जुनसिंह से सुनील की भेंट हो गई। छूटते ही सरदार जी बोले, "अगले डरामे का क्या हाल है?"

"बस तैयार ही है," सुनील ने हँसकर कहा।

"नये डरामे दा नाम क्या रखा है?" अर्जुनसिंह ने हँसकर कहा, "कोई अच्छा-सा नाम रखना। सब से ज़्यादा असर तो नाम दा ही पड़ता है।"

[redacted]वार का दिन था। सुनील यों ही घर से निकलकर चौक की तरफ़ घूमने आ रहा था कि उसे अर्जुनसिंह नज़र आ गया और वहीं चौक में खड़े-खड़े बातें होती रहीं। फिर अचानक उसकी निगाह पीछे की तरफ घूमी तो उसने देखा कि जीनत और दीपाली चली आ रही हैं। उसने सरदार जी का ध्यान भी पीछे की तरफ़ खींचा। जीनत ने पास आकर कहा, "वहाँ मकान को ताला लगा रखा है। हमें क्या मालूम था कि आप लोग यहाँ गपशप लड़ा रहे हैं!"

"हफ्ते में छः दिन तो प्रूफ़रीडरी चलती है," दीपाली ने व्यंग्य का तीर छोड़ा, "और रविवार को भी कला के लिए समय नहीं निकाला जा सकता, तो हो चुकी कला-साधना!"

"अजी, आपको क्या मालूम!" सुनील ने सँभलकर कहा, "मैं तो अपने अगले ड्रामा के एक प्रमुख पात्र से बात कर रहा था।"

"वाह-वाह!" जीनत ने हँसकर कहा, "यह भी खूब रही। तो अब तो घर चलिए या यहीं सड़क पर ही अपने पात्रों से बातें करते रहेंगे?"

सुनील ने मुस्कराकर बताया कि वह अपने नये ड्रामा का नाम 'गुड़िया और लोरी' रखने जा रहा है। अर्जुनसिंह ने छूटते ही ज़ोर का कहकहा लगाया जैसे यह नाम बिलकुल फ़िज़ूल हो। फिर उसने सँभलकर कहा, "देखो जी, दसम पादशाह दे सिंघों को तो गलती से भी हँसी आ सकती है। 'गुड़िया और लोरी' नाम रखो, चाहे 'गुड़िया और बिसकुट'। हमारा काम तो आप जी दी मदद करना है। आप जी ने सिंघाँ दी दरख्वास्त लिखी, अब सिंघ भी आप जी दे लिए सदा हाज़िर हैं।"

"वाह वाह, मामा जी!" दीपाली हँस पड़ी, "तो अब चलना चाहिए।"

घर आकर सुनील ने सब को आराम से ड्राइंग रूम में बैठाया। जीनत ने परदों की प्रशंसा करते हुए कहा, "रंग तो खूब चुना है!"

दीपाली ने उठकर एक परदे को हाथ से मसलते हुए कहा, "रंग की तारीफ़ तो जीनत ने कर दी, क्या मैं इसके टेक्सचर के बारे में कुछ अर्ज कर सकती हूँ?"

"ज़रूर, ज़रूर !" सुनील ने हँसकर कहा, "माफ़ कीजिए, अभी कलाकार की जेब ज्यादा गरम तो नहीं हुई। यही प्रूफ़रीडर की तनख्वाह और रेडियो-स्टेशन के एक-आध प्रोग्राम से होने वाली आमदनी, और फिर लाहौर की पल-पल बढ़ती मँहगाई ! अजी, यह सब एक लिफ़ाफ़ा है। रंग भला है तो ठीक है, टेक्सचर की बात छोड़िए।"

"टेक्सचर भी बुरा नहीं।" दीपाली मुस्कराई।

अर्जुनसिंह ने बात का रुख अपनी ओर मोड़ते हुए कहा, "खैर आपने तो वह दरख्वास्त ठीक ही लिखी होगी सुनील जी, पर दसम पादशाह दे सिंघ दी समझ विच यह बात आ रही है कि अभी तक वह दरख्वास्त नीचे-नीचे ही चक्कर काट रही है और खास गवर्नर साहब दे हाथ विच नहीं पहुँची।"

जीनत ने हँसकर कहा, "वह दरख्वास्त तो मन्जूर हो ही जायगी। मैंने अपने अब्बा जान से भी आपकी सिफ़ारिश कर दी है। उनकी बात तो गवर्नर साहब बहुत ज़्यादा मानते हैं। किसी-न-किसी तरह लाल फीते में बँधी फाइल में आप की दरख्वास्त गवर्नर साहब के हाथ में जा ही पहुँचेगी और आपकी पैन्शन ज़रूर बहाल हो जायगी। लेकिन यह बताइए कि हमें क्या इनाम मिलेगा ?"

"हाँ हाँ, सरदार जी, हमें भी तो इसका कुछ इनाम मिलना चाहिए," सुनील मुस्कराया, "लेकिन पहले आपका काम हो जाय, हम तो इसी में खुश हैं।"

"आज तेज कहाँ रह गई ?" दीपाली ने पूछ लिया।

"तो वह आप लोगों को बताकर नहीं गई ?" अर्जुनसिंह ने हैरान होकर कहा, "अपने गाँव गई है तेज। कह रही थी—मामा जी, यहाँ मेरा जी नहीं लगता। मैंने कहा—कुछ दिन और रुक जा, सांदलबार में चलना अपनी मामी के पास। पर उसने मेरी एक न सुनी।"

"तो वह कब आयेगी ?" जीनत ने पूछ लिया।

"आ जायगी अगले इतवार को। कहती थी—सुनील जी दे अगले

ड्रामा विच हीरोइन मैं ही बनूँगी !"

जीनत ने ज़ोर से क़हक़हा लगाया। लेकिन सुनील ने अवसर की नज़ाकत समझते हुए कहा, "इसमें हँसने की क्या बात है ? हीरोइन तो ड्रामे के अनुसार ही चुनी जाती है। हीरोइन की खूबसूरती ही तो उसका सब से बड़ा सर्टीफ़िकेट नहीं हो सकता।"

"वाह जी वाह ! लाख रुपये दी बात कह दी आप ने !" अर्जुनसिंह की आँखें चमक उठीं, "बच्चे जीते रहें आप जी दे।"

अब के फिर जीनत ने ज़ोर का क़हक़हा लगाया और फिर सँभलकर कहा, "अभी तो यह अकेली जान हैं, सरदार जी !"

सूरज की किरणें नीले परदों से छन-छनकर भीतर आ रही थीं। इस प्रकाश में सुनील के लिए यह फ़ैसला करना सहज न था कि दीपाली और जीनत में सचमुच कौन अधिक सुन्दर है। सरदार जी की सफेद दाढ़ी फ़ौजियों की तरह कसकर बँधी हुई थी, मूँछों पर भी उन्होंने खूब ताव दे रखा था। नीम-फौजी लिबास, माथे पर लम्बाई के रुख़ पर झुर्रियों का जाल, और एक विशेष प्रकार का रोब। सुनील कभी सरदार जी के चेहरे पर नज़र जमा देता, तो कभी सोचने लगता कि अगले ड्रामा की हीरोइन दीपाली को बनाया जाय या जीनत को।

"मैं तो आज आपको डिनर के लिए दावत देने आई हूँ," जीनत ने सुनील को सम्बोधित करते हुए कहा, "अब्बा जान कह रहे थे कि आप बहुत दिनों से बागवानपुरा तशरीफ़ नहीं लाये, बल्कि उनका तो खयाल था कि आप चिरागों के मेले के दिन हमारे यहाँ जरूर आयेंगे। मैंने उन्हें बता दिया था कि प्रेस में आपने नया-नया काम शुरू किया है और आप इतवार होने पर भी तशरीफ़ नहीं ला सकेंगे। लेकिन आज तो उन्होंने सुबह उठते ही अम्मी जान से ज़ोर देकर पहली बात यही कही कि आज डिनर पर सुनील को जरूर बुलाया जाय और अम्मी जान ने मेरे जिम्मे यह ड्यूटी लगाई कि खुद जाकर आप से दरख्वास्त करूँ।"

"इतनी-सी बात के लिए इतना बड़ा लेक्चर !" दीपाली ने हँसकर

कहा, "खैर छोड़ो, यह बात तो तय है कि आज हम लोगों का डिनर तुम्हारे यहाँ है, जीनत ! अब ज़रा सुनील के अगले ड्रामा का भी तो कुछ अता-पता चले।"

अर्जुनसिंह आज्ञा लेकर चला गया। जाते-जाते एक बार फिर परदा उठाकर उसने भीतर झाँककर कहा, "गुरु दे सिंघा दी भानजी तेजकौर जल्दी ही आ जायगी, सुनील जी ! उस दा दिल है हीरोइन बनने के लिए तो आप जो दा भी क्या जाता है ! बिचारी दा थोड़ा खयाल ज़रूर रख लेना।"

"अब के तेजकौर ही हीरोइन बनेगी," दीपाली और जीनत की मिली-जुली आवाज एक साथ उभरी।

लेकिन जब अर्जुनसिंह चला गया तो जीनत ने ज़ोर का क़हक़हा लगाया। सुनील ने आँखों-ही-आँखों में डाँट पिलाई।

"खैर छोड़िए," जीनत ने सँभलकर कहा, "अगले ड्रामा का काम कितना बाकी है ?"

"यह पूछो कि अगला ड्रामा लिखते कब हैं ?" दीपाली ने चुटकी ली, "क्योंकि दिन-भर तो प्रेस की प्रूफ़रीडरी चलती है। बचे-खुचे टाइम में रेडियो के लिए कलम घसीटना भी ज़रूरी है। बाकी रहा ड्रामा का सीरियस काम। मैं सोचती हूँ कि वह तो अब हो लिया !"

सुनील ने हँसकर कहा, "दीपाली देवी, कलाकार भी तो खूब जानता है कि उसे किस तरह दुनिया को चकमा देना है, और किस तरह कला-साधना के लिए समय निकालना है। खैर छोड़िए। अगले ड्रामा में ज़रा देर भी हो जायगी तो आप ही बताइए कि कौनसी दुनिया इधर-से-उधर पलट जायगी! सुनील उन लोगों में से नहीं है जो यह समझते हैं कि एक ड्रामा लिखकर दुनिया की हवा बदली जा सकती है। अजी जाने दीजिए। कल रात मुझे नींद भी नहीं आई। मुझे यों ही यह खयाल आ गया और मैंने गुनगुनाना शुरू कर दिया—डगर-डगर से आया लीडर, उमड़-घुमड़ कर छाया लीडर !"

"तो गोया आप शेर भी कहने लगे, सुनील साहब!" जीनत ने हँसकर कहा, "मैं आज अब्बा जान से भी यह बात नहीं छिपाऊँगी। मैं तो पहले भी कई बार अब्बा जान से कह चुकी हूँ कि लीडर से कहीं बड़ा दर्जा तो आर्टिस्ट का है। लाख पॉलिटिक्स की डोर अपने हाथ में थामे फिरे लीडर, मगर आर्टिस्ट की और ही बात होती है—आर्टिस्ट जो कहता है उस में ज्यादा गहराई होती है।"

दीपाली ने सँभलकर कहा, "जीनत, तुम बुरा न मानो तो एक बात पूछूँ? मैंने सुना है कि तुम्हारे अब्बा जान कांग्रेस को छोड़कर मुस्लिम लीग में शामिल होने की बात सोच रहे हैं?"

"अब यह बात तो तुम अब्बा जान से ही पूछ सकती हो," जीनत ने सँभलकर कहा, "आज डिनर पर अच्छा शुगल रहेगा। मैंने कल रात अब्बा जान से पूछा था—कौम को सचमुच कैसा लीडर चाहिए?—आसमान से टपका हुआ या धरती से उगा हुआ? तुम यकीन मानो। अब्बा जान सामने से सिर्फ मुसकराते रहे, जैसे कह रहे हों—तो क्या आज मेरी बच्ची लीडर का मजाक उड़ाने पर तुल गई है? तुम मानो न मानो। अगर अब्बा जान के मुँह से कोई ऐसी-वैसी बात निकल गई होती, तो मैं तो साफ़-साफ़ कह देती कि खुद-साख्ता लीडर ही हमें सबसे ज्यादा तंग करते हैं, आज उनकी नाक में अंग्रेज की नकेल पड़ चुकी है। बाकी रही मुस्लिम लीग में शामिल होने की बात, इसके बारे में तो मैं अभी कुछ नहीं जानती। लेकिन मुझे यकीन है कि अब्बा जान जो भी कदम उठायेंगे सोच-समझकर ही उठायेंगे। क्योंकि इतना तो उनका भी एतकाद है कि मुल्क को आसमान से टपका हुआ नहीं, बल्कि धरती से उगा हुआ लीडर चाहिए।"

दीपाली ने मुस्कराकर कहा, "आज का सब से बड़ा तकाजा तो यही है कि हमारा मुल्क आजाद हो जाय।"

"आजादी को तो अब कोई रोक नहीं सकता," जीनत ने बढ़ावा दिया, "आज के ट्रिब्यून में सुर्खी देखी थी? सब से बड़ी सुर्खी तो यही थी—आजादी करीब है।"

"लेकिन देखना तो यह है कि आज़ादी कौनसी चाल चलती आ रही है," दीपाली ने गम्भीर होकर कहा, "यह करो, वह न करो—इस तरह से आज़ादी नहीं आयेगी। कॉंग्रेस यह कहती है, मुस्लिम लीग वह कहती है, अंग्रेज की ताक़त कमज़ोर हो गई, वह यहाँ रहना चाहे तो भी नहीं रह सकता, आखिर उसे अपना घर भी तो सँभालना है—ऐसी-ऐसी बातें सुनते-सुनते तो कान पक गये, लेकिन आज़ादी अब तक नहीं आई।"

"मैं किसी लीडर की बात तो नहीं कहता," सुनील ने गम्भीर होकर कहना शुरू किया, "मैं तो एक कलाकार की बात ही कह रहा हूँ। कई बार मुझे लगता है कि आज़ादी मेरा दरवाज़ा खटखटा रही है और बाहर से आवाज़ देकर कह रही है—उदास न हो जाना, मेरे कलाकार! मैं सच-मुच आ रही हूँ। मैं तो सबके लिए आ रही हूँ—जनता के गिरे हुए जीवन को ऊपर उठाने के लिए, वेदना की यातना को खुशियों में बदलने के लिए। कई बार तो मुझे लगता है कि आज़ादी मेरे कमरे के भीतर आ गई और अब वह मुझ से कह रही है—तुम उदास तो नहीं हो गये, मेरे कलाकार? तुम अभी मुझे पहचानोगे नहीं, क्योंकि मेरा चेहरा घूँघट की ओट में है। लेकिन मैं वही हूँ जिसका तुम्हें बरसों से इन्तज़ार है, जिसके आने की तारीख निश्चित होने जा रही है। हाँ, वह दिन दूर नहीं, जब मेरे आने की तिथि निश्चित हो जायगी। उस तिथि पर मैं तुम्हें अपना चेहरा दिखाने आऊँगी। हाँ, तो मैंने सोचा कि मेरा कलाकार कहीं उदास न हो जाय, उसे अपनी झलक तो दिखा आऊँ, ज़रा ढाढ़स तो बँधा आऊँ। मेरे कलाकार, मैं जानती हूँ कि तुम्हें तो मेरा सबसे ज्यादा इन्तज़ार रहता है····आप लोगों को शायद विश्वास नहीं होगा, लेकिन मैं सच कहता हूँ कि जब मैं आज़ादी की देवी की आवाज़ सुनता हूँ तो मुझे लगता है कि मैं किसी जादू के असर से बच्चा बन गया हूँ, माँ ने मुझे अपनी गोद में ले लिया है, माँ मुझे आँचल में लपेट रही है, माँ ने प्यार-भरी आँखें मुझ पर झुका दी हैं····और यकीन कीजिए एक झटके के साथ जैसे मेरी कल्पना के तार टूट जाते हैं और सचाई सामने आ जाती है। देखते-ही-देखते जैसे मैं

बच्चे से कलाकार बनकर मेज पर झुका बैठा हूँ और अपना ड्रामा लिख रहा हूँ···एक बार फिर कल्पना रंग दिखाती है। लगता है कि आज़ादी की देवी दरवाज़े के करीब खड़ी पूछ रही है—तो मैं जाऊँ ? तुम्हें तो शायद इतनी फ़ुरसत भी नहीं कि मेरे साथ बात भी कर सको।···उस समय मुझे लगता है कि मेरी धरती माता समीप बैठी मुझे प्यार-भरी नज़रों से देख रही है। मैं साफ़ देखता हूँ कि उसकी वैसी ही शक्ल-सूरत है जैसी मेरी माँ की थी। वह मुसकराती है, जैसे वह सोच रही हो कि उसके बेटे को उसकी प्रेमिका मिल गई। उस समय मेरे जी में तो आता है कि अपना चेहरा छिपाकर माँ की गोद में मीठी नींद सो जाऊँ और बचपन की याद में खो जाऊँ···लेकिन फिर जैसे यह कल्पना-चित्र बीच ही में टूट जाता है। मैं अपनी कलम एक तरफ़ रखकर देखता हूँ कि वहाँ न मेरी माँ है, न मेरी कोई प्रेमिका। ऐसा कई बार अनुभव हो चुका है। बारम्बार मुझे लगा कि आज़ादी सचमुच एक प्रेमिका की तरह आयेगी, जैसे इसीलिए बाहर उसके आने का इतना शोर हो।"

दीपाली और ज़ीनत मन्त्रमुग्ध-सी बैठी कलाकार की बातें सुन रही थीं। नीले परदों से छन-छनकर सूरज की किरणें दोनों सहेलियों के चेहरों पर खेल रही थीं।

सुनील ने कुछ क्षणों की खामोशी को चीरते हुए कहा, "भई वाह ! मैं भी एक ही पागल हूँ।"

ज़ीनत ने हँसकर कहा, "तो क्या अब तक आपको इसमें कोई शक था ? जो बात शेक्सपीयर कवियों और प्रेमिकाओं के बारे में कह गया है, वह तो वाकई ड्रामा लिखने वालों पर भी पूरी उतरती है।"

"तुम्हारा मतलब है कि प्रूफ़रीडरों पर भी और रेडियो के लिए टॉक लिखने वालों पर भी !" दीपाली ने व्यंग्य कसना आवश्यक समझा।

"शौक से मज़ाक कर लो, दीपाली देवी !" सुनील ने सँभलकर कहा, "जब इस सोसायटी में ड्रामा लिखकर पेट न भरे तो कलाकार को कोई दूसरा काम करना ही होगा, क्योंकि पेट तो कलाकार के साथ भी लगा हुआ है।"

रेशमी परदों से छन-छनकर आती हुई किरणें कमरे के वातावरण को सुन्दर बना रही थीं। दीपाली और ज़ीनत कुछ न बोलीं, जैसे कलाकार की कला-साधना में उन्हें कोई सन्देह न रह गया हो।

"ओह," सुनील ने एकदम कुर्सी से उछलकर कहा, "भई माफ़ करना, बातों-बातों में मैं आपको चाय के लिए पूछना भी भूल गया!"

ज़ीनत ने मुस्कराकर कहा, "चाय तो आनी ही चाहिए।" और उसने अपना सिर दीपाली के कन्धे पर डाल दिया, "तुम्हारा क्या ख़याल है, मेरी बन्नो? तुम तो शायद कॉफ़ी-हाउस चलने की ही सलाह दोगी?" और फिर दीपाली को खामोश पाकर उसने सुनील को सम्बोधित किया, "चलिए, कॉफ़ी-हाउस ही चलते हैं। दीपाली को शायद थोड़ी भूख भी लगी है, उसे डालडा में तले हुए नमकीन काजू बहुत पसन्द हैं।"

सुनील ने गम्भीर होकर कहा, "तो चलिए, कॉफ़ी-हाउस ही चलते हैं। डालडा में तले हुए नमकीन काजुओं की क्या कमी है! कल रात मैंने अपने अगले ड्रामा की हीरोइन के लिए एक पात्र के मुँह से यह बोल कहलवाये थे—मेरे यार, जब मैं उसे काजुओं की प्लेट पर झुके हुए देखता हूँ, तो मुझे बाजरे के सिट्टे में ठूँग मारती हुई गिटारी की याद आने लगती है!"

इस पर ज़ोर का कहकहा पड़ा और वे कॉफ़ी-हाउस जाने के लिए उठ कर खड़े हो गए।



२२

सुनील देखता कि प्रेस के कम्पोज़ीटर एक-दूसरे से यों उलझ जाते हैं जैसे मुरगे एक-दूसरे के पर नोचने पर तुल जायँ, या जैसे असील कबूतर सब भलमनसत भुलाकर एक-दूसरे पर झपट पड़ते हैं। कम्पोज़िंग विभाग का ठेकेदार कम्पोज़ीटरों के बीच काम बाँटने में बेइन्साफ़ी कर जाता था, अच्छी और आसान कापी अपने पिट्ठुओं को दे डालता था, बुरी लिखी हुई और कठिन कापी दूसरों के हाथ में थमा देता था। यही कुछ लोगों की शिकायत थी। इसी को लेकर झगड़ा हो जाता। इस किस्म के झगड़ों में सुनील हमेशा कम्पोज़ीटरों में सुलह-सफ़ाई कराते हुए उनको समझाता कि इन्क़लाब तो आकर रहेगा और इन्क़लाब के बाद प्रेसों मे कम्पोज़ीटरों को भी मासिक वेतन मिला करेगा और यह ठेकेदारी की प्रथा ख़तम हो जायगी।

सुनील की यह आवाज़ एक-दो बार प्रेस के मालिक के कान में भी पड़ी और उसने सुनील को डाँट पिलाकर कहा, "प्रूफ़रीडर को तो अपने ही काम से सरोकार रखना चाहिए। कम्पोज़ीटरों को इन्क़लाब का मतलब समझाना तो प्रूफ़रीडर का काम नहीं है।"

एक दिन शाम के चार बजे प्रेस के मालिक के पिता जी दमे के शिकार होकर कूच कर गये, तो प्रेस एक घण्टा पहले ही बन्द कर दिया गया, और पता चला कि अगले दिन भी छुट्टी रहेगी।

कल दिन-भर छुट्टी का मज़ा रहेगा, यह सोचकर सुनील रात को आराम

की नींद सोया, सुबह आँख खुली तो उसने देखा कि सूर्य यों उठा जैसे किसी ने गगन पर लाल थाली उछाल दी हो।

चैत्र की प्रभातकालीन ठण्डी हवा चल रही थी। वह तकिये पर सिर रखे देर तक बिस्तर पर पड़ा रहा। उसकी कल्पना में अर्जुनसिंह का चेहरा उभरा। कई दिन से वह नज़र नहीं आया था। अर्जुनसिंह का ध्यान आते ही उसकी कल्पना में उसके वे शब्द गूँज गये, जिनके द्वारा उसने शहीद भगतसिंह को अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए कहा था कि जब भगतसिंह ने दिल्ली की असेम्बली में बम फेंका तो हमारे बहुत-से लीडर पंघूड़ों में पड़े अपनी माँ की लोरियाँ सुन रहे थे····

फिर उसकी कल्पना में लाहौर से बनारस जाते समय गाड़ी के डिब्बे का वह दृश्य घूम गया जब मौलाना हिफ़ज़ुर्रहमान ने अपनी ख़सख़सी दाढ़ी पर हाथ फेरते हुए उस जलूस की याद ताज़ा कर दी थी जो भगतसिंह को फाँसी पर लटका दिये जाने के बाद लाहौर में निकला था और जब मालूम होता था कि लाहौर को बुरी तरह गुस्सा आ गया था।

उसके तकिये के नीचे 'अमर शहीद भगतसिंह' की प्रति पड़ी थी जो उसने पिछले सप्ताह ही ख़रीदी थी। रात को वह इस पुस्तक को टेबल-लैम्प के प्रकाश में देर तक पढ़ता रहा था। तकिये के नीचे से उसने वह पुस्तक निकाली और उसके पन्ने पलटते हुए उसकी दृष्टि उस पत्र पर पड़ी जो सरदार भगतसिंह और बी० के० दत्त की ओर से मॉडर्न-रिव्यू के सम्पादक के नाम लिखा गया था :

"आपने दिसम्बर मास की अपनी प्रिय पत्रिका में 'इन्कलाब, जिन्दाबाद !' शीर्षक से एक टिप्पणी लिखते हुए इस वाक्य को निरर्थक बताया है। हमारे लिए आप-सरीखे विद्वान्, बुद्धिमान् और मान्य व्यक्ति की बात का उत्तर देना, जिसे हर कोई सोच-समझ वाला हिन्दुस्तानी सम्मान की दृष्टि से देखता है, गुस्ताख़ी में शामिल है। पर इस विचार से कि इस अवसर पर देश में इस नारे को ख्याति देने का श्रेय हमें प्राप्त हुआ है, इसका अर्थ बताना हमारा परम कर्तव्य हो जाता है और हम यह लिखने का साहस

कर रहे हैं।

"हम इस नारे के निर्माता नहीं हैं। यह नारा रूस के क्रान्तिकारी आन्दोलनों में उपयोग में आता रहा है। प्रसिद्ध समाजवादी लेखक ऐप्टिन सिन्क्लेयर के कुछ सुप्रसिद्ध उपन्यासों में यही मशहूर नारा उनके क्रान्तिकारी पात्रों ने लगाया है। इस वाक्य का यह अर्थ नहीं कि हथियारों की लड़ाई सदा चलती रहे, या ऐसी अवस्था थोड़े-से समय के लिए भी बनी न रहे। चिर-काल से उपयोग में आने से इस नारे को एक विशेष सम्मान प्राप्त हो गया है, जो उपयुक्त है और शैली, भाषा और शब्द-कोष के समस्त नियमों पर पूरा उतरता है। इसीलिए इसे उन विचारों से पृथक् नहीं किया जा सकता जो इस में रचे हुए हैं और एक सीमा तक इसमें निहित हैं। उदाहरण के लिए जब हम 'जितीन दास ज़िन्दाबाद' का नारा लगाते हैं तो इस से हमारा यह अर्थ होता है कि उसके जीवन का सम्मानित आदर्श रहती दुनिया तक जीवित रहे। इस नारे को बुलन्द करने से हमारा यह भाव होता है कि हम भी अपने आदर्शों के लिए ऐसी सच्ची भावना की घोषणा करें। बस यही है वह भावना, जिसकी हम प्रशंसा करते हैं।

"इसी प्रकार इन्कलाब का भावार्थ भी उसके शब्दार्थ से लेना चाहिए। वे लोग, जो इसका उचित अथवा अनुचित प्रयोग करते हैं, इस शब्द के कई लाभ और कई अर्थ बताते हैं। क्रान्तिकारियों की दृष्टि में यह एक पवित्र वाक्य है। हम इन्कलाब का जो भाव लेते हैं, वह हमने दिल्ली के सेशन जज की अदालत में अपने एक बयान के द्वारा बताने का यत्न किया था।

"उस बयान में हमने यह बताया था कि इन्कलाब का भाव केवल हथियारों का संघर्ष नहीं होता, यह बमों और पिस्तौलों का ईमान नहीं है। बम और पिस्तौल किसी समय इन्कलाब का साधन हो सकते हैं, और इस में सन्देह नहीं कि अनेक आन्दोलनों में बम और पिस्तौल एक ख़ास काम करते हैं। लेकिन केवल इसी कारण बम और पिस्तौल इन्कलाब के

विपरीत नहीं हो जाते। विद्रोह को इन्कलाब नहीं कहा जा सकता। हाँ, यह हो सकता है कि किसी विद्रोह का परिणाम अन्त में इन्कलाब हो जाय।

"इस वाक्य में इन्कलाब का अर्थ भलाई के लिए परिवर्तन की उमंग है। लोग प्रायः एक बनी-बनाई बात को लेते हैं, और इसीलिए परिवर्तन के विचार से घबरा उठते हैं। यही मुर्दा होने की निशानी है, जिसे दूर करने के लिए क्रान्तिकारी भावना पैदा करने की आवश्यकता है, नहीं तो अकर्मण्यता का साम्राज्य बना रहेगा और प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ लोगों को पथ-भ्रष्ट करती रहेंगी। यह निराशाजनक चित्र मानव-प्रगति का पथ अवरुद्ध कर देता है। इन्कलाब से हर इन्सान को उत्साहित रहना चाहिए ताकि दूसरी शक्तियाँ उसे इस दौड़ से रोकने के लिए गठजोड़ न कर सकें।

पुराना निज़ाम हर समय बदलता है और नये निज़ाम के लिए स्थान ख़ाली करता है, ताकि एक अच्छा निज़ाम दुनिया को बद-दयानत न बना दे। यह है वह अर्थ, जिसे हम अपने हृदय में रखकर 'इन्कलाब ज़िन्दाबाद' का नारा लगाते हैं।"

इस पत्र पर २२ दिसम्बर, १९२९ की तिथि पड़ी हुई थी। एक बार पूरा पत्र पढ़ जाने के बाद उसने बीच-बीच से इस पत्र के कुछ अंशों पर नज़र दौड़ाई। उसे लगा कि इन्कलाब को कोई रोक नहीं सकता, जैसे उसकी कल्पना में प्रेस के कम्पोज़ीटर एक जलूस बनाकर इन्कलाब के नारे लगा रहे हों।

उसे प्रेस-मालिक के वे शब्द याद थे—कम्पोज़ीटरों को इन्कलाब का मतलब समझाना तो प्रूफ़रीडर का काम नहीं है! साथ ही प्रेस-मालिक कितनी चापलूसी भी कर सकता है, यह बात भी तो उस से छिपी हुई नहीं थी। अभी अगले ही रोज़ प्रेस-मालिक ने उसे सम्बोधित करते हुए कहा था—प्रूफ़रीडिंग का काम तो पब्लिक की भलाई का काम है, इसलिए अगर थोड़े-बहुत प्रूफ़ तुम इतवार को घर से भी पढ़ लाया करो तो पब्लिक तुम्हें दुआएँ देगी!

भगतसिंह का पत्र इस पुस्तक में उसके सामने खुला पड़ा था, इसका तो एक-एक शब्द आज सत्रह बरस बाद भी ताजा और सजीव था।

जिस इन्क़लाब की ओर भगतसिंह ने संकेत किया है, वह इन्क़लाब तो सचमुच जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में होता आया है। मैं एक कलाकार हूँ—कला के क्षेत्र का एक क्रान्तिकारी! भगतसिंह और मैं भाई-भाई हैं। ....फिर उसे लगा जैसे यह उसकी आत्मवंचना हो। कहाँ शहीदों के सम्राट् सरदार भगतसिंह और कहाँ मैं एक अकिंचन नाटककार! नहीं, नहीं, एक प्रूफ़रीडर! लेकिन जब से मैंने एक प्रेस में प्रूफ़रीडर का काम स्वीकार कर लिया है, मैंने अपने आत्मसम्मान को कुछ तो बचाया है....



२३

सुनील को लगता जैसे उसने दीपाली के चाचा जी का चौबारा छोड़कर कोई अपराध किया हो। जीनत अधिक समीप आ रही थी। वह दीपाली से पूछना चाहता था कि यदि वह अंग्रेजी ड्रामा पर पी-एच० डी० की तैयारी करने के बावजूद हिन्दुस्तानी स्टेज पर एक्ट्रेस बनी रह सकती है तो सुनील एक प्रेस में प्रूफ़रीडर का काम करते हुए क्यों एक नाटककार नहीं बना रह सकता।

दीपाली के चाचा जी का चौबारा अधिक हवादार ही सही, लेकिन मुझे तो पुरानी अनारकली का अपना यह घर ही अच्छा लगता है जिसका किराया मैं अपनी जेब से देता हूँ। कलाकार को भी तो अपना आत्मसम्मान बचाकर रखना पड़ता है।

एक दिन 'अमर शहीद भगतसिंह' के पन्ने पलटते हुए उसकी नज़र एक जगह जम गई। यहाँ वह चिट्ठी उद्धृत की गई थी, जो सरदार भगतसिंह, राजगुरु और सुखदेव ने लाहौर के सुपरिण्टेण्डेण्ट के द्वारा २२ मार्च, १९३१ को पंजाब के गवर्नर के नाम भेजी थी :

"हम विनयपूर्वक नीचे लिखी कुछ पंक्तियाँ आपकी सेवा में प्रस्तुत करना चाहते हैं—

"ब्रिटेन की ओर से भेजे हुए हिन्दुस्तान के वायसराय ने विशेष आर्डिनेन्स के द्वारा लाहौर सडीशन केस की पैरवी के लिए एक विशेष ट्रिबुनल की नियुक्ति की, जिसने अक्तूबर १९३० को हमें फाँसी की सज़ा का हुक्म सुनाया।

हम पर सब से बड़ा दोष सम्राट् जार्ज पंचम के विरुद्ध युद्ध करने का है। अदालत के उपरोक्त निर्णय से दो बातें स्पष्ट होती हैं। एक तो यह कि गोरी चमड़ी वालों और हिन्दुस्तानियों में युद्ध छिड़ा हुआ है। दूसरे, हम ने इस युद्ध में भाग लिया था। इस दृष्टि से हम शाही कैदी हैं। इस तनक़ीह में किसी हद तक झूठ से काम लिया गया है, पर हम यह कहे बिना नहीं रह सकते कि ऐसा करके हमारा सम्मान और भी बढ़ाया गया है। पहली तनक़ीह पर हम अधिक विस्तार से प्रकाश डालना चाहते हैं। स्पष्टतः ऐसा कोई युद्ध नहीं हो रहा है, जब कि अदालत की तनक़ीह ऐसा बताती है। हमें पता नहीं कि 'युद्ध आरम्भ करने' से अदालत का क्या भाव है। हमें यह तनक़ीह मानने की स्वतन्त्रता दी जाय। साथ ही हम इसका सही अर्थ बताना चाहते हैं।"

पढ़ते-पढ़ते सुनील रुक गया। उसे लगा कि इस पत्र की भाषा तो उतनी ही सजीव है जितनी किसी कला-कृति की भाषा। जैसे फाँसी पर लटकने से पहले एक शहीद की लेखनी में वही जोर आ जाना स्वाभाविक ही हो जो प्रायः किसी महान् कलाकार की लेखनी ही दिखा पाती है। वह फिर पढ़ने लगा :

"हम यह कहना चाहते हैं कि युद्ध छिड़ा हुआ है। यह युद्ध तब तक जारी रहेगा जब तक सैनेट पर बलशाली लोगों ने हिन्दुस्तान के दबे-पिसे लोगों की आमदनी के बल पर अधिकार जमा रखा है। भले ही लाखों अंग्रेज सरमायादारों और खालिस हिन्दुस्तानियों ने आपस में गठजोड़ करके लूट मचा रखी हो, या निरे हिन्दुस्तानी धनवानों के द्वारा ग़रीबों का लहू चूसा जा रहा हो, इन बातों से कोई अन्तर नहीं पड़ता। कोई परवाह नहीं यदि तुम्हारी सरकार लीडरों या हिन्दुस्तान की संस्थाओं के अधिनायकों पर डोरे डालने में सफल हो जाय, कुछ सुविधाएँ मिल जायँ और समझौता हो जाय। पर जनता पर उसका बहुत कम प्रभाव पड़ता है। इस बात की कोई चिन्ता नहीं कि एक बार फिर नवयुवकों के साथ विश्वासघात किया गया है। हमें इस बात का तनिक भी दुःख नहीं कि हमारे राजनीतिज्ञ

गुमराह हो गये हैं और समझौते की बातचीत में वे इन भोले-भाले, बेघर लोगों को भूल गये हैं, जिन्हें दुर्भाग्य से क्रान्तिकारी पार्टी का सदस्य समझा जाता रहा है। उधर हमारे राजनीतिज्ञ इन्हें अलग अपना शत्रु समझते हैं। अपने विचारानुसार वे हिंसा में विश्वास नहीं रखते, पर उन वीरांगनाओं ने निःसन्देह अपना सर्वस्व बलि वेदी पर चढ़ा दिया, जब उन्होंने अपने पतियों को बलिदान के लिए विदा किया, जिन्होंने अपने भाई भेंट कर दिये, जो कुछ भी उनके पास था लुटा दिया, यहाँ तक कि स्वयं भी न्यौछावर हो गईं। पर आपकी सरकार उन्हें विद्रोही समझती है। आपके एजेण्ट चाहे झूठी मनघड़न्त कहानियाँ घड़कर बदनाम करें, पार्टी की ख्याति को क्षति पहुँचायें, पर यह युद्ध जारी रहेगा।"

पढ़ते-पढ़ते उसकी आँखें सूर्य की ओर उठ गईं। उसे लगा कि आज तो सूर्य भी एक क्रान्तिकारी की तरह उदय हुआ है। उसके सम्मुख जैसे एक आंधी आ रही हो, जैसे वह भी इस आंधी में उड़ा जा रहा हो। उसकी दृष्टि फिर पुस्तक पर गड़ गई :

"सम्भव है कि यह युद्ध किसी समय कोई और रूप धारण कर ले, किसी समय भी यह युद्ध खुल्लमखुल्ला शुरू हो जाय, कभी लुक-छिपकर होता रहे, कभी बहुत ज्यादा भयानक हो जाय, और कभी देश की कृषि-सम्बन्धी परिस्थितियों के कारण इस युद्ध को बढ़ावा मिलता रहे, कभी मामला यहाँ तक पहुँच जाय कि जीवन पर मृत्यु विजय पा ले। खैर कुछ भी हो, इसका आप पर प्रभाव अवश्य पड़ेगा। अब यह आपकी इच्छा पर है कि किसी भी स्थिति को स्वीकार कर लें। बहुत सम्भव है कि यह युद्ध अत्यन्त भयानक रूप धारण कर ले और यह किसी भी हालत में उस समय तक शेष न हो जब तक समाज का यह ताना-बाना बिलकुल नष्ट नहीं हो जाता, सामाजिक क्रान्ति नहीं आ जाती, हर चीज नहीं बदल जाती, मानव-संसार में नवयुग नहीं आ जाता, और जब तक पूर्णतया शान्ति स्थापित नहीं हो जाती।"

पढ़ते-पढ़ते वह फिर रुक गया। उसे लगा कि वस्तुतः आज सामाजिक जीवन में आमूल परिवर्त्तन की आवश्यकता है। ग़रीब आदमी की जितनी

छीछालेदर आज नज़र आती है, इतनी तो पहले कभी नज़र न आई थी। ग़रीब का तो कदम-कदम पर अपमान होता है, चाहे वह प्रेस का कम्पोज़ीटर हो जो ठेकेदार के अधीन काम करता है, चाहे वह मासिक वेतन पाने वाला एक प्रूफ़रीडर हो। वह फिर पढ़ने लगा :

"आने वाले थोड़े-से समय में ही एक अन्तिम युद्ध लड़ा जायगा और यह युद्ध फैसला कर देगा। साम्राज्यवाद और पूँजीवाद कुछ ही दिनों के मेहमान हैं। यही वह युद्ध है, जिसमें हमने पूरा भाग लिया है। हमें इस बात का गर्व है कि यह युद्ध हमने आरम्भ नहीं किया और न ही यह हमारे जीवन के साथ समाप्त हो जायगा। हमारी सेवा इतिहास में एक और वृद्धि करेगी, जिसे जितीनदास और भगवतीचरण की कुर्बानियों ने उज्ज्वल कर दिया है। उनकी कुर्बानियाँ बहुत ऊँची हैं। जहाँ तक हमारे भाग्य का प्रश्न है, हम बड़े आदर से यह कहना चाहते हैं कि जब आपने हमें फाँसी पर चढ़ाने का निर्णय कर लिया है तो आप वैसा ही करेंगे। आपके हाथों में ताकत है, आपको अधिकार है, पर हम यह कहना चाहते हैं कि आपके सामने 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' का सिद्धान्त है, उसी का आप अनुकरण कर रहे हैं।"

उसकी आँखें चमक उठीं, जैसे उसकी लेखनी भी यही कहना चाहती हो। 'गुड़िया और लोरी' का प्रमुख पात्र एक क्रान्तिकारी ही तो था। उसकी वाणी जैसे स्वयं नाटककार की वाणी थी। उसे लगा कि यह पत्र आज भी हमें पुकार-पुकारकर सन्देश दे रहा है। वह फिर पढ़ने लगा :

"हमारे मुकदमे की पैरवी इस बयान को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि हमने इस से पहले कभी प्रार्थना-पत्र नहीं दिया, और न ही हम दया की भीख माँगते रहे हैं। हम आपको यह बताना चाहते हैं कि आपकी सरकार की एक अदालत के निर्णय के अनुसार हम पर युद्ध करने का अपराध लगाया गया है, इसलिए हम जंगी कैदी हैं। इस आधार पर हम यह माँग करते हैं कि हमारे साथ भी वही व्यवहार किया जाय और हमें फाँसी देने की बजाय गोली से उड़ाया जाय। अब यह प्रमाण देना आपका काम है कि

आप उस निर्णय पर विश्वास रखते हैं जो आपकी सरकार की अदालत ने दिया है। आप यह काम करके प्रमाण दें। हम हार्दिक प्रार्थना करते हैं, और आशा रखते हैं कि मिलिट्री-डिपार्टमेण्ट को आपकी ओर से हुक्म हो जाय कि वे हमें गोली से उड़ाने के लिए एक दस्ता भेज दें।"

पूरी चिट्ठी पढ़ चुकने के बाद वह अनमना-सा बैठा रहा। उसकी आँखों में सत्रह वर्ष पहले का ज़माना घूम गया, जैसे उसकी कल्पना में भगतसिंह का चेहरा पूरी तरह उभर आया हो। काम तो शहीदों ने किया। कलाकार क्या खा कर वह काम करेगा ?···

उसके रोम-रोम में जैसे बिजली-सी दौड़ गई। पुरानी होते हुए भी सचमुच यह चिट्ठी कितनी नई थी। इसके एक-एक शब्द में वीर-क्रान्तिकारी साँस ले रहे थे।

उसे याद आया कि अभी उस रोज़ शाम को जब वह छुट्टी होने पर प्रेस से निकल कर अनारकली में पहुँचा तो करनाल शॉप के सामने मौलाना हिफ़्ज़ुर्रहमान मिल गये थे। उन्होंने हँसकर कहा था—'अजी सुनील साहब, आपका दूसरा ड्रामा कब आ रहा है ? अब के ज़रा कुछ गरम भी रहना चाहिए। हो सके तो भगतसिंह की आवाज़ भी लाइए। हमारे इन शहीदों की आँखें तो आप पर लगी हैं।' इसके उत्तर में उसने मौलाना को विश्वास दिलाया था कि यदि उसकी लेखनी में ज़रा भी बल है तो भगतसिंह की आवाज़ उभरकर रहेगी।

वह बिस्तर से उठकर खड़ा हो गया और तेज़ी से ज़ीने की तरफ़ बढ़ा। नीचे उतरते हुए उसने प्रण किया कि वह अपनी रचना में इन्कलाब का साथ देगा, उन शहीदों की आवाज़ को आगे बढ़ायेगा जो हँसते-हँसते फाँसी पर चढ़ गये। उस समय उसके मन को उन लोगों के शब्द भी छू गये जो क्रान्तिकारियों की कार्य-प्रणाली का समर्थन करने से हिचकिचाते थे, पर इस बात में तो सन्देह की तनिक भी गुंजाइश न थी कि इन वीरों का चरित्र महान् था, उन्होंने जो कुछ किया पूरी सचाई से किया और इतिहास में उनका कार्य कभी भुलाया नहीं जा सकता।

गुसलखाने में नल के नीचे सिर किये वह देर तक बैठा रहा और 'इन्कलाब जिन्दाबाद' का नारा उसकी कल्पना में गूँजता रहा।

उसने निश्चय किया कि वह इन्कलाब की दाग़बेल सब से पहले उसी प्रेस में डालेगा जहाँ वह काम करता है।···ठेकेदार के ज़ुल्म के विरुद्ध आवाज़ उठाने के लिए मैं कम्पोज़ीटरों को तैयार करूँगा। यह बात पूरी तरह उनके मन पर अंकित कर दूँगा कि प्रेस का ठेकेदार भी तो एक तरह का ज़मींदार है जो कम्पोज़ीटरों की मेहनत पर गुलछर्रे उड़ाता है। आख़िर प्रेस और कम्पोज़ीटरों के बीच से ठेकेदार को ख़त्म क्यों नहीं कर दिया जाता?···

उसे प्रेस-मालिक के शब्द याद आये जो उसने एक बार कम्पोज़ीटरों के एक 'रिंग लीडर' को सम्बोधित करते हुए कहे थे—'हड़ताल की धमकी देते हुए तुम लोगों को शर्म भी तो नहीं आती! हम प्रेस बन्द कर देंगे, बस चलते हम ठेकेदार को ज़रूर कायम रखेंगे। आख़िर वह हमारा ही तो वायसराय है! तुम लोगों को कितनी रिआयतें दी गईं, यह तो तुम हमेशा भूल जाते हो! रेट ड्योढ़ा कर दिया गया, इसका फ़ायदा भी तो तुम्हें ही पहुँचा है। एडवांस भी दिया ही जाता है, लेकिन तुम लोग तो ठहरे तोता चश्म! आगे ही आगे, तुम तो कहीं रुकना ही नहीं चाहते। माँग-पर-माँग, अब यह भी कोई तरीक़ा है। यहाँ तो वह बात है कि कोयलों की दलाली में हाथ काले। प्रेस को तो मशीनों की घिसाई के भी पैसे नहीं मिलते!··· ऊँह! प्रेस को तो मशीनों की घिसाई के भी पैसे नहीं मिलते! उसने प्रण किया कि वह तो उन्हीं लोगों का साथ देगा, जो दबे हुए हैं, पिसे हुए हैं। वह कलम का क्रान्तिकारी बनेगा।···



१४

ज़ीनत बड़ी संजीदा-मिज़ाज लड़की तो न थी, लेकिन वह हर बात को पूरी तरह तोलकर ही मुँह से निकालती। इधर कुछ दिनों से वह पंजाब लिटरेरी लीग में पढ़ने के लिए एक पेपर लिख रही थी। इसका विषय था 'इक़बाल : एक नया मूल्यांकन'। इसके लिए उसने कितना पढ़ा, कितनी जगह जाकर प्रोफेसरों और आलोचकों के साथ इक़बाल की कविता को डिस्कस किया, यह उसका ही दिल जानता था। जैसे वह अपनी सहेलियों के लिए भी गुम हो गई हो। एक बार तो वह सुनील को भी अपनी प्रतिभा दिखा देना चाहती थी। सुनील को आकर्षित करने के लिए उसके किसी ड्रामे में साइड रोल में स्टेज पर आना ही तो काफ़ी नहीं।

मैं सुनील को दिखा दूँगी कि मैं भी कुछ दम रखती हूँ। दीपाली पी-एच० डी० कर रही है; कई-कई घण्टे पंजाब यूनिवर्सिटी की लाइब्रेरी में बैठी पढ़ती रहती है, तो मैं कौनसी कम हूँ! चलिए थीसस न सही, एक पेपर ही सही, मैं भी कुछ तो कर ही रही हूँ, बल्कि मैं तो अपने पेपर से ही लाहौर के पढ़े-लिखे हलकों में अपने बारे में एक शोर पैदा कर दूँगी। पंजाब लिटरेरी लीग कोई ऐसी-वैसी सोसाइटी तो नहीं है। इसमें तो बड़े-बड़े प्रोफ़ेसर और प्रिंसिपल आते हैं। अब के तो यूनिवर्सिटी के वायस चान्सलर भी आयेंगे, वही तो उस जलसे की सदारत करेंगे जिसमें मैं इक़बाल पर पेपर पढ़ूँगी।

अम्मी जान कहतीं, "ज़ीनत, तुमने इक़बाल पर पेपर लिखने का काम अपने ज़िम्मे लेकर एक मुसीबत मोल ले ली। तुमने तो खाना-पीना और सहेलियों से मिलना भी छोड़ दिया।" और ज़ीनत के पास एक ही जवाब था, "दुनिया में कुछ तो करना चाहिए, अम्मी जान!" अम्मी जान बड़े गर्व से ज़ीनत की तरफ़ देखतीं, जैसे कहना चाहती हों—खुश रहो, ज़ीनत! अरे मैं कब कहती हूँ कि तुम कुछ न करो। ज़रूर करो, आगे बढ़ो, ऊपर उठो।

बाग़वानपुरा की किसी सड़क से गुज़रते हुए ज़ीनत कभी किसी लड़की को छाती से बच्चा लगाये चलते देखती तो उसे बुरी तरह गुस्सा आने लगता—ऊँह! यह भी कोई बात हुई! ज़रा-सी उम्र, माँ भी बन गई! अब तो इसे बच्चे की फ़राक या टोपी ब्योंतने की बात ही सूझ सकती है, कपड़े की काँट-छाँट के ही सपने आ सकते हैं। अगर यह बच्ची है तो अभी से दहेज़ और छूछक तैयार करने की बात शुरू हो सकती है। उमर-भर यही हिसाब चलेगा। एक बच्ची और भी तो आ सकती है। एक झटके के साथ वह सँभल जाती और सोचती—हमारी अम्मी जान तो इस हिसाब से ख़ुशकिस्मत हैं। मैं उनकी इकलौती बेटी हूँ। शायद वह मुझे जावेद के गले मढ़ने की बात तय कर चुकी हैं। जावेद इसीलिए इधर बहुत ख़ुश नज़र आने लगा है। अब मैं जावेद से कैसे कहूँ कि जनाब तशरीफ़ ले जाइए, कोई और दुलहन तलाश कीजिए अच्छी-सी, हाँ अच्छी-सी। मैं तो अच्छी-सी दुलहन बनने से रही। अभी तो मुझे बहुत-से काम करने हैं। पहला काम है इक़बाल पर एक ऐसा पेपर लिखना कि लाहौर में मेरी धूम मच जाय। फिर सुनील का नया ड्रामा 'गुड़िया और लोरी' आ रहा है। उसमें काम करने के लिए भी मुझ से ज़रूर कहा जायगा। अब के तो मैं हीरोइन से कम पर नहीं मानने की। दीपाली में ऐसी क्या बात है जो मुझ में नहीं है? दीपाली को कौनसे सुरख़ाब के पर लगे हैं?

एक दिन वह इन्हीं विचारों में खो गई और अपने कमरे में चक्कर काटती रही। उसे बुरी तरह गुस्सा आने लगा, जैसे बाग़वानपुरा की कोई

बड़ी-बूढ़ी कपड़े की कान निकालने की कोशिश में कभी इसे झँझोड़ती हो कभी तिकोन या चौखूँटा करके हिसाब लगाती हो कि ब्योंत ठीक भ बैठेगी या नहीं। अब जावेद तो उसकी ब्योंत में बैठने से रहा। अर्ज तशरीफ़ ले जाइए, जावेद साहब! ड्रामा में स्टेज पर आमने-सामने पा करने की और बात है। तो जाइए दीपाली पर डोरे डालिए। वह मान जाय, तो मैं भी तुम्हारी कामयाबी पर मुबारकबाद देने आऊँगी।

कभी अब्बा जान जावेद की बात चलाते, तो ज़ीनत पहले तो शरमा कर सिर झुका लेती, फिर उभर कर कहती, "अब्बा जान, अभी ऐसी क्या जल्दी है?" अब्बा जान कहते, "बेटा, मैं तो सब तुम्हारी भलाई के लिए कहता हूँ। लेकिन तुम तो खुद इतनी लायक हो, ख़ुद अपनी भलाई-बुराई के बारे में बेहतर समझ सकती हो।"

अब्बा जान को पॉलिटिक्स से ही फ़ुरसत न थी। ज़मीन से अच्छी आमदनी हो जाती थी। बीस-तीस दुकानों से अलग किराया आता रहता। कमाने की फ़िक्र क्या होती है, यह तो उनके फ़रिश्तों को भी मालूम न था।

ज़ीनत सोचती कि अब के फिर 'रंगभूमि' के लिए चैक भिजवाने की ज़रूरत पड़ेगी तो हज़ार-बारह सौ से कम तो क्या भेजेंगे अब्बा जान! यह बात वह सुनील से भी कह चुकी थी। लेकिन अभी तक उसने सुनील पर यह ज़ोर तो नहीं डाला था कि अब के उसे ही हीरोइन बनाया जाय, क्योंकि हर ड्रामा में हीरोइन बनने का दीपाली ने ही तो टेका नहीं ले रखा।

हीरोइन बनने की बात इक़बाल पर पेपर लिखने से भी ज़्यादा महत्त्व-पूर्ण थी। इक़बाल की 'ज़र्बे कलीम' को परे रखकर वह सुनील के ड्रामा की हीरोइन बनने की बात पर ग़ौर करने लगती, जैसे कोई बड़ी-बूढ़ी, यह देखकर कि कपड़ा तो बिलकुल नाकाफ़ी है, दिल-ही-दिल में किसी नई ब्योंत का हिसाब लगा रही हो। कभी वह उठकर कद्दे आदम आइने के सामने खड़ी हो जाती और दिल-ही-दिल में अपनी खूबसूरती का हिसाब लगाने लगती। वाकई उसकी निगाहें चील-जैसी तो न थीं, लेकिन क्या चील-जैसी निगाहें इतनी ही अच्छी होती हैं। वैसी निगाहें तो दीपाली

को ही मुबारक। लेकिन मैं भी ज़ीनत हूँ ज़ीनत। मैं भी दिखा दूँगी अपना जादू। आख़िर दीपाली अपने को क्या समझती है!···

ऐसा भी होता कि वह इक़बाल की किसी पुस्तक पर झुकी बैठी है, और अम्मी जान ने आकर दूसरा ही किस्सा छेड़ दिया—अरे सुनती हो, ज़ीनत बेगम? तुम्हारी फ़लाँ सहेली की शादी होने जा रही है अगले महीने!···ज़ीनत इसका कुछ जवाब न देती। लेकिन अम्मी जान कब चुप रह सकती थीं? वह उस दहेज़ का ज़िक्र छेड़ देतीं जो उन्होंने ज़ीनत के लिए एक अरसे से तैयार कर रखा था। चाँदी का टी सेट, रेशमी जोड़े, शबनमी दुपट्टे। उसकी कल्पना में जैसे शादी के गीत—सुहाग और डोली के गीत—गूँज उटते। झट दस्तरख़ान बिछ जाते, ताज़ा खाने की खुशबू उसके नथनों को सहलाने लगती। और जैसे आँखों-ही-आँखों में अम्मी जान कहतीं—अरे कभी तो तुम भी शादी के लिए हाँ कर दो, ज़ीनत बेगम! फिर मैं भी दिखाऊँ अपना अन्दाज़। खुदा की कसम, ऐसी शादी करूँगी कि आज तक बाग़बानपुरा वालों के ख्वाब में भी न आई हो! वह सुघड़ापा दिखाऊँ कि हमारी पड़ोसिनें दाँतों तले उंगली दबा कर कहें—वाह ज़ीनत की अम्मी, हम क्या जानती थीं कि तुममें इतना दम ख़म है। एक बार तो तेरे दूल्हे को शाहजहाँ की तरह उतारूँगी घोड़े से। ज़रा तुम हाँ कर दो। ज़रा बिस्म अल्लाह तो होने दो! लेकिन जब अम्मी जान देखतीं कि ज़ीनत तो सामने से यह बात सुनने के लिए भी तैयार नज़र नहीं आती, तो वह उन्हीं पैरों पर नीचे की तरफ़ चल पड़तीं। कभी तो दोबारा पलटकर ज़ीनत के सिर पर प्यार देकर कहतीं, "तुम्हारी मरज़ी से ही होगा सब-कुछ, ज़ीनत बेगम! अच्छा तो मैं चलती हूँ।"

ज़ीनत कुछ देर तो इक़बाल की शायरी में उलझी रहती, लेकिन सुनील के ड्रामा की हीरोइन बनने का खयाल आते ही वह उठकर कद्दे आदम आइने के सामने खड़ी हो जाती, दिल-ही-दिल में अपनी आँखों की चमक का हिसाब लगाती। कोई ज़ुल्फ़ सरककर चेहरे पर झुक जाती, तो वह इसे कभी ऊपर न उठाती। उसे ख़याल आता कि जब उसकी शादी

होगी तो उसकी माँग में सुनहरी अफ़शाँ भरी जायगी और वह सलमे सितारे वाला जोड़ा पहनकर बैठेगी। कई बार वह सोचती कि जैसे एक पेड़ की डाली पर फल लगते हैं, वैसे ही एक दिन दुलहन की कोख हरी होती है, और एक नन्हा-मुन्ना उसकी गोद में हँसता है, अठखेलियाँ करता है और घर ख़ुशियों से भर जाता है।···ऊँह! अरे अरे, यह मैं क्या सोच रही हूँ! फिर जैसे एक झटके के साथ यह खयाल आता कि सुहाग का इतर तो अभी बसा ही नहीं मेरे कपड़ों में, और मैं नन्हे-मुन्ने का ख्वाब देखने लगी! यह इक़बाल पर पेपर लिखने का काम तो अभी पूरा भी नहीं हुआ। ख़ैर पहले इस पेपर की नाव तो पार लगे और फिर सुनील के ड्रामा की हीरोइन बन कर देख लूँ!···लेकिन बहुत जल्द वह फिर शादी की कल्पना में खो जाती।

अम्मी जान कम-से-कम चालीस तोले सोना तो ज़रूर देंगी, हीरे की लौंग, नीलम के नगीनों वाले झुमके अलग। हॉल में बिछने लायक नया ईरानी कालीन, सात जोड़े काश्मीरी शाल, रंगीले पायों वाला पलंग, घर का सारा सामान। अरे मेरी शादी में तो जाने क्या-क्या दिया जायगा। अब्बा जान का बस चलेगा तो हमारे साथ सोने की पहाड़ी और चाँदी का पहाड़ भेज देंगे। अबलक घोड़े पर चढ़कर आयेंगे दूल्हा मियाँ, घोड़ा हिनहिनायगा, और भीतर छिपी बैठी दुलहन के कानों तक आ पहुँचेगी घोड़े के हिनहिनाने की आवाज़।···

एक झटके के साथ वह फिर सँभलकर बैठ जाती। ऊँह! शादी भी होगी ठीक मौका आने पर। इतनी भी क्या जल्दी है! पहले इस पेपर का काम तो ख़तम कर लूँ, बड़े-बड़े प्रोफेसरों और प्रिंसिपलों को तो चौंका दूँ, यूनिवर्सिटी के वायस चान्सलर के मुँह से अपनी तारीफ़ तो सुन लूँ।···



१५

सुनील तेज़ी से आगे बढ़ रहा था। दिन-भर प्रूफ़रीडरी और सुबह-शाम साहित्य-साधना। दीपाली और जीनत से मिले हुए कई दिन गुज़र जाते। राजनीतिक क्षेत्र तो कभी उसका क्षेत्र नहीं रहा था। वह तो क़लम का धनी था। लेकिन राजनीतिक हलचल भी तो उसके लिए बिलकुल अछूती न थी।

दूर से वह सब देखता था, सब सुनता था। ऐसा भी होता कि साहित्य का सामाजिक रूप उसे अधिक खींचने लगता, पर अगले ही क्षण उसके सम्मुख यह बात बहुत बड़ा प्रश्न-चिह्न बनकर आती कि साहित्य में प्रोपेगेण्डा को कहाँ तक स्थान दिया जाय। उस समय साहित्य का वह रूप ही उसे सब से महान् लगता जो एक प्रकार से काल और स्थान की सीमाओं से मुक्त था। फिर भी वह त्रिशंकु के समान शाश्वत साहित्य और सामाजिक दृष्टि से उपयोगी साहित्य के बीच लटक रहा था। साहित्य में प्रोपेगेण्डा नापसन्द होते हुए भी हवा में कुछ ऐसी चीज़ घुली हुई थी जो उसे उस ओर ले जाती थी।

एक दिन उसने रात के तीसरे पहर ही बिस्तर से उठकर लिखना शुरू कर दिया। 'गुड़िया और लोरी' आधे से ज़्यादा लिखा जा चुका था। वह इसे दोबारा लिख रहा था। वैसे तो घसीट में पूरा नाटक लिखा जा चुका था। पर पहले मसविदे में तो बस एक हल्की-सी रूपरेखा ही उभर पाई थी। अब के पूरी चीज़ उभर रही थी। कहीं भी कोई पात्र कमज़ोर न रह जाय,

इसका उसे ध्यान था।

'गुड़िया और लोरी' के इस दृश्य पर उसका मन पूरी तरह केन्द्रित था। उसकी लेखनी यों चल रही थी जैसे खेत में हल चलता है, या जैसे फ़सल काटते समय हँसिया चलता है। सहसा लेखनी मेज़ पर रखकर वह विचार-प्रवाह में बह गया। रेडियो के लिए लिखना तो केवल बेगार टालने जैसा समझिए, पत्र-पत्रिकाओं के लिए लिखते समय भी जल्दबाज़ी से काम लिया जा सकता है। पर नाटक लिखना तो एक सीरियस काम ठहरा। अजी किसी पात्र के मुँह में यों ही तो शब्द नहीं ठूंसे जा सकते। यदि एक पात्र के वस्त्र फटे हुए हैं और ग़ुलामी के बोझ के नीचे उसकी गर्दन झुकी हुई है तो यह स्वाभाविक ही है कि नाटककार की रचना का रंग बेबसी का रंग होगा। यदि एक पात्र मस्त-मलंग है और जनून की सीमा पार कर गया है तो निःसंकोच उसके चेहरे पर कुछ दिनों की बढ़ी हुई दाढ़ी दिखाना आवश्यक हो जायगा, और यह भी दिखाना होगा कि हक़ीक़ते जनूनी को इसकी तनिक भी परवाह नहीं कि उसके वस्त्र फटे जा रहे हैं। प्रत्येक पात्र की भाव-भूमि और कर्म-भूमि का पूरी तरह अवलोकन करना होगा··· और अगले ही क्षण उसे लगा कि उसका नाटक पूरी तरह लिखा जा चुका है, बल्कि खेला भी जा चुका है, जैसे 'रंगभूमि' वालों ने दर्शकों की तालियाँ सुनकर सुनील को सिर पर उठा लिया हो। अगले ही क्षण उसने सँभलकर लेखनी उठा ली और लिखने लगा :

[दरवाज़े पर दस्तक। माँ उठकर दरवाज़ा खोलती है। एक व्यक्ति घबराया हुआ भीतर आता है।]

पति : उठाओ डोरी-डण्डा ! हम यहाँ से जा रहे हैं।

पत्नी : यह तुम क्या कह रहे हो ? मैं पहले भी कई बार कह चुकी हूँ कि मैं लाहौर छोड़कर कहीं नहीं जाऊँगी।

पति : (चीखकर) तो हम इस शहर की चारदीवारी में ख़त्म हो जायँगे !

पत्नी : (सोते बच्चे के झूले को धीरे-धीरे झुलातेहुए) ऐसी बात मुँह

से न निकालो ! खत्म हों हमारे दुश्मन ! यहाँ तो हमने अपना आधा जीवन बिताया है, यहाँ तो हमारे घर में उजाला हुआ है। यहाँ हम कैसे ख़त्म हो सकते हैं ?

पति : **(झुँझलाकर)** इतना ज्ञान न बघारो। समय बहुत कम है। शहर की हवा बदली हुई है।

पत्नी : तुम तो यों ही घबरा जाते हो। कोई बात हुई भला ! हम अपना घर छोड़कर कैसे जा सकते हैं ?

पति : छोड़ो ये उलटी-सीधी बातें ! बन्द करो यह ज्ञान-गोदड़ी ! उठाओ डोरी-डण्डा ! **(घबराकर)** यह रात काफ़ी भयंकर है, फिर भी हम आराम से निकल सकते हैं। घर का सामान ज़्यादा मत उठाना। घर का बोझ यहीं रहने दो। हमारे बाज़ुओं में ताकत होगी तो हम जहाँ भी जायँगे नया घर बना लेंगे, नया सामान जुटा लेंगे।

पत्नी : मैं कहती हूँ, अपना घर छोड़कर कहीं नहीं जाऊँगी।

पति : तो तुम यहीं मरना चाहती हो ? तुम्हारा फैसला तुम्हें मुबारक। हम चलते हैं। **(सँभलकर)** ख़ैर, छोड़ो ये ज्ञान-ध्यान की बातें। मौत हमारी ओर बढ़ी चली आ रही है। हमें यहाँ से झटपट ही भाग जाना चाहिए। **(बैठ जाता है)** अच्छा तो सुनो, मैं पड़ोस से होकर आता हूँ, इतने में तुम तैयार रहना।

[पति बाहर चला जाता है। पत्नी दरवाज़ा बन्द कर लेती है और झूले की डोर खींचते हुए गुनगुनाती है।]

टूट रहा जग का जंजाल
सो जा, सो जा मेरे लाल

यह घर मेरा, यह घर तेरा
पल-पल छिन-छिन छँटे अँधेरा
यह सूरज कब आग का गोला
वह तो तेरे-जैसा भोला

मन का दीपक जलाये सूरज
तम को दूर भगाये सूरज
टूट रहा जग का जंजाल
सो जा, सो जा, मेरे लाल

सूरज है यह बड़ा मदारी
सूरज की किरणें हैं न्यारी
यह सूरज कब ताश का पत्ता
यह सूरज कब खोटा सिक्का
यह सूरज तो सदा गुलाल
सो जा, सो जा, मेरे लाल

रात बहुत है घना अँधेरा
आ के रहेगा नया सवेरा
नदी सरोवर गँदले गँदले
सदी पलटती, सिक्का बदले
गूँज रहे धरती पाताल
सो जा, सो जा, मेरे लाल

यह अपना प्यारा लाहौर
यह सूरज की अपनी ठौर
सूरज भी मकतब का लड़का
माने कब उस्ताद का धड़का
लाल लाल सूरज के गाल
सो जा, सो जा, मेरे लाल

तेरे चपत लगाये कौन
बेजा तुझे डराये कौन

टूट रहा जग का जंजाल
गूँज उठे धरती-पाताल
दुश्मन की कब गलती दाल
सो जा, सो जा, मेरे लाल

पौ फटने में देर थी। खिड़की खोलकर वह पूर्व की ओर देखने लगा। वह कहना चाहता था कि नाटक केवल मनोरंजन का ही साधन नहीं, यह तो मानवता के भविष्य का सब से बड़ा सन्देशवाहक है। लेखनी मेज़ पर पड़ी थी। नाटककार पूर्व की ओर देख रहा था। रक्ताभ गगन के पीछे जैसे किरणों का रथ चला आ रहा हो। वह मन-ही-मन गुनगुनाने लगा—डगर-डगर से किरण चली है। उसे ध्यान आया कि जीनत यहाँ होती तो वह इसके उत्तर में यही कहती—शायरी से काम नहीं चलेगा, सुनील साहब! किरणों से बढ़कर तो जिन्दगी रोटी चाहती है! भूखों को रोटी, चाहिए, चाहे वे अँधेरे में ही रहें।....



१६

सुनील के कल्पना-क्षितिज पर 'गुड़िया और लोरी' का पूरा चित्र फैलने लगता। इन्सान तो यों ही डर रहा है! भला कोई पूछे कि बरसों के पड़ोसियों से काहे को इतना डरना! घर छोड़कर भागने का विचार तो सिरे से ग़लत है। आज़ादी तो आ रही है और रोटी ला रही है।

पाकिस्तान बनने की बात बार-बार हवा में उछलती। समाचार-पत्रों में भी सब से ज़्यादा इसी की चर्चा थी। लेकिन सुनील का खयाल था कि लाख पाकिस्तान बन जाय, लोग तो उसी तरह अपने घरों में रहेंगे।

अपने मुस्लिम मित्रों से वह कभी बहस न करता, क्योंकि एक-दो बार उसे बड़ा कटु अनुभव हो चुका था। एक बार तो उसे लगा था कि सामने वाला आदमी अभी उस पर पिल पड़ेगा और मार-मार कर उसका भेजा निकाल देगा।

रेलवे स्टेशन के सब से बड़े बुक-स्टाल पर, जहाँ से दीपाली के लिए एक-आध मैगज़ीन खरीदे बिना लौटना असम्भव था, एक बार सुनील की एक आदमी के साथ बहस हो गई थी। वह पाकिस्तान का बहुत बड़ा हिमायती था। कहीं सुनील के मुँह से निकल गया—कहिये जनाब, आखिर पाकिस्तान की माँग में क्या तुक है? बस इसी पर वह आदमी लाल-पीला होकर बोला—फिर आप कहेंगे कि किसी ने आपकी ज़बान खींच ली तो इसमें क्या तुक है? आखिर इस बेहूदगी की भी कोई हद है कि

मुसलमानों को अपनी माँग की भी आज़ादी न हो ! पाकिस्तान मुसलमानों का सब से बड़ा सपना है जो आज नहीं तो कल सच होकर रहेगा।''''और उस दिन से सुनील ने यह कसम खा ली थी कि कभी इस मसले पर बहस नहीं करेगा। उस दिन बुक-स्टाल के मालिक के पहले नाटक 'मिट्टी की मूरत' ने बीच-बचाव करते हुए सुनील की प्रशंसा शुरू न कर दी होती तो शायद बात बहुत बढ़ गई होती।

दीपाली और ज़ीनत उस से मिलतीं तो उन में भी अक्सर पाकिस्तान के मसले को लेकर काफ़ी चख़-चख़ शुरू हो जाती। लेकिन यहाँ उलटा हिसाब था। दीपाली कहती, ''अगर यही मुसलमानों की माँग है तो पाकिस्तान बनने की बात बिलकुल सही है।'' और इस के जवाब में ज़ीनत झुँझलाकर कहतीं, ''मुसलमानों पर डोरे डालने में अंग्रेज़ कामयाब हो गया, नहीं तो पाकिस्तान का सवाल कभी उठता ही नहीं।'' बस इसी पर अक्सर दोनों सहेलियाँ गरमागरम बहस का रंग बाँध देतीं। इस बहस से सुनील को इतना ज़रूर पता चलता कि जहाँ तक ज़ीनत का सम्बन्ध है, वह तो अपने अब्बा जान से भी यही कहती है, अगरचे उसके अब्बा जान किसी हद तक मुस्लिम लीग की विचारधारा से प्रभावित हो गये थे और कांग्रेस छोड़कर मुस्लिम लीग के कैम्प में चले जाने की बात सोच रहे थे।

'गुड़िया और लोरी' का वह अंक, जिसमें किसी भी स्थिति में घर न छोड़ने का पक्ष प्रस्तुत किया गया था, ज़ीनत को बहुत पसन्द आया। विशेष रूप से उसने उस लोरी की बहुत प्रशंसा की थी जिसमें माँ ने सूरज के लिए नई-नई उपमाएँ दी थीं।

एक दिन शाम को कॉफ़ी हाउस में भेंट होने पर दीपाली और ज़ीनत ने 'गुड़िया और लोरी' को स्टेज करने के सम्बन्ध में अपना-अपना विचार सुनील के सामने रखा।

दीपाली बोली, ''अब के हम इसे 'त्रिवेणी' की तरफ़ से खेलने की कोशिश करेंगे।''

''हाँ हाँ !'' ज़ीनत ने सहमत होकर कहा, ''रंगभूमि से कहीं अधिक

दिलचस्पी तो त्रिवेणी वाले ही ले रहे हैं। मेरी तो उन लोगों से जब भी मुलाकात हुई, उन्होंने हमेशा यही तकाज़ा किया कि अब के सुनील साहब से कहिये कि 'गुड़िया और लोरी' के मामले में रंगभूमि वालों के सामने बिलकुल न गिड़गिड़ाएँ, क्योंकि त्रिवेणी की यह खुशकिस्मती होगी कि उसे एक नई चीज़ पेश करने का मौका मिलेगा।"

"यही तो मेरी भी राय है, ज़ीनत!" दीपाली मुस्कराई, "लाहौर में तो इन दिनों एक से एक बढ़िया ड्रामेटिक सोसाइटियाँ काम कर रही हैं। हमारा यह उसूल नहीं कि किसी एक के गुलाम हो जायँ। हमें तो काम से मतलब है।"

"फिर त्रिवेणी वाले ज़्यादा शरीफ़ भी मालूम होते हैं, बल्कि वह तो कह रहे थे कि आप के साथ इस सिलसिले में हमारे फ़्रण्ड में रुपया भिजवाने की कोई शर्त्त न होगी। अब पिछली बार तो रंगभूमि वालों ने महज़ इस शर्त्त पर ही 'मिट्टी की मूरत' खेलना मन्ज़ूर किया था कि उन्हें ढाई हजार की रकम मिल जाय—पन्द्रह सौ तुम्हारे चाचा जी ने भिजवाये, एक हज़ार मेरे अब्बा जान ने, तब जाकर बात बनी। अब यह शर्त्त तो बड़ी बेहूदा है, वैसे अपने मन से चाहे कोई तीन हजार भी भिजवा दे।"

"तुम ठीक कह रही हो, ज़ीनत!"

कॉफ़ी हाउस में काफ़ी शोर था। दीपाली और ज़ीनत ने देखा कि सुनील कुछ ख़ामोश-सा नज़र आ रहा है। ज़ीनत ने मुस्कराकर कहा, "क्या बात है, सुनील साहब? क्या आज प्रूफ़ बहुत ज़्यादा पढ़ने पड़े?"

"नहीं तो," सुनील मुस्कराया, "प्रेस का काम तो मैं आसानी से निपटा देता हूँ।"

"तो फिर क्या यह फ़िक्र सता रही है कि 'गुड़िया और लोरी' का काम अभी बाकी है?" ज़ीनत ने काली जाली के दुपट्टे के आँचल को हाथ में मसलते हुए कहा, "पिछले इतवार को आप कह रहे थे न कि ज़्यादा-से-ज़्यादा एक हफ़्ते का काम रहता है। तो चलिए, हम आपको एक हफ़्ता और दिये देते हैं।"

"मई के शुरू तक तो इसे हर सूरत में ख़त्म कर डालिए, सुनील जी!" दीपाली ने मुस्कराकर कहा, "क्यों, ठीक है न ज़ीनत?"

दीपाली आज बहुत प्रसन्न नज़र आ रही थी। पीली बुन्दकियों वाली सफ़ेद साड़ी उसके शरीर पर बहुत भली लग रही थी। और ज़ीनत ने भी तो अपने शरीर पर सब से ज़्यादा सजने वाला सूट पहन रखा था—काली साटन की शलवार, हलदी के रंग की गोट वाली कमीज़ और इसी रंग की गोट वाला काली जाली का दुपट्टा।

"न जाने मुझे कसैली कॉफ़ी क्यों इतनी अच्छी लगती है?" ज़ीनत ने हँसते हुए एक बैरे को पास बुलाकर कॉफ़ी लाने का हुक्म दिया। फिर वह बोली, "चाय मुझे उतनी अच्छी नहीं लगती। अब इस नज़रिये से मैं मद्रासी ज़्यादा हूँ, पंजाबी कम। देखिए सुनील साहब, ऐसी चीज़ लिखिए जो वक्त और मुकाम की हदबन्दियों से बेनियाज़ हो। वक्ती-सी चीज़ तो मुझे बहुत फ़ज़ूल लगती है, प्रोपेगेण्डा मुझे चुभता है। आर्ट की पहली शर्त तो यही है कि वह आर्ट हो, जैसे कॉफ़ी की पहली शर्त यही है कि वह कॉफ़ी हो, फिर चाहे वह गरम हो चाहे ठण्डी।

"मुझे तो गरम कॉफ़ी ही अच्छी लगती है, ज़ीनत!" दीपाली ने हँसकर कहा, "इसलिए अगर आर्ट भी गरम हो तो अच्छा ही है। मेरा मतलब है कि वह इतना ठण्डा भी न हो कि वक्त और मुकाम उसे गरमा ही न सकें।"



१७

दीपाली कुछ दिनों से बदलती जा रही थी। कभी अपने जूड़े पर लाल गुलाब न लगाती, कभी नीली साड़ी पहनने पर ज़ोर न देती। सफ़ेद है तो सफेद ही सही, पीली है तो भी ठीक है। मतलब तो तन ढाँपने से है। लिपस्टिक तो वह किसी विशेष अवसर पर ही लगाया करती थी, और अब तो विशेष अवसर भी वैसे ही निकल जाते। उसके होटों पर कभी लिपस्टिक का रंग न चढ़ता। ज़िन्दगी के घोड़े को सरपट दौड़ाने से क्या लाभ? जैसे चलता है चलने दो। सब ठीक है, बल्कि धीमी चाल ही ठीक है, क्योंकि मंज़िल तक पहुँचना तो इसी तरह सम्भव है। मोमबत्ती का एक ही सिरा जलाया जाय तो देर तक रोशनी मिल सकती है, दोनों सिरे जलाने से क्या लाभ?

दीपाली की चाची नन्ही रश्मि में उलझी रहती। आज यह खिलौना, कल वह खिलौना। जैसे चाची की कल्पना भी लकड़ी के घोड़े और टीन की चाबी वाली रेलगाड़ी पर चढ़ने के लिए उत्सुक हो उठी हो। खिलौनों में हवाई जहाज़ भी तो था, काश्मीरी तरज़ का शिकारा भी। दीपाली पल-के-पल रश्मि को गोद में उठाकर प्यार से उसका मुँह चूमती, तो चाची का चेहरा खुशी से खिल उठता। दीपाली को तो खैर बड़ी उमर में आकर ही चाची ने गोद लिया था। इस बात को सातवाँ बरस चल रहा था। रश्मि को आये सवा बरस हुआ होगा। सब से ज़्यादा ज़िद तो रश्मि सीटी के लिए करती, भले ही वह इसे बजा नहीं सकती थी। लेकिन दीपाली की गोद में

आते ही वह ज़िद शुरू कर देती कि दीपाली अपने मुँह से सीटी बजाकर दिखाये।

दिन-दिन-भर तो दीपाली को यूनिवर्सिटी लाइब्रेरी में बैठना पड़ता था। लेकिन लाइब्रेरी में बैठे-बैठे भी उसे रश्मि की याद आने लगती, बार-बार उसका ध्यान चाची की तरफ़ चला जाता जो आज भी उसे रश्मि से कहीं ज़्यादा स्नेह करती थी। चाची की सब से बड़ी विशेषता तो यही थी कि वह किसी भी तरह दीपाली की स्वतन्त्रता में बाधा डालना नहीं चाहती थी। वह भी तो चाची के विश्वास का मूल्य समझती थी। वह कभी विपथगा नहीं बनेगी। हाँ, जहाँ तक विवाह के बारे में उसके विचारों का सम्बन्ध है, वे तो उसके अपने विचार हैं, उन पर तो वह चलेगी ही, उनमें तो चाची भी दखल नहीं दे सकती।

यह नई आबादी सिक्ख नेशनल कालेज से सटी हुई थी, जहाँ दीपाली के चाचा जी का नया मकान था। इस मकान की सब से बड़ी विशेषता यही थी कि यह ज़ीनत के लिए मज़दीक था, नहीं तो उनका पुराना मकान तो शाह आलमी दरवाज़े के अन्दर था। इस नई आबादी से तो बाग़बानपुरा लगभग उतना ही था जितना यहाँ से शाह आलमी दरवाज़ा था। फिर भी ज़ीनत से मुलाकात हुए कई-कई दिन गुज़र जाते।

एक दिन ज़ीनत से अनारकली में भेंट हो गई, जब दीपाली यूनिवर्सिटी लाइब्रेरी से लौट रही थी। ज़ीनत ने बताया कि वह इक़बाल पर पेपर लिखने में उलझी हुई है। उसने हँसकर यह भी तो कहा था—सुनील के नये ड्रामा में अब के फिर तुझे ही हीरोइन बनना होगा,...पगली! यहां किसे इतनी फ़ुरसत है? थीसस का काम सिर पर है। मज़ाक तो नहीं है। सुनील को हीरोइन की कमी नहीं रहेगी। यही सोचकर तो मैंने ज़ीनत की बात टोककर कह दिया था—'मैं तो शायद वक्त न निकाल सकूँ!' लेकिन ज़ीनत तो मुझे घेरकर खड़ी हो गई थी, जोर देकर कह रही थी—'चलो सुनील के यहाँ हो आयें। प्रेस से तो आ गये होंगे प्रूफ़रीडर साहब!' मैं ने तो साफ़ इन्कार कर दिया था—'ज़ीनत, मैं चाची से कहकर नहीं आई थी।

तुम तो जानती हो कि इन बातों में चाची की इजाज़त बग़ैर तो मैं क़दम नहीं उठाती !' ज़ीनत कह उठी थी—'चाची को मैं कह दूँगी, मैं सारी बात अपने ज़िम्मे ले लूँगी। कई दिन से हम लोग सुनील को मिल नहीं पाये। बेचारा क्या सोच रहा होगा ! इस तरह तो फूल मुरझा जायगा।' मैं निरुत्तर खड़ी रही तो ज़ीनत ने मेरे जूड़े को अपने हाथ से छूकर कहा था—'अरे वाह ! तुम्हारा लाल गुलाब कहाँ गया, दीपाली ?' मैंने सिर्फ़ इतना ही कहा था—'लाल फूल तो कभी भी लगाया जा सकता है, ज़ीनत ! थीसिस तो एक ही बार लिख डालना चाहती हूँ। मेरी आदत तो तुम जानती ही हो। जिस काम पर भी पिल पड़ूँ, उसे करके ही छोड़ती हूँ, चाहे पहाड़ उठाना पड़े, चाहे दरिया चीरना पड़े !' इसके जवाब में ज़ीनत ने हँसकर कहा था—'चाहे सुरंग खोदनी पड़े !' और ज़ीनत देर तक हँसती रही थी। हँसते-हँसते सँभलकर उसने कहा था—'तो क्या तुम्हारा मतलब है कि पारुल बन जाय सुनील के नये ड्रामा की हीरोइन, या वह तेजकौर ? ख़ैर तेजकौर तो आजकल यहाँ नहीं है। सॉंदलबार चली गई अपने मामा अर्जुनसिंह के साथ। मुझे भी साथ ले जाने पर ज़ोर देती रही। अम्मी जान ने भी कह दिया कि हो आओ, थोड़ी हवा ही बदल जायगी। लेकिन अब्बा जान ने मना कर दिया था यह कहकर कि सॉंदलबार में अर्जुनसिंह का गाँव कच्चा-पक्का किधर का हिल स्टेशन है !' ज़ीनत और दीपाली उस दिन ताँगे में अनारकली से इकट्ठी ही आई थीं। रास्ते में दुनिया-जहान की बातें होती रही थीं। घूम-फिरकर बात सुनील पर आ टिकती। ज़ीनत का ख़्याल था कि सुनील का नया ड्रामा 'मिट्टी की मूरत' से कहीं ज़्यादा सफल होगा। उसने यह भी तो बताया कि एक दिन वह सुनील के यहाँ जाकर 'गुडिया और लोरी' के कुछ हिस्से सुन आई थी।

लाइब्रेरी में बैठे-बैठे कई बार दीपाली को ख़्याल आता कि ज़ीनत को क्या हो गया। पहले तो वह बहुत गम्भीर नज़र आया करती थी, अब तो शायद बिना सोचे ही बोल देती है।

एक दिन लाइब्रेरी में पारुल से पता चला कि वह दिल्ली गई थी।

वह कुतुबमीनार पर चढ़कर नीचे का दृश्य देखने का किस्सा ले बैठी। उसने बताया कि उस दिन कुतुब मीनार पर मीनाक्षी से भी उसकी भेंट हो गई थी। उसने यह भी बताया कि मीनाक्षी के पतिदेव भी उसके साथ थे, लेकिन वे भीगी बिल्ली मालूम हो रहे थे। दीपाली देर तक मीनाक्षी की बातें पूछती रही—कैसी नज़र आ रही थी? कैसा लिबास पहन रखा था? लिपस्टिक पर ज़ोर दिया होगा, चेहरे पर रूज और पाउडर की तह जमाई गई होगी, वही ऊँची एड़ी के सैण्डल पहन रखे होंगे—क्यों मैं झूठ कह रही हूँ, पारुल?···और पारुल ने भी किसी कथक की तरह पूरा हाल कह सुनाया था, और इस बात पर विशेष ज़ोर दिया कि विवाह के बाद वाकई लड़की का रंग निखर आता है।

फिर मीना की चिट्ठी आई तो उसमें पारुल की तारीफ़ के पुल बाँधे गये थे। मीना ने सब बातें लिखी थीं जो पारुल से हुई होंगी—पारुल तो जल्द ही ब्याह कराने की सोच रही है, तुम्हारा खयाल भी बदला या नहीं, दीदी? मज़ाक में मीना ने यहाँ तक लिख डाला था—विवाह तो ऐसे ही है दीदी, जैसे कुतुब मीनार पर चढ़ना, लेकिन इतनी उँचाई पर चढ़कर नीचे देखने का कितना मज़ा है! यह भी तो बड़े अनुभव की बात है। डरने की तो कोई बात नहीं, दीदी!

कई बार घर में चाचा जी और चाची में खुसर-फुसर होने लगती तो इसकी भनक दीपाली के कानों में भी पहुँच जाती। चाचा जी खुलकर दीपाली से तो कुछ न कहते, लेकिन चाची को बीच में डालने की इच्छा से अपनी बात ज़रूर कह डालते कि दीपाली का विवाह तो अब कर ही दिया जाय। चाची हमेशा दीपाली का पक्ष लेती—दीपाली तो खुद समझदार है। उसकी मरज़ी के बिना तो मैं उस पर ज़ोर डालने से रही। कितने अच्छे विचार हैं! कितनी मेहनत कर रही है! पी–एच० डी० कर रही है तो पहले उसे पी–एच० डी० तो हो जाने दो।

चाची की मुसकान जैसे दीपाली के जीवन पर छा जाती। उसमें तो माँ से भी अधिक स्नेह था। उसमें उषा की लालिमा थी जिसके स्पर्श-मात्र से

आकाश पर खुशी की लहर दौड़ जाती है। उस में फलों की ताज़गी थी, शबनम की पवित्रता थी। निस्सन्देह रश्मि ही तो इस मुस्कान की अधिकारिणी न थी। दीपाली के लिए चाची के स्नेह में कभी कोई अन्तर न पड़ा।

चाची की मुस्कान दीपाली की तरफ़ धीरे-धीरे बढ़ती, इसमें कितनी स्निग्धता थी, मानवता की कितनी बू-बास! चाची का सुघड़ापा तो नई बस्ती में प्रसिद्ध था। चाची के गिर्द तो परोपकार की भावना ही सब से ज़्यादा सिर उठाती नज़र आती थी। उसका दिल कभी मामूली-सी बात से डाँवाडोल न होता। मीना को अपनी चिट्ठी में चाची की तारीफ़ लिखते दीपाली कभी न अघाती। हाँ, बनारस में पिता जी को पत्र लिखती, तो उसमें थोड़े-बहुत फेर-बदल के साथ चाची की बजाय चाचा जी की तारीफ करती।

लाइब्रेरी में बैठे-बैठे कई बार उसे सुनील का ध्यान आ जाता। वैसे उसका खयाल था कि सुनील ने प्रूफ़रीडर बनकर अच्छा किया। अब वह आराम से कला-साधना में लगा रह सकता है। कला-साधना तो तलवार की धार पर चलने वाली बात है। यह एक दिन का खेल नहीं है। इसके लिए तो पूरा जीवन चाहिए। यह तो वह चिनगारी है जो एक बार लगकर बुझती ही नहीं।

एक दिन मीना की बड़ी अजीब-सी चिट्ठी मिली। लिखा था—सुनील का विवाह कब हो रहा है? उसे तो सजे हुए जूड़े वाली दुलहन ही पसन्द आ सकती है। जूड़े पर लाल फूल हो, होठों पर लिपिस्टिक की लाली। नीली साड़ी पर सुनहरी पल्लू, चमचम करता ब्लाउज, चमकते हुए सैण्डल! कहाँ दीदी, सुनील को ऐसी दुलहन कहाँ मिलेगी? उसे कहना कि उसे वह दुलहन नज़र न आये तो मीना उसका पता बता सकती है।···ऊँह! मीना भी कितनी शैतान हो गई है! क्रोध के आवेश में उसने उस चिट्ठी के टुकड़े-टुकड़े कर डाले और यह फ़ैसला किया कि जब तक मीना स्वयं ही माफ़ी न माँगे वह उसे चिट्ठी नहीं लिखेगी।



२८

सुनील स्वयं एक अच्छा प्रूफ़रीडर न होता तो शायद 'अमर शहीद भगतसिंह' में अशुद्धियों की भरमार उसे इतनी न अखरती। वह इन सस्ते प्रेसों पर झुँझला उठा। टाइप भी तो बहुत घिसा हुआ था, स्याही में भी जैसे कोयले रगड़कर मिला दिये गये हों। और मशीनमैन ने जैसे स्याही में तेल की पुट देना भी जरूरी समझा हो। बहुत-से स्थलों पर तो पन्ने की एक तरफ़ की छपाई दूसरी तरफ़ झलक रही थी। लेकिन यह पुस्तक बहुमूल्य थी, क्योंकि यह सामग्री एक स्थल पर अन्यत्र उपलब्ध नहीं हो सकती थी। एक दिन यह पुस्तक पढ़ते हुए उसकी नजर उस स्थल पर पड़ी जहाँ भगतसिंह के मुकदमे का एक दृश्य प्रस्तुत किया गया था :

"गुलाम हिन्दुस्तान के गर्वीले और देश-भक्ति के गहरे रंग में रंगे हुए, स्वतन्त्रता की देवी के पुजारी, हथकड़ियों और बेड़ियों से जकड़े हुए, 'इन्कलाब, जिन्दाबाद' के गगनभेदी और मर्मस्पर्शी नारे लगाते गलघोटू अदालत में पेश किये गये। मुकदमे की कार्रवाई शुरू हुई, तो सरकारी वकील किसी मुल्जिम को मुस्कराते देखकर अदालत को यह कहने पर मजबूर हुआ—माई लॉर्ड, आप देखें तो सही, यह मुल्जिम हँस रहा है। इस तरह तो अदालत का अपमान होता है।

"सरकारी वकील मिस्टर नोड की यह बात सुनकर सरदार भगतसिंह खिलखिलाकर हँस पड़े और सरकारी वकील को सम्बोधित करते हुए कहा—

मिस्टर नोड, आज तो आप इस अदालत का खूब पक्ष ले रहे हैं ! हमारे मुस्कराने से इस अदालत का अपमान हुआ है। जब हम हँसते हुए फाँसी के रस्से को गले में डालकर खूनी तख्ते पर खड़े होकर नाच उठेंगे तो उस समय किस अदालत का अपमान होगा ?''''

पुस्तक परे रखकर वह ग़ुसलख़ाने में चला गया और नहाकर प्रेस जाने के लिए कपड़े बदलने लगा। आइने के सामने खड़े होकर बालों में कंघी करते समय उसे लगा कि शहीदों का सम्राट् सरदार भगतसिंह आकर उसके सामने खड़ा हो गया और उसकी तरफ़ देखकर मुस्करा रहा है, जैसे वह गलघोटू अदालत के सामने खड़े होकर मुस्कराया था। उसे लगा कि भगतसिंह मुस्कराकर यह कहना चाहता है—हम तो हँसते-हँसते फाँसी पर झूल गये, अब तुम क्या कर रहे हो, हमारे कलाकार ?

उस दिन प्रेस में जाकर उसका जी न लगा, प्रूफ़ तो पढ़ने ही पड़े। उसके मन में यह संघर्ष चलता रहा था कि प्रूफ़रीडर बनकर उसने अपनी कला-साधना के साथ विश्वासघात किया है। लेकिन उसने तो होटल में प्लेटें साफ़ करने से अपनी ज़िन्दगी शुरू की थी, फिर लारी क्लीनर और बैरे का काम, फिर फिल्म कम्पनी में ऐक्स्ट्रा का काम, फिर रासधारियों के साथ गुजरात में गाँव-गाँव घूमने का काम और अब यह प्रूफ़रीडरी का काम—यह सब तो रोटी के लिए था। लेकिन रोटी कमाने के साथ-साथ उसने अपनी शिक्षा के लिए अपने पैरों पर खड़े होने का संघर्ष किया था, एक नाटक लिखकर स्टेज कर चुका था, अब 'गुड़िया और लोरी' तैयार था। अब यह नाटक भी स्टेज किया जायगा। फिर भी वह उदास था। जैसे शहीद भगतसिंह उस से कुछ और ही चाहते हों।

एक दिन प्रेस-मालिक ने उसे पास बुलाकर कहा, "मैं यह वचन देता हूँ कि तुम्हारा नाटक 'मिट्टी की मूरत' इस शर्त्त पर छाप सकता हूँ कि तुम इसका कॉपी राइट हमारे हाथ बेच डालो।"

प्रेस-मालिक बहुत देर तक मीठी बातें करता रहा। फिर उसने कहा, "हम इसे दो रंगों में छापेंगे, बढ़िया कागज़ लगायेंगे।"

एक स्टैम्प पेपर पर इक़रारनामा लिखकर प्रेस-मालिक ने सुनील के हस्ताक्षर करा लिये और पड़ोस से दो आदमियों को बुलाकर गवाहियाँ डलवा लीं।

यह सब एक तरह की मशीनी गति से हो गया। सुनील ने जैसे सब कुछ समझते हुए और सब कुछ देखते हुए भी अपना शोषण कराना स्वीकार कर लिया हो, जैसे वे तीन सौ रुपये तीन हज़ार के बराबर हों जो इक़रार के मुताबिक प्रेस-मालिक ने सौ-सौ की तीन किस्तों में तीन महीनों के भीतर अदा करने का वचन दिया था।

शाम को प्रेस से छुट्टी पाकर वह अनारकली में पहुँचा तो मौलाना हिफ़ज़ुर्रहमान मिल गये। वह उसे निज़ाम होटल में ले गये। बातों-बातों में सुनील ने अपनी पुस्तक 'मिट्टी की मूरत' का कापी राइट बेच डालने की बात सुनाई, तो मौलाना बोले, "लाहौल वला कुव्वत! क्या इन्साफ़ है! लेकिन हम तुम्हारे प्रेस-मालिक को भी कहाँ तक कसूरवार ठहरायें, जब कि तुमने बखुशी ठगाई खाना मन्ज़ूर किया?"

"खैर छोड़िए, मौलाना!" सुनील ने जैसे झेंपकर कहा, "मैंने यही सोचकर इसके छापने पर अपनी रज़ामन्दी दी कि कम-से कम दुनिया के सामने मेरा काम किसी तरह आये तो सही, नहीं तो मौलाना, मेरे लिए यह तो मुमकिन नहीं था कि अपनी तनख़ाह में से पैसे बचाकर इसे छापने का इन्तज़ाम करता। और अब तो यह सूरत भी निकल आई कि बढ़िया चिकने काग़ज़ पर दो रंगों में छपेगी यह पुस्तक।"

"तो तुम दो रंगों और बढ़िया चिकने काग़ज़ को चाटते रहना बैठकर!" मौलाना ने झुँझलाकर कहा, "खैर छोड़ो, चाय मँगवाते हैं। लेकिन खुदा की कसम, तुम्हारी अकल पर तो रोने को जी चाहता है।"

फिर मौलाना ने बैरे को बुलाकर चाय लाने को कहा।

चाय आई तो उसका कोई मज़ा न आया। सुनील को लगा कि वाकई उस से बहुत बड़ी ग़लती हुई। लेकिन उसने सोचा कि यह ग़लती तो उसकी पहली रचना के बारे में है, या शायद यह ग़लती नहीं है। तीन सौ रुपये तो

स्टैम्प पेपर पर लिखे हुए इक़रारनामे के मुताबिक तीन किस्तों में अवश्य मिल जायँगे। ये तीन सौ भी नफे के समझिए। बढ़िया चिकना काग़ज़, दो रंग की छपाई। अजी इस से तो पुस्तक चमक उठेगी और जिन हाथों में इतनी सुन्दर छपी हुई पुस्तक जायगी, वे अवश्य इसकी क़दर करेंगे।

मौलाना ने दोबारा 'मिट्टी की मूरत' के लुट जाने की बात तो न चलाई, लेकिन चाय का शायद उन्हें भी कोई मज़ा न आया।



२९

"गलघोटू अदालत से सरदार भगतसिंह, सुखदेव और राजगुरु को फाँसी का दण्ड मिला तो २३ मार्च, १९३१ की शाम को तीनों बाँके युवक हँसते-खेलते फाँसी-घर की ओर गये। उन्होंने हँसते-हँसते फाँसी का रस्सा गले में डाल लिया और सावन का झूला समझकर झूल गये।....उस समय की सरकार के पिट्ठुओं ने, जो मानवता के शत्रु थे, तीनों युवकों के शवों को सतलुज के किनारे ले जाकर टुकड़े-टुकड़े कर डाला। कुछ टुकड़ों को जला दिया और कुछ अधजले टुकड़े, जो देश के अरमानों और जनता की उमंगों के टुकड़े थे, सतलुज की लहरों में बहा दिये गये....। 'अमर शहीद भगतसिंह' में यह प्रसंग पढ़ते-पढ़ते सुनील का गला भर आया। उसे लगा कि 'गुड़िया और लोरी' में क्रान्तिकारी के चरित्र को उभारना होगा, जिस से भगतसिंह की आवाज़ अपनी पूरी ताकत से आगे बढ़ सके। अगले ही क्षण जैसे वह सँभलकर बैठ गया। उसके मन में यह प्रश्न उठा—तो क्या 'गुड़िया और लोरी' को भी मैं तीन सौ में ही बेच डालूँगा? उसने निश्चय किया कि इसकी कीमत मुझे कुछ भी मिले, एक बात तो मैं कभी न करूँगा। मैं इसे प्रापेगेण्डा की वस्तु तो हर्गिज नहीं बनने दूँगा। जो कुछ भी कहना होगा, कला के माध्यम से ही कहूँगा, नारेबाज़ी पर नहीं उतरूँगा।

इतने में मौलाना हिफ़ज़र्रहमान आ निकले। ड्राईंग रूम में बैठे-बैठे बातें होने लगीं, तो भगतसिंह का प्रसंग शुरू हो गया।

"देखी और सुनी हुई बात में बहुत फ़र्क होता है, सुनील साहब !" मौलाना ने झूम-झूमकर कहना शुरू किया, "मैं आपको बताऊँ कि इसी लाहौर में जब लाला लाजपतराय के सीने पर लाठी की गहरी चोट आई, तो उस वक़्त किसी देश-भगत ने कहा था—क्या देश में बदला लेने वाले ख़तम हो चुके हैं ? यकीन कीजिए, यह बात हमारे बाँके नौजवानों के दिलों पर चोट कर गई। हाँ, तो कानपुर से चलकर राजगुरु लाहौर पहुँचा और उसने सुखदेव और भगतसिंह से बातचीत करते हुए उछलकर कहा कि वह स्कॉट को ख़तम कर डालेगा। अब देखिए जनाब, राजगुरु पंजाबी नहीं था। क्या गठा हुआ जिस्म था उसका, गोरा रंग, गोल-मोल चेहरा। अजी वह तो गतका और कुश्ती का भी बड़ा माहर बताया जाता था। जब लाहौर सेंट्रल जेल में भूख हड़ताल हुई और डॉक्टर ने जोर जबर्दस्ती उसे दूध पिलाना चाहा तो जनाब, राजगुरु की ताकत का सिक्का सब को मानना पड़ा। डॉक्टर और सारे वार्ड एक तरफ़, और दूसरी तरफ़ अकेला राजगुरु। अजी तीन दिन तक यह ज़ोर-आज़माई जारी रही, मगर क्या मजाल कि दूध का एक घूँट भी राजगुरु के पेट में जा सके ! अब जनाब, चौथे दिन थोड़ा-सा दूध उसके पेट में जाने की बजाय उसके फेफड़ों में चला गया।"

"उफ़ !"

"अजी सुनिए तो। लाला लाजपतराय की शहादत को मुश्किल से एक बरस हुआ होगा कि दोपहर के तीन बजे उस शहादत का बदला ले लिया गया। सड़क पर लोग आ-जा रहे थे। जिले की कचहरियाँ खुली थीं। कचहरी की बग़ल में सुपरिन्टेन्डेन्ट पुलिस की कोठी के दरवाज़े के सामने बिल्कुल सड़क के बीच राजगुरु, चन्द्रशेखर आज़ाद और भगतसिंह ने सुपरिन्टेन्डेन्ट पुलिस को गोलियों से भून डाला। सॉंडरस सड़क पर जान तोड़ रहा था। उस वक्त चन्ननसिंह हवलदार ने ज़रा अकड़ने की कोशिश की, तो चन्द्रशेखर आज़ाद ने उस से कहा—'तुम एक तरफ़ हट जाओ। हम तुम्हें कुछ नहीं कहेंगे। तुम हमारे हिन्दुस्तानी भाई हो।' लेकिन जब चन्ननसिंह बराबर अकड़ता रहा तो एक गोली उसकी खोपड़ी के पार हो

गई और वह भी सॉंडरस की बग़ल में हमेशा के लिए ठण्डा हो गया। तीनों इन्कलाबी नौजवान अपना काम करके मज़े से चलते बने।"

"फिर उनका सुराग़ कैसे लगा?"

"अजी सुनिये तो! तीनों नौजवान रफ़ूचक्कर हो गये, तो स्कॉट पुलिस का दस्ता लेकर आगे बढ़ा। रास्ते में डी० ए० वी० कालेज के प्रिन्सिपल बख़्शी रामरतन मिले। स्कॉट ने बख़्शी जी से पूछा—'क्या इधर से कुछ हथियारबन्द आदमी गुज़रते देखे हैं?' बख़्शी जी ने कहा—'हाँ, देखे हैं। अभी कोई दस क़दम आगे गये होंगे।' तो वह घबराकर वहीं खड़ा हो गया और बोला—'वे सब मुसल्लाह हैं?' वह बात तो ख़ैर वहीं ख़तम हो गई। तीनों नौजवानों का कोई सुराग़ न चलाया जा सका। बाद में नई दिल्ली के असेम्बली हॉल में देश के सोये हुए लीडरों के बहरे कानों को खोलने के लिए भगतसिंह और बी० के० दत्त ने बम फेंका तो चारों तरफ़ भगदड़-सी मच गई। जनाब, जिन्होंने वह नज़ारा अपनी आँखों से देखा वह तो यही बताते हैं कि अंग्रेज़ कुर्सियों और बैंचों के नीचे छिपते दिखाई दिये, अंग्रेज़ औरतों को ग़शियाँ पड़ गईं।"

"इस का हाल तो 'अमर शहीद भगतसिंह' में तफ़सील से दिया गया है, मौलाना!"

"ज़रूर दिया गया होगा। लेकिन सुनिये तो। जब दिल्ली में भगतसिंह और दत्त के ख़िलाफ़ मुकदमा चलाया गया तो उन्होंने ऐसा बयान दिया कि देश-विदेश में दूर-दूर तक उनकी शोहरत फैल गई। फिर लाहौर हाई-कोर्ट में भगतसिंह ने ख़ुद अपने मुकदमे में बहस की। लेकिन जज ने उसे बहुत बड़ा ख़तरनाक इन्कलाबी कहकर उसे चौदह साल की सज़ा दी। फिर भगतसिंह और उसके साथियों पर सॉंडरस के क़तल का मुकदमा चला, तो यह समझ लीजिये कि हमारा सारा मुल्क एक सिरे से दूसरे सिरे तक इन नौजवानों को बचाने के लिए तड़प उठा। अब एक मज़ेदार बात हुई। भगतसिंह के पिता ने बड़े-बड़े लायक वकीलों का इन्तज़ाम किया और ट्रिब्युनल को सफ़ाई के लिए दरख़्वास्त लिखी। हाँ, तो उस वक़्त भगतसिंह ने अपने

पिता को लिखा—'मुझे आपका बेटा होने का पूरा-पूरा अहसास है। कोई और होता तो मैं उसे अपना जानी दुश्मन समझता। आप मेरे पिता हैं। मेरे दिल में आप के लिए इज़्ज़त है, आदर है, मान है, सत्कार है। लेकिन इस वक्त जो कुछ आप कर रहे हैं, वह मेरे साथ ही नहीं, मुल्क के साथ ग़द्दारी कर रहे हैं।' बस साहब, यह मेरी आँखों-देखी बात है। मैंने अपने आँखों से देखा, अपने कानों से सुना, जब इन नौजवानों ने अदालत में, साफ़-साफ़ कह दिया—हम कोई सफ़ाई नहीं देंगे, क्योंकि सामराजी अदालत पर हमारा ज़रा भी यकीन नहीं है।"

सुनील की आँखें चमक उठीं। बोला, "काम तो उन लोगों ने किया, मौलाना! आप और हम लाख कहें कि उनका तरीक़ा ग़लत था, लेकिन उनकी सचाई और कुर्बानी का ख्याल करते हुए तो वाकई हमारा सिर बड़े अदब से झुक जाता है।"

"अजी मैं तो आँखों देखा और कानों सुना हाल सुना रहा हूँ। मैं हमेशा इस मुकदमे की कार्रवाई देखने के लिए जाया करता था। जब भी वे नौजवान अदालत में आते तो मिलकर यह गाया करते थे—

सर फ़रोशी की तमन्ना अब हमारे दिल में है
देखना है ज़ोर कितना बाज़ुए कातिल में है
राहरुए राहे मुहब्बत रह न जाना राह में
लज़्जते सहरानवर्दी दूरिए मंज़िल में है
अब न पहले वलवले हैं और न अरमानों की भीड़
एक मिट जाने की हसरत अब दिले बिस्मिल में है

"कैदियों की हालत सुधारने के लिए इन लोगों ने भूख हड़ताल की, और जब पूरे सत्तर दिन के बाद उनका साथी जीतेन्द्रनाथ दास भूख हड़ताल करते हुए शहीद हो गया, तो सारे मुल्क में एक तहलका मच गया। पूरे एक सौ चार दिन की भूख हड़ताल के बाद सरकार ने उनकी माँगें मान लीं और सियासी कैदियों को ए और बी क्लासें मिल गईं। अदालत में भगतसिंह और उसके साथियों ने अपनी एजीटेशन जारी रखी।"

"'अमर शहीद भगतसिंह' में यह सब हाल दिया हुआ है, मौलाना।"

"अजी सुनिये तो। मैं पहले भी अर्ज कर चुका हूँ कि मैं तो आँखों देखा हाल सुना रहा हूँ। एक दिन एक नौजवान जयगोपाल ने सरकारी गवाह के चपत दे मारी, दूसरे दिन डिप्टी सुपरिन्टेन्डेन्ट को एक जूता खाना पड़ा। उन पर हर रोज़ लाठी चार्ज होता था और हर रोज ही मारपीट की नौबत आ जाती थी। एक मज़ेदार बात सुनिये। एक दिन भगतसिंह ने अपनी कुर्सी से उठकर कहा—'गवाह जो पिस्तौल पहचान रहा है, वह ज़रा मुझे भी तो दिखाओ!' और अदालत में तहलका मच गया। अजी मेरे सामने की बात है, एक अंग्रेज़ अफ़सर बेहोश हो गया और मजिस्ट्रेट अपनी कुर्सी से नीचे आ पड़ा।"

"बहुत खूब!"

"अजी यह तवारीख है, किस्सा-कहानी नहीं। और मैं तो यही अर्ज करूँगा कि अब के अपने ड्रामा में इन शहीदों की आवाज को भी किसी तरह ज़रूर जगह दीजिए।"

"देखिए, अपनी तरफ़ से कोशिश तो मेरी भी यही है, मौलाना! अब दिक्कत तो वहीं आकर पड़ती है जब हमारे सामने प्रापेगेण्डा को आर्ट में जगह देने का सवाल उठता है।"

"खैर अब यह मसला तो वाकई टेढ़ा है।" मौलाना ने जल्दी से गला साफ़ करते हुए कहा, "यह मसला तो हज़रते इक़बाल के सामने भी सिर उठाने से बाज़ नहीं आया था। उन्होंने उसे अपने तौर पर सुलझाया। कहने वाली बात को भी हाथ से न जाने दिया, और साथ ही शायरी का दामन भी जोर से थामे रखा।"

"वाकई, मौलाना!" सुनील ने कहा, "बातों-बातों में यह पूछने का तो ख़याल ही नहीं रहा मौलाना कि आप के लिए क्या मंगवाया जाय।"

"अजी तकल्लुफ में क्यों पड़ते हैं?" मौलाना ने दीवारगीर पर पड़े टाइमपीस पर नजर जमाकर कहा, "ओ हो, साढ़े सात हो रहे हैं। अब मैं चलता हूँ।"



३०

पंजाब लिटरेरी लीग की मीटिंग शुरू होने में अभी देर थी। वायस चांसलर अभी तक नहीं आये थे। ज़ीनत किसी क़दर उदास थी। उसे बार-बार यह ख़्याल आ रहा था कि अगर वायस चांसलर तशरीफ़ न लाये तो उसकी मेहनत बेकार चली जायगी। वह सामने की क़तार में कोने वाली कुर्सी पर बैठी थी। बार-बार पीछे मुड़कर हॉल के दरवाज़े की तरफ़ देखने लगती। अभी तक तो सुनील और दीपाली भी नहीं आये थे। हाँ, मौलाना हिफ़ज़ुर्रहमान ज़रूर उसकी बग़ल में बैठे थे।

एकदम ज़ीनत की आँखें चमक उठीं, जब दीपाली और सुनील आकर पहली क़तार में पास वाली खाली कुर्सियों पर बैठ गये। ज़ीनत ने उठकर कहा, "शुक्रिया! चलिए आप लोग तो तशरीफ़ ले आये। मुझे तो डर था कि कहीं आप लोग भी किसी दूसरी मसरूफ़ियत में न उलझ जायँ।"

"हम कैसे न आते?" दीपाली ने सफेद कबूतरी की तरह पंख हिलाये। सफेद साड़ी और ब्लाउज़ में वह बहुत ख़ूबसूरत मालूम हो रही थी। ज़ीनत को लगा कि उसने भी आज सादा कमीज़ शलवार में आकर अच्छा किया।

थोड़ी देर बाद वायस चांसलर तशरीफ़ लाये तो सैक्रेटरी ने ख़ास तौर पर उनका स्वागत किया और इस मीटिंग के सभापतित्व के लिए उनका नाम प्रस्तावित किया। उसी समय दीपाली के चाचा लाला रतनचन्द ने

उठकर इस प्रस्ताव का अनुमोदन किया, और तालियों के बीच वायस चांसलर ने मीटिंग की बागडोर सँभाली।

ज़ीनत के सम्बन्ध में सभापति ने कहा, "आज से दो साल पहले मिस ज़ीनत बी० ए० की परीक्षा में पंजाब यूनिवर्सिटी का रिकार्ड तोड़ चुकी है। इस लड़की ने रंगमंच पर एक सफल अभिनेत्री के रूप में भी काफ़ी अच्छा काम किया है। अब महाकवि इक़बाल के नये मूल्यांकन पर उसने जो काम किया है उसे आप देखेंगे। इक़बाल बहुत बड़े कवि थे। ज्यों-ज्यों वक्त गुज़रता जायगा, इक़बाल की अज़मत हमारे सामने ज़्यादा से ज़्यादा उजागर होती जायगी। अब मैं मिस ज़ीनत से दरख़्वास्त करूँगा कि वह आकर अपना भाषण शुरू करे।"

ज़ीनत तालियों के बीच स्टेज पर आई। सब से पहले उसकी नज़र सामने की क़तार में बैठे सुनील पर पड़ी। उसने ध्यान से देखा कि सुनील मुस्करा रहा है, जैसे कह रहा हो—मानता हूँ ज़ीनत कि तुमने बहुत मेहनत की है और आज तुम्हें जी-भर दाद भी मिलेगी।

ज़ीनत ने कहना शुरू किया :

"साहिबे सदर वा हाज़रीन जलसा! मैं अपने को इक़बाल पर बहुत बड़ी 'अथॉरेटी' समझने की ग़लती नहीं कर सकती। लेकिन जहाँ तक इक़बाल की शायरी का सम्बन्ध है, हम इसे तीन हिस्सों में बाँट सकते हैं। पहला दौर एक तरह का जज़्बाती दौर ही कहलायेगा, जब कि कवि पर नैश्नलिज़्म की गहरी छाप थी और उन्होंने 'सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्ताँ हमारा' जैसी नज़्में पेश कीं, जिनकी क़ौमी अहमियत कितनी भी बड़ी क्यों न हो, कम-से-कम उसे ग्रेट पोयट्री तो हर्गिज़ नहीं कह सकते। फिर इक़बाल की शायरी का दूसरा दौर पहली जंगे अज़ीम के बाद से शुरू होता है। यह दौर नैश्नलिज़्म के ख़िलाफ़ था, क्योंकि अपनी गहरी सोच-विचार के बाद शायर इसी नतीजे पर पहुँचा कि सचमुच नैश्नलिज़्म ही इस जंग का सबब था। सच पूछा जाय तो अपने दूसरे दौर में इक़बाल अपने पहले दौर की शायरी से बहुत आगे निकल गये थे, क्योंकि जब उन्होंने यह गाया था कि 'सारे जहाँ

से अच्छा हिन्दोस्ताँ हमारा', तो वह किसी भी तरह यह साबित करने में हकबजानब नहीं थे कि मिसाल के तौर पर हिन्दुस्तान स्विटज़रलैंड से भी अच्छा है। इक़बाल की शायरी का दूसरा दौर दिमाग़ी तौर पर सचमुच कशमकश का दौर था। शायर अपने लिए नया रास्ता ढूँढ रहा था। इस के बाद जब शायर को रास्ता मिल गया तो उसने खुले लफ़्ज़ों में कहा कि नैशनलिज़्म को छोड़ो जो जंगें कराता है और इस्लाम को पहचानो, हालाँकि शायर से यह सवाल किया जा सकता था कि क्या इस्लाम को पहचानने से फिर कभी जंग नहीं होगी।

"हज़रात, मैं जानती हूँ कि आप में ऐसे लोग भी होंगे जिन्हें मेरे साथ इत्तफ़ाक न हो। लेकिन मैंने इक़बाल की शायरी का मुतालया बड़ी दिलचस्पी और हमदर्दी से किया है। बल्कि मैं तो यहां तक कह सकती हूँ कि तीसरे दौर का इक़बाल अपनी शायरी में मुसलमान को ही क्यों न मुख़ातिब कर रहा हो, दर-असल जो कुछ वह कहता है उस मे बड़ी गहरी सोच और दिमाग़ी सूझ नज़र आती है। मैं तो यह दावा कर सकती हूँ कि इक़बाल दुनिया के बड़े-बड़े शायरों की पहली क़तार में खड़े होने का हक़ रखते हैं।"

इस पर श्रोताओं की तालियों से पंजाब लिटरेरी लीग का हाल गूँज उठा। सुनील ने दीपाली की तरफ़ सिर घुमाकर कहा, "अब तो तुम्हें भी मानना ही पड़ेगा कि ज़ीनत ने कितनी मेहनत की है।"

दीपाली कुछ न बोली। यह ख्याल उसे भी आया था कि ज़ीनत तो सफल होने जा रही है और इक़बाल का यह मूल्यांकन उसे वाक़ई बहुत पसन्द आया था। लेकिन उसे यह सहन नहीं था कि सुनील यों बढ़कर ज़ीनत की प्रशंसा पर उतर आये। वह ख़ामोश बैठी रही। लेकिन यह विचार उसके मन में उथल-पुथल मचा रहा था कि आज तक सुनील ने फूटे मुँह से भी कभी उसके काम की प्रशंसा क्यों नहीं की, कभी भूले से भी तो यह नहीं कहा कि जो थीसिस वह लिख रही है वह भी दुनिया के सामने एक नया दृष्टिकोण प्रस्तुत करेगी। अन्तर केवल इतना ही है न कि

जीनत अपना भाषण दे रही है और उसका अपना परिश्रम अभी दुनिया के सामने नहीं आया।

सुनील को दीपाली की ख़ामोशी पर बहुत आश्चर्य हुआ। वह देर तक उसके मुँह की तरफ़ देखता रहा। लेकिन जब दीपाली कुछ न बोली, तो वह ध्यान से जीनत का भाषण सुनने लगा :

"जिन लोगों को हमेशा यह फ़िक्र रहती है कि किसी-न-किसी तरह इक़बाल को मुस्लिम शायर साबित किया जाय, वह लोग दर-असल इक़बाल को समझ नहीं पाये। मिसाल के तौर पर मैं यह अर्ज़ करूँगी कि 'जावेदनामा' में जहाँ शायर जलालुद्दीन रूमी को अपना उस्ताद बना कर सच्चाई की तलाश में निकलता है और मुख़्तलिफ़ सैआरों[1] में होता हुआ आगे बढ़ता है, इक़बाल की शायरी भी वही अज़मत नज़र आती है, जो दाँते की 'डिवाइन कॉमेडी' की, जहाँ दाँते अपने गुरु के रूप में वर्जिल को साथ लेकर अपनी महबूबा बियट्रीस की तलाश में निकलता है। इक़बाल अपनी तलाश में सब से पहले फ़ल्के-क़मर[2] में पहुँचते हैं, जो धरती के सब से नज़दीक है। वहाँ उनकी मुलाकात जहाँ-दोस्त से होती है। इक़बाल ने उस ग़ार की तसवीर खींच कर रख दी है जिसमें घुप्प अँधेरा है, फिर भी जिस जगह जहाँ-दोस्त विराजमान है वहाँ रोशनी है। इक़बाल जहाँ-दोस्त का इतना अदब करता है कि खुद उस से बात करने की बजाय उसके साथ अपने उस्ताद रूमी की बातचीत कराता है। जब जहाँ-दोस्त रूमी से पूछते हैं कि तुम्हारे साथ यह आदमी कौन है, तो रूमी जवाब देते हैं कि यह वह काफ़िरे-हिन्दी है, जिस पर मेरा दीन क़ुरबान है। फिर जहाँ-दोस्त के सवालों का सिलसिला शुरू होता है—ज़िन्दगी क्या है? रूह क्या है? सच्चाई क्या है? इश्क क्या है? मादा[3] क्या है? जहाँ-दोस्त यह जानना चाहते हैं कि यह लोग जो सच्चाई की तलाश में निकले हैं, कहाँ तक गहराई में जा सकते हैं।

१. नक्षत्र।
२. चन्द्रमा।
३. भौतिक तत्त्व।

"जहाँ-दोस्त के बारे में कुछ लोगों का ख्याल है कि इक़बाल ने विश्वामित्र की तरफ़ इशारा किया है। लेकिन मैं अपनी छानबीन से इस नतीजे पर पहुँची हूँ कि जहाँ-दोस्त विश्वामित्र नहीं, बल्कि शिवजी महाराज हैं। मेरी सहेली दीपाली ने मुझे बताया है कि हिन्दू-शास्त्रों में शिवजी महाराज का एक नाम आशुतोष भी है, जिसका अर्थ होता है—झट प्रसन्न होने वाले। आप लोग पूछ सकते हैं कि मैं इस नतीजे पर कैसे पहुँची। हाँ, तो मैं अपनी सहेली दीपाली का हवाला देकर यह कहना चाहती हूँ कि हिन्दू-शास्त्रों के अनुसार शिवजी महाराज के माथे पर चाँद का निशान दिखाया गया है। अब देखिए, जब इक़बाल ने शिवजी महाराज का रूप दिखाना चाहा तो उनकी गुफा को चाँद में ही दिखाया।

"जहाँ-दोस्त का मतलब विश्वामित्र इसलिए भी नहीं हो सकता, क्योंकि हिन्दू-ग्रन्थों में जहाँ भी विश्वामित्र का हवाला दिया गया है, वहाँ खटपट ही कराई गई है, दोस्ती नहीं।

"शिवजी महाराज के सामने एक जगह इक़बाल साहब फरमाते हैं :

क़ाफ़िरे बेदार दिल पेशे सनम,
बेह ज़े दीदारे कि ख़ुफ़्तन्दर हरम।[1]

—बेदार दिल वाला काफ़िर जो सनम (मूर्ति) के सामने बैठा है, बेहतर है उस दीनदार से जो हरम (काबा) में सो रहा है।

"साफ ज़ाहिर है कि इक़बाल की नज़र में बा-अमल काफ़िर बे-अमल मुसलमान से बेहतर है। सच पूछा जाय तो इक़बाल ने दोहरी तन्ज़[2] कसी है, याने उसे काफ़िर कहना ग़लत है जो अपनी मूर्ति के सामने जाग रहा है, और उसे मुसलमान कहना ग़लत है जो काबे में सो रहा है।"

लोगों ने खूब तालियाँ बजाईं। वायस चांसलर के चेहरे पर चमक थी और उन्होंने भी कई बार 'बहुत खूब!' कहकर दाद दी। ज़ीनत के लिए तो यही बहुत था। अब वह यह जानना चाहती थी कि सुनील को उसका यह प्वाइंट कैसा लगा। सुनील मुस्करा रहा था। दीपाली ख़ामोश

१. व्यंग्य

थी, जैसे वह अपनी ख़ामोशी द्वारा यह दरसा रही हो कि बात तो ठीक है, लेकिन इतनी ठीक भी नहीं जिस पर तुम्हें आज इतनी दाद मिल रही है। ज़ीनत को दीपाली की खामोशी बहुत अखरी। तालियाँ बन्द हो चुकी थीं। श्रोतागण बड़ी उत्सुकता से उसकी अगली बात सुनना चाहते थे। उसने कहना शुरू किया :

"इक़बाल इस्लाम के शायर तो हर्गिज़ नहीं थे। कोई भी बड़ा शायर किसी एक मज़हब के तंग दायरे में बन्द होकर नहीं रह सकता। बल्कि यह कहना ज़्यादा ठीक होगा कि जहाँ भी इक़बाल ने मुसलमान का ज़िक्र किया है, वहाँ मुसलमान से मुराद है मुकम्मल इन्सान। मैं इसके सबूत में इक़बाल की 'अरमग़ाने हिजाज़' से कुछ रुबाइयाँ पेश कर सकती हूँ। इस किताब का कुछ हिस्सा फ़ारसी में है, कुछ उर्दू में। इसके आखिर में पहले इक़बाल इस्लाम की बात करते हैं, तो फिर आगे चलकर इन्सानियत की बात कहे बिना किताब ख़तम नहीं करते। घुमा-फिराकर इन्सानियत के बारे में भी इक़बाल वही कुछ कहते हैं जो इस्लाम के बारे में पहले ही कह चुके हैं। मेरा मतलब है कि अगर इधर की रुबाइयाँ उधर और उधर की इधर कर दी जायँ तो ज़रा भी फ़र्क नहीं पड़ता।

" 'जावेद नामा' में इक़बाल अपने उस्ताद रूमी के साथ सचाई की तलाश में भर्तृहरि से भी मिलते हैं, जिस से इतना तो ज़ाहिर है कि इक़बाल की निगाह इस्लाम तक ही महदूद नहीं थी। अगर कुछ लोग किसी तरह यह साबित कर दिखायें कि जहाँ-दोस्त का मतलब न विश्वामित्र है और न शिवजी महाराज, तो भी मैं ज़ोर देकर कहना चाहूँगी कि चलिए भर्तृहरि से इक़बाल की मुलाकात ही को ले लीजिए। इस तलाश में इक़बाल जहां हलीम पाशा और जमालुद्दीन अफ़ग़ानी से मिलते हैं। वहाँ उन्हें बंगाल का ग़द्दार जाफ़र और दक्खिन का ग़द्दार सादिक़ भी नज़र आते हैं, जिन्हें हिन्दुस्तान से ग़द्दारी करने की सज़ा मिल रही है। मेरे ख़्याल में, 'जावेद नामा' में जहाँ इक़बाल की टीपू सुलतान से मुलाकात होती है, वहाँ हमें इक़बाल के सही ख़्यालात मिलते हैं और हम देख सकते हैं कि इक़बाल को

हिन्दुस्तान से कितनी मुहब्बत है। टीपू सुलतान की तरफ से कावेरी के नाम पैग़ाम पेश किया गया है। जब टीपू सुलतान उदास होकर कहते हैं कि हिन्दू की पूजा ठण्डी हो गई, मुसलमान की नमाज सर्द पड़ गई, अंग्रेज दोनों पर ग़ालिब आ गया, तो इक़बाल जवाब देते हैं कि अंग्रेज़ के ख़िलाफ़ कशमकश जारी है और उसे अपना बोरिया-बिस्तर गोल करना ही होगा।

"इक़बाल की 'ज़र्बे-कलीम' की सब से मशहूर नज़्म है शुआए-उम्मीद,[1] जिसका आख़िरी बन्द हमारी आँखें खोल सकता है :

बुतख़ाने के दरवाज़ा पै सोता है बरहमन
तक़दीर को रोता है मुसलमाँ तहे-मेहराब
मशरिक़ से हो बेज़ार न मग़रिब से हज़र कर
फ़ितरत का इशारा है कि हर शब को सहर कर[2]

"इक़बाल के इस हवाले से मै तो इतना ही अर्ज़ कर सकती हूँ कि इक़बाल सिर्फ मुसलमानों के शायर नहीं थे, वह तो पूरब और पच्छिम के शायर थे। उनकी सब से बड़ी ख्वाहिश यह थी कि ग़ुलामी की लम्बी रात खतम हो जाय और इन्सान के सामने नया सवेरा जगमगा उठे।

"आख़िर में मैं मौलाना हिफ़ज़ुर्रहमान साहब का शुक्रिया बजा लाना अपना फर्ज समझती हूँ, जिन्होंने मुझे इक़बाल की शायरी को इस नये नज़रिये से देखने में सब से ज़्यादा मदद दी। यह मेरी खुश नसीबी है कि इस वक्त मौलाना साहब इस हॉल में तशरीफ़ रखते हैं और मैं साहबे-सदर से दरख्वास्त करूँगी कि वह मौलाना साहब से भी स्टेज पर आकर कुछ कहने की फ़र्मायश करें।"

यह कहकर जीनत अपनी जगह पर आ बैठी। हॉल तालियों से गूँज रहा था। सभापति ने उठकर मौलाना हिफ़ज़ुर्रहमान से स्टेज पर आकर

---

१. आशा-किरण।

२. मन्दिर के द्वार पर ब्राह्मण सो रहा है, मेहराब के नीचे मुसलमान अपने भाग्य को रो रहा है। पूर्व से विमुख हो, न पश्चिम से किनाराकशी कर, प्रकृति का संकेत है कि प्रत्येक रात को उषा में परिणत कर दे।

कुछ कहने की दरख्वास्त की।

मौलाना काली अचकन में थे। सकुचाते-से वह स्टेज पर आकर बोले, "मिस ज़ीनत ने जो कुछ कहा, यह सब उसकी अपनी हिम्मत है, उसकी अपनी मेहनत है। उसकी बात को आगे बढ़ाकर मैं तो इतना ही अर्ज़ करना चाहता हूँ कि इक़बाल बहुत बड़े इन्क़लाबी शायर थे और सच पूछो तो शायरी के मैदान में उन्होंने वही काम कर दिखाया जो हमारी सयासी ज़िन्दगी में शहीदों के सरताज सरदार भगतसिंह ने किया।"

हॉल एक बार फिर तालियों से गूँज उठा। मौलाना अपनी जगह पर आ बैठे।

आख़िर में प्रधान ने ज़ीनत का आभार मानते हुए और उसकी सफल अभिव्यक्ति पर उसे बधाई देते हुए यह आशा प्रकट की कि वह इस रास्ते पर तेज़ी से आगे बढ़ेगी। फिर सेक्रेटरी ने श्रोताओं को धन्यवाद देते हुए पंजाब लिटरेरी लीग की तारीफ़ भी कर डाली जो उनके कथनानुसार लाहौर के सांस्कृतिक जीवन में नये-से-नया रिकार्ड प्रस्तुत करने में सभी संस्थाओं से आगे थी।

मीटिंग के बाद दीपाली, ज़ीनत और सुनील एक साथ बाहर आये और कार में बैठ गये। रास्ते में सुनील ने ज़ीनत की बहुत प्रशंसा की। लेकिन ज़ीनत तो यही सोच रही थी कि दीपाली कब मुँह खोलकर उसकी तारीफ़ में एक-आध बोल निकालती है।

ज़ीनत ने किसी क़दर हलकी आवाज़ में कहा, "काश आज अब्बा जान भी इस मीटिंग में आये होते! उन्हें एक ज़रूरी काम से अमृतसर जाना पड़ गया।"

"तो तुम अम्मी जान को ही ले आई होतीं," सुनील ने हँसकर कहा।

"अम्मी जान तो बहुत कम बाहर निकलती हैं," ज़ीनत ने अपनी बात पर पर्दा-सा डालते हुए कहा, "खैर, जहाँ तक अब्बा जान का ताल्लुक है, अख़बार में इस मीटिंग की रिपोर्ट तो वह पढ़ेंगे ही!"

दीपाली कुछ न बोली। जब वे माल रोड और अनारकली के चौराहे पर पहुँचे तो सुनील ने कहा, "अच्छा तो मैं इजाज़त चाहता हूँ!"

ज़ीनत ने हँसकर सुनील को विदा दी। फिर ज़ीनत ने अपने ड्राइवर से कहा, "जल्दी करो। दीपाली को भी छोड़ना होगा नई बस्ती में, और घर पर अम्मी जान इन्तज़ार कर रही होंगी।"

दीपाली ने अब भी मुँह से एक शब्द तक न निकाला। ज़ीनत भी अकड़कर बैठी रही। ड्राइवर सोच रहा था कि आज दोनों सहेलियों के बीच यह ख़ामोशी की दीवार कैसे खड़ी हो गई।

"कैसी रही मेरी तक़रीर?" आखिर ज़ीनत पूछे बिना न रह सकी।

"अच्छी थी!" दीपाली ने जैसे अनमने दिल से कहा, "मेरी उम्मीद से कहीं बढ़कर?"



३१

मीना की चिट्ठी किसी तरह सुनील के हाथ लग गई थी, जिसमें उसने सुनील की भावी पत्नी का काल्पनिक चित्र खींचने का यत्न किया था। यह चिट्ठी उसके हाथ कैसे लगी, इसकी भी एक कहानी थी। एक दिन सुनील दीपाली से मिलने गया तो वह घर पर नहीं थी। वह बैठा उसके लिए इन्तज़ार करता रहा। कभी नन्हीं रश्मि से खेलने लगता जो लकड़ी के घोड़े के साथ खेल रही थी, और कभी चाची को अपने नये नाटक की कहानी सुनाने लगता जो उसने इन्हीं दिनों ख़तम किया था। रश्मि को इस बात की ज़रा भी परवाह न थी कि घोड़ा उलटकर गिर भी सकता है। वह तो यही समझती थी कि घोड़ा भागकर कहाँ जायगा। एक तरफ़ चाबी वाली मोटर पड़ी थी। लेकिन रश्मि को तो घोड़ा ही अच्छा लगता था जिसकी बड़ी-बड़ी आँखें थीं और जो आकार में रश्मि से कुछ ही छोटा होगा। अचानक रश्मि ने सीटी के लिए ज़िद शुरू कर दी और फ़र्श पर गिरकर रोने लगी।

चाची ने झुँझलाकर अपने को कोसना शुरू कर दिया और उसने विवाहित जीवन की अनेक बुराइयाँ निकाल कर दिखाईं। सुनील ने सामने से यही कहा, "चाची, यह तो ख़ास बुराइयाँ नहीं हैं।"

"तो तुम विवाह क्यों नहीं करा लेते?" चाची ने हँसकर कहा।

"हमारे विवाह की किसे फ़िक्र है?" सुनील ने उदास-सा मुँह बना-

कर कहा।

चाची बोली, "एक लड़की तो दुनिया में ऐसी भी है जिसे तुम्हारे विवाह की फ़िक्र है।"

"वह लड़की दीपाली तो हरगिज नहीं हो सकती, चाची!"

"तो बूझो वह कौन लड़की है।"

"वह लड़की जीनत भी नहीं हो सकती, न पारुल, न तेजकौर!"

"और बूझो। मैं कहती हूँ ऐसी एक लड़की है जरूर, और मेरे पास सबूत है।"

सुनील सिर पटककर रह गया। वह बिलकुल न सोच सका कि ऐसी लड़की कौनसी हो सकती है। इतने में चाची ने मीना की वह चिट्ठी लाकर सुनील के हाथ में थमा दी। सुनील ने उसे पढ़ा और हँसकर कहा, "तो चाची, इसे मैं रख लूँ?"

"अरे तू रख ले, सुनील!" चाची ने हँसकर कहा, "डाल लेना किसी नाटक में, पर मीना का नाम न लेना!"

"दीपाली तो कुछ नहीं कहेगी? आख़िर यह चिट्ठी है तो उसी के नाम।"

"दीपाली कुछ नहीं बोल सकती।"

सुनील ने चिट्ठी तह करके जेब में डाल ली और वह रश्मि के साथ खेलने लगा। इस बीच में चाची ने उसकी सीटी उसे दे दी थी और वह फिर से मटर निकालने लगी थी।

दीपाली जाने कहाँ रह गई थी, वैसे तो चार बजे तक उसे यूनिवर्सिटी से लौट आना चाहिए था। सुनील ने सोचा कि आज न जाने कैसा दिन चढ़ा था कि किसी से भी भेंट न हो सकी। आज उसने प्रेस से छुट्टी ले ली थी। सिर दर्द का बहाना किया था। लेकिन न उसे जीनत अपने घर पर मिली, न दीपाली ही अब तक यूनिवर्सिटी लाइब्रेरी से लौटकर आई थी।

आखिर सुनील चाची से आज्ञा लेकर चला आया।

रास्ते में उसने कई बार उस चिट्ठी को जेब से निकालकर पढ़ा। हर बार

उसे यह चिट्ठी नई प्रतीत हुई। पहले तो उसे मीना की बुद्धि पर हँसी आती रही। यह मीना मुझे क्या समझती है? मुझे तो जूड़े पर लाल गुलाब लगाने वाली दुलहन नहीं चाहिए, जिसने चमचम करती साड़ी पहन रखी हो, जिसकी साड़ी का पल्लू सुनहरी हो, जिसका ब्लाउज भी चमचम करता हो, जिसके सैंडल ऊँची एड़ी के हों। मुझे तो वह दुलहन नहीं चाहिए। मुझे तो वह दुलहन चाहिए, जो मेरे साथ कदम मिलाकर चले, मुझे प्रेरणा दे। दुलहन को तो गाड़ी का दूसरा पहिया बनना पड़ता है। दोनों पहियों पर ही तो गाड़ी चलती है। ज़िन्दगी की गाड़ी तो खैर अब किसी तरह चल ही रही है। दम का दम, न धोका न ग़म! यह उसूल ही ठीक है। विमल बाबू का तो इसी में विश्वास है। वे तो दीपाली की ही तरह विवाह से दूर भागते हैं। लेकिन मैं तो कभी उन से सहमत नहीं हो सकता। विवाह को तो मैं ज़रूरी समझता हूँ। लेकिन यह तो ज़रूरी है कि दूल्हा-दुलहन का चुनाव ठीक हो। दूल्हा-दुलहन वाली स्थिति तो आकर ही रहती है। पहाड़-जैसी उम्र तो पति-पत्नी बनकर ही काटनी पड़ती है। उस के लिए तो दोनों में ज़िन्दगी का भार ढोने की क्षमता होनी ही चाहिए। दूल्हा-दुलहन बने रहने का नशा उतरते तो देर नहीं लगती। फिर तो जीवन की डगर पर दौड़ने का सवाल सामने आ जाता है। विवाह लकड़ी का घोड़ा तो नहीं है, न चाबी वाली मोटर, न सीटी। विवाह तो बहुत बड़ी ज़िम्मेदारी है, यह तो असल चीज़ है, खिलौना नहीं।

जब वह अनारकली में पहुँचा तो साँझ हो रही थी। बाज़ार में बड़ी रौनक थी। कई नये ब्याहे जोड़े उसके पास से गुज़रे। उसे लगा कि उसे भी जल्दी करनी चाहिए। ज़िन्दगी की पुकार जैसे उसकी काया में रम गई हो। मन्दिर से आरती के घण्टे की आवाज आ रही थी। वह वहाँ रुककर खड़ा हो गया। उसके सामने 'गुड़िया और लोरी' का कथानक घूम गया। 'मिट्टी की मूरत' के समान ही इस में भी पति-पत्नी की कहानी प्रस्तुत की गई थी। मन्दिर के घण्टे की टन-टन के साथ 'गुड़िया और लोरी' की कहानी उसके मन पर थाप लगाती रही।

धीरे-धीरे वह आगे बढ़ता गया। दुकानों में बिजली की बत्तियाँ जल गई थीं। दुकानें सामान से भरी हुई थीं। किसी-किसी दुकान पर तो बड़ी रौनक थी। कहीं मेक-अप का सामान खरीदने के लिए लाहौर के धनी परिवारों की लड़कियाँ अपनी माताओं के साथ खड़ी नज़र आ रही थीं, कहीं नये टी सेट का दाम ठीक किया जा रहा था, कहीं नये डिज़ाइन का फाउन्टेन पैन खरीदने के लिए कालिज के कुछ नौजवान हँस-हँसकर दुकानदार से रिआयत माँग रहे थे। वह आगे बढ़ता गया। उसे तो कुछ भी नहीं खरीदना था। कहीं ज़ीनत और दीपाली मिल जातीं तो उसकी आँखें चमक उठतीं। रोशनी की पतली-सी रेखा की तरह दीपाली की मुसकान उसकी कल्पना को संजो गई। वह कहना चाहता था कि ऐसी एक मुसकान की मदद से तो ज़िन्दगी का बड़े-से-बड़ा दुख-दर्द झेला जा सकता है। ज़िन्दगी की नदी में लाख तूफ़ान आ जाय, ऐसी एक मुसकान तो नाव की तरह तूफ़ान से भी पार पा सकती है।

वह एक जगह रुक गया। लोग-बाग आ-जा रहे थे, बातें कर रहे थे। उन में शायद किसी का दिल डावाँडोल नहीं था। अनारकली में तो हर शाम इतनी ही रौनक रहती थी, यहाँ तो सहेलियाँ इसी तरह चुहलें करती थीं। अनारकली में तो खुशमिज़ाज लड़कियों की कोई कमी नहीं, लेकिन मेरे लिए कोई नहीं। उसे अपने ऊपर क्रोध आने लगा। शायद दीपाली और ज़ीनत मुझे पहले प्रूफरीडर समझती हैं फिर नाटक-कार। शायद वे दोनों दिल से मुझ से नफ़रत करती हैं। लेकिन वे तो हँसती-खेलती ही मिलती हैं और उस समय तो यही मालूम होता है कि यह हँसी उनके दिल की गहराइयों से झरने की तरह फूट रही है। दीपाली की आँखें कितनी गोल-गोल हैं, कितनी कजरारी ! लेकिन उसने तो विवाह के विरुद्ध कसम उठा रखी है। वह अपनी कसम कभी तोड़ने की नहीं। ज़ीनत के साथ तो मेरा लगाव वैसे ही कठिन है। वैसे ज़ीनत बड़ी मेहनती लड़की है। उसका लहजा बहुत सख्त भी नहीं है। हाँ, वह बहुत दुबली-पतली ज़रूर है। ज़िन्दगी का बोझ ढोने की क्षमता उस में कहाँ होगी ? मुझे तो

बराबर की साथी होने वाली दुलहन चाहिए, जो समय आने पर मेरे साथ मिलकर बिफर सके, मेरे साथ मिलकर तालियाँ बजा सके, जो मुझ से सोने की चूड़ियाँ न माँगे, जो रेशमी साड़ियों की फ़र्माइश न करे, जो हर मुख़ालफ़त में मेरा साथ दे। जो मेरी हिमायत में ज़िन्दगी से लोहा ले सके, जो कहीं दबे नहीं, रुके नहीं, जिसके दिल में कभी हरास घर न करे, जिसकी हमदर्दी नक़ली हाथीदाँत की-सी न हो। जो खुद भी आगे बढ़े, मुझे भी आगे बढ़ाये, जिसे नाटक की थोड़ी-बहुत समझ तो अवश्य हो, नहीं तो नाटककार की पत्नी बनने की क्षमता उस में कहाँ से आवेगी !····कभी दीपाली का चेहरा उसकी कल्पना में घूम जाता तो वह झुँझलाकर कहता—ऊँह ! दीपाली तो इस रास्ते पर चलने से रही, उसकी माँग में तो सिन्दूर पड़ने से रहा। जैसे वह सीढ़ियों से नीचे फिसल पड़ा—नीचे-ही-नीचे। कभी ज़ीनत का चेहरा उसकी कल्पना को छू लेता और वह सोचता—ज़ीनत तो बहुत दूर है। उसके विचार तो विशाल हैं, प्रवहमान हैं। मनोमालिन्य उस से कोसों दूर है। साम्प्रदायिकता तो उसे छू भी नहीं गई। मधुर मुसकान, ज़बान की मिठास, लबो-लहजे में मजलिसी रख-रखाव। लाहौर की तहज़ीब की प्रतिमूर्ति—ज़ीनत बुरी तो नहीं। लेकिन ज़ीनत बहुत दूर है !····घूम-फिरकर वह दीपाली की कल्पना में उलझ जाता। काश! दीपाली अपनी माँग में सिन्दूर डलवाने के लिए राज़ी हो जाय !····



३१

त्रिवेणी की ओर से खेला जाय 'गुड़िया और लोरी', सबकी राय से यही निर्णय किया गया। दीपाली ने बलपूर्वक कहा, "देखो सुनील, इस नाटक का तो यही ताकाज़ा है कि ज़ीनत को ही हीरोइन का रोल दिया जाय।" लेकिन सुनील यही आग्रह करता रहा कि अबके फिर यह ज़िम्मेदारी दिपाली को ही लेनी चाहिए। बाकी 'कास्ट' चुनी जा चुकी थी, लेकिन हीरोइन का फ़ैसला नहीं हो सका था।

दीपाली को हीरोइन की रोल में आने के लिए सुनील ने अपना आग्रह ज़ीनत के द्वारा भी जारी रखा। दीपाली बराबर इन्कार करती रही।

आख़िर ज़ीनत को ही हीरोइन का रोल दिया गया। नाटक को डाइरेक्ट करने की ज़िम्मेदारी दीपाली ने सँभाली। सुनील ख़ुश था कि चलो किसी तरह दीपाली ने उसके कार्य में सहायक होना तो स्वीकार किया।

इधर कुछ दिनों से दीपाली खिंची-खिंची-सी नज़र आने लगी थी। वह खिचाव सब से अधिक सुनील को उस रात अनुभव हुआ था जब पंजाब लिटरेरी लीग में ज़ीनत ने इक़बाल की कविता पर भाषण दिया था। सचमुच वह दीपाली का यह खिंचाव समझ नहीं सका था। स्वयं दीपाली ने तो ज़ीनत से उसका परिचय कराया था। अब यदि ज़ीनत भी उसकी प्रतिभा से अभिभूत हो गई थी, तो इसमें ईर्ष्या का तो कोई कारण न था। आज भी उसकी दृष्टि में दीपाली ही श्रेष्ठ थी। ज़ीनत के प्रति उसके मन

में विशेष आकर्षण तो न था। आवश्यकता पड़ने पर वह स्पष्ट रूप से कह सकता था कि उसे सुनहरी कपड़ों वाली गुड़िया की तो आवश्यकता नहीं है। दीपाली को देखकर उसे सदैव लगता कि काश वह उसके साथ कदम-से-कदम मिलाकर चलने का कार्यक्रम बना सकती। विवाह को वह इतना आवश्यक तो न समझता था, पर दीपाली की तरह वह विवाह को एकदम व्यर्थ समझने की भूल भी तो न कर सकता था। पति-पत्नी की कल्पना वह जीवन-साथियों के रूप में ही करना उचित समझता था। लेकिन यहाँ तो बड़ी विचित्र बात थी। दीपाली उसे प्रेरणा तो दे सकती थी, उसके साथ कदम मिलाकर जीवन-साथी के रूप में चलना उसे स्वीकार न था।

'गुड़िया और लोरी' की रिहर्सल कई दिनों तक होती रही। रिहर्सल के दिनों में उसे ज़ीनत के और भी अधिक समीप आने का अवसर मिला। बात यों हुई कि जावेद सहसा बीमार हो गया और दीपाली के आग्रह से स्वयं सुनील को ही उस रोल में आना पड़ा।

'गुड़िया और लोरी' के कथानक में एक पति-पत्नी का संघर्ष प्रस्तुत किया गया था। पत्नी किसी भी शर्त पर अपना घर छोड़ने को तैयार नहीं होती। लेकिन पति, जो अपने विचारानुसार समय की नब्ज़ को पहचानने की क्षमता रखता है, पत्नी से बार-बार आग्रह करता है कि हमें इस देश को छोड़ जाना चाहिए। पत्नी की अवस्था एक नीम पागल की-सी हो जाती है। जैसे उसके हृदय और मस्तिष्क में आग की ज्वाला धधक रही है, और जैसे वह इन ज्वालाओं को अपने चारों ओर फैलते देख रहा हो। पति कभी-कभी बिल्कुल होश में होता है। उस समय पत्नी की बातें उस पर जादू-सा करती प्रतीत होती हैं। वह पत्नी की बात मानकर इसी देश में रहना स्वीकार कर लेता है। लेकिन समय की बागडोर न पति के हाथ में है, न पत्नी के हाथ में। पत्नी अपने मुन्ने के झूले की डोर हिलाते हुए बार-बार लोरी के स्वर छेड़ती है जिस में आशा का स्वर उभरता है और जिसमें बार-बार यह चेतवनी दी गई है कि अपना घर ही प्रिय होता है, अन्धकार फटकर रहता है, सवेरा अच्छा होता है और सूर्य के सामने किसी

भी प्रकार का अन्धकार अपना खेमा नहीं गाढ़ सकता। यह लोरी पत्नी के भाई की बनाई हुई है, जो अब इस संसार से उठ गया है। भाई का चरित्र सदैव बहन के सम्मुख यों तैरता रहता है जैसे जल की लहरों पर कमल मुसकरा रहा हो। बहन को इस बात का गर्व है कि उसका भाई शहीद हो गया—हँसते-हँसते फाँसी की रस्सी पर झूल गया। भाई क्रान्तिकारी था और उसने अपना रक्त इसी धरती को ही दान दिया था। बहन सोचती है कि भले ही उसके प्राण चले जायँ और चारों तरफ़ फैलने वाली आग उन के घर को जलाकर भस्म कर दे, वह इस धरती को छोड़कर न भागेगी, जिस पर उसके भाई का खून बह चुका है। भाई की याद आते ही बहन को झट यह ध्यान आ जाता है कि भाई उसे गुड़िया कहकर पुकारा करता था। बहन सोचती है कि वह गुड़िया भले ही नहीं, पर उसके पास भाई की वह लोरी तो है जिसे वह अपने मुन्ने को सुनाया करती है। पति के हज़ार आग्रह करने के बावजूद वह यही उत्तर देती है कि उसे तो अपनी ही धरती प्रिय है, अपनी ही लोरी प्रिय है, गुड़िया के रूप में अपनी कल्पना भी प्रिय है, जिस पर उसके भाई की छाप है—एक शहीद की छाप।

यह सुनील का सौभाग्य था कि 'गुड़िया और लोरी' स्टेज करने से तीन-चार दिन पहले विमल बाबू लाहौर में आ टपके थे और स्टेज की सज्जा आदि का सारा भार उन्होंने अपने ऊपर ले लिया था। सुनील का आग्रह तो यही था कि विमल बाबू 'गुड़िया और लोरी' में शहीद होने वाले भाई का रोल भी स्वीकार कर लें, पर उन्होंने यह कहकर इन्कार कर दिया कि एक्टिंग उनके बस का रोग नहीं है। शहीद होने वाले भाई का रोल अर्जुनसिंह ने सहर्ष स्वीकार करते हुए कहा, "ओ भाई लोगो, सच्चे पादशाह दे सिंघ तो जान देने के लिए ही आये हैं। चलो हम शहीद ही बनेंगे। बिना शहीद हुए ही स्टेज पर शहीद होने दा मज़ा तो आ ही जायगा।"

जीनत की एक्टिंग अब के सुनील को बहुत पसन्द आई। ड्रामा ख़तम होने के बाद जब वह घर लौट रहा था, तो उसके मन में एकाएक यह बात

उठी कि 'गुड़िया और लोरी' की गुड़िया शायद उसके जीवन की गुड़िया बन जाय। फिर उसने सोचा कि यह कैसे हो सकता है। जीनत के सामने तो मैं कभी यह प्रस्ताव नहीं रख सकता, और स्वयं वह कैसे मेरे मन की बात जान सकती है। दीपाली पर उसे बुरी तरह गुस्सा आने लगा। उसने फैसला किया कि अब वह कुछ दिन उस से ख़फ़ा रहेगा। शायद इसी तरह दीपाली को समझ आ जाय।

घर आकर उसने मेज़ की दराज़ में से मीना की वह चिट्ठी निकाली और टेबल लैम्प की रोशनी में उसे पढ़ने लगा। उसे मीना पर भी क्रोध आ गया, और इसी झुँझलाहट में उसके जी में तो आया कि वह उस चिट्ठी के टुकड़े कर डाले, पर वह ऐसा कर न सका, क्योंकि उसके मन से भी वैसी ही आवाज़ आ रही थी। मीना ने तो दुलहन का रूप-रंग भी लिख दिया था, लेकिन सुनील के मन में तो अभी दुलहन का रूप-रंग निश्चित रेखाओं में नहीं उभर सका था। अभी तो उसके मन में संघर्ष चल रहा था।

रात के ग्यारह बज रहे थे। सुनील बिस्तर पर लेट गया और सहसा उसे वह विचार झंझोड़ने लगा कि शायद कभी असम्भव भी सम्भव हो जाय और जीनत उसे वैसे ही बुलाये जैसे वह उसे 'गुड़िया और लोरी' के हीरो के रूप में बुला रही थी। काश! जीनत की वह एक्टिंग जीवन-भर के लिए सार्थक हो जाय।



३३

'गुड़िया और लोरी' को 'मिट्टी की मूरत' से अधिक सफलता मिली, यह बात चौधरी ने भी अपने लेख में स्वीकार की, जो नाटक के तीसरे दिन 'सिविल एण्ड मिलिट्री गज़ट' के सण्डे एडीशन में प्रकाशित हुआ। लेकिन जहाँ उसने यह स्वीकार किया कि सुनील के पहले ड्रामा 'मिट्टी की मूरत' की आलोचना आवश्यकता से अधिक कटु हो गई थी और इस सिलसिले में 'ट्रिब्यून' और 'सिविल एण्ड मिलिट्री गज़ट' में जो नोक-झोंक चली, उसकी सारी ज़िम्मेदारी उसी के लेख पर थी, वहाँ उसने यह बात भी बलपूर्वक कही कि सुनील की शैली अभी तक परिमार्जित नहीं हो सकी और नाटक की आधुनिक प्रवृत्तियों से उसकी लेखनी अभी तक अछूती है, और यह सही है कि पूर्ण सफलता प्राप्त करने से पहले उसके सामने एक लम्बी डगर पड़ी है।

जीनत के काम की प्रेस में भरपूर प्रशंसा की गई, साथ ही दीपाली की डाइरेक्शन को भी भुलाया नहीं गया। यह बात भी सब ने मुक्त कण्ठ से स्वीकार की कि नाटककार सुनील से अभिनेता सुनील कहीं अधिक सफल रहा। अर्जुनसिंह की एक्टिंग कुछ लोगों को बिल्कुल नापसन्द थी। लेकिन आश्चर्य तो यह था कि केवल चौधरी ने उसे अपनी लेखनी द्वारा आसमान पर चढ़ा दिया था और ज़ोर देकर कहा था—'अर्जुनसिंह को भले ही कोई सिक्केबन्द एक्टर न कह सके, भले ही कुछ लोग यह ख्याल करें कि उसे रिहर्सल

कराये बगैर ही स्टेज पर लाकर खड़ा कर दिया था। पर जिस मस्ती और तन्मयता से उसने अपनी रोल में काम किया, वह इस बात का प्रमाण है कि जन्मजात एक्टर भी होते हैं जिन्हें विशेष ट्रेनिंग की आवश्यकता नहीं पड़ती।'

विमल बाबू दिन-दिन-भर सुनील के प्रेस में बैठे रहते और प्रेस के मालिक को नोआखाली से लेकर दिल्ली तक की कहानियाँ सुनाते रहते। कभी कहते, "देखो बाबा, हम बोलता कि हम आर्टिस्ट। हम को सरस्वती का वरदान। लक्ष्मी हम पर प्रसन्न नहीं होने सकता। लेकिन हम बोलता कि हमारा सरस्वती महान्। हम तुम्हारा लक्ष्मी से प्रतिदान की इच्छा नहीं करता।" कभी कहते, "बनारस से हम दिल्ली आ गया और दिल्ली से लाहौर, बाबा! अब हम यहाँ अधिक दिवस नहीं टिकने सकता।"

मजा तो यह था कि प्रेस-मालिक यह नहीं समझ पा रहा था कि यह आर्टिस्ट यहाँ से कब टलेगा। ऊपर से वह विमल बाबू की पूरी सेवा करता, और झट लड़के को आवाज लगाकर कहता—"अरे मुण्डू, सुनो तो, जाओ दौड़कर चाय लेते आओ।" और ज्यों ही मुण्डू पीठ मोड़ता, प्रेस-मालिक उसे रोककर विमल बाबू से पूछता, "हाँ तो बताइए, विमल बाबू, आप साथ में क्या लेंगे—समोसा या बर्फी?" ऐसे अवसर पर विमल बाबू हमेशा यही कहते, "हम शुधु चाय लेगा! बाबा हम बोलता—शुधु चाय से चलने सकता। अधिक मिष्टी और अधिक नमकीन हमको भालो लागे ना!" खैर, हमेशा चाय ही आती और प्रेस-मालिक हमेशा मुसकराकर कहता, "प्रेस से बड़ा झमेला दूसरा कोई नहीं है, विमल बाबू! कभी-कभी तो हमारे जी में आता है कि इन सब मशीनों को बेच-बाच कर तीर्थ-यात्रा के लिए निकल पड़ें, पर कोई साथी तो होना चाहिए। आप जैसा साथी मिल जाय तो फिर क्या कहने!"

बीच-बीच में विमल बाबू सुनील की ओर संकेत करके कह उठते, "यह हमारा बन्धु, यह हमारा नाटककार, यहाँ प्रूफरीडर बना बैठा है। ई संसार में आर्टिस्ट का इतना अपमान तो हम सहन नहीं करने सकता।"

इसके उत्तर में प्रेस-मालिक बोल उठता, "देखिए विमल बाबू, शायर ने क्या खूब कहा है—'रोटी तो किसी तौर कमा खाये कलन्दर !' सब पेट का धन्धा है, विमल बाबू ! पेट के तन्दूर को तो रोज ईंधन चाहिए।"

एक दिन प्रेस-मालिक ने अपने पेट को हाथ से थपथपाकर कहा, "यह भी तो तन्दूर है, विमल बाबू। खैर छोड़िए, सुनील का भविष्य उज्ज्वल है, और हम हमेशा उसे आगे बढ़ने के लिए उकसाते रहे हैं। उसका पहला नाटक 'मिट्टी की मूरत' अगले महीने छपकर तैयार हो जायगा। दो रंग की छपाई, नया टाइप, कपड़े की जिल्द, तिरंगा कवर। देखना विमल बाबू, सुनील जी तो अब चमक उठेंगे। हर कोई इन्हीं का नाम लेगा, प्रेस को कौन पूछेगा ? सब यही कहेंगे—सुनील जी की 'मिट्टी की मूरत !' नारंग प्रेस को कौन पूछेगा ? कीमत इतनी कम रखी गई है कि लाभ उठाने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। यह सब तो सुनील को ऊँचा उठाने की कार्रवाई है और अगर आप कहें तो सुनील का 'गुड़िया और लोरी' भी छाप डालें, लेकिन एक शर्त पर—"

"मैं भी तो सुनूँ वह शर्त, नारंग साहब !" सुनील ने अपनी कुर्सी से उठकर समीप आते हुए कहा, जैसे वह सब-कुछ जानता हुआ भी अनजान बनने का यत्न कर रहा हो।

"शर्त मामूली है," नारंग साहब ने गम्भीर होकर कहा।

"हम बूझने सकता !" विमल बाबू ने हँसकर कहा, "देखो बाबा, आर्टिस्ट तो पैसे का पूजा नहीं करने सकता। आप बोलने सकता कि पैसा अधिक नहीं देगा। हम भी सुनील को परामर्श देने सकता कि पैसे का लोभ व्यर्थ। नाटक का प्रकाशित होना परम आवश्यक।"

"हाँ हाँ, विमल बाबू !" नारंग साहब ने गम्भीर होने का यत्न किया। "मार्कीट की जैसी हालत है, आप तो देख ही रहे हैं। फिर कागज का दाम तो खाने को दौड़ता है। जिल्दसाज से दाम पूछो तो दुगुने दाम सुनाता है। अब आप तो जानते हैं कि कपड़े की जिल्द तो होनी ही चाहिए और रंगीन कवर डिजाइन भी। अब आप भी आर्टिस्ट हैं। इनकी एक

मदद तो आप कर सकते हैं। मेरा मतलब कवर डिज़ाइन से है। देखिए दो सौ रुपये नकद सुनील जी की भेंट किये जा सकते हैं। यह सब तो 'पत्रम्-पुष्पम्' है। शोहरत होगी तो इनकी ही, और यदि पंजाब यूनिवर्सिटी में लग गई तो हर विद्यार्थी की ज़बान पर इन्हीं का नाम होगा। फिर हमारा प्रकाशन का काम अभी नया है। लेकिन इतना तो मैं अभी से कह सकता हूँ कि एक साल तक तो खूब विज्ञापन देंगे, और खर्च करने में संकोच नहीं करेंगे।"

सुनील हतप्रभ-सा खड़ा सुनता रहा, मुँह से कुछ न बोला।

विमल बाबू ने सुनील का कन्धा थपथपाते हुए कहा, "बाबा, किस सोच में पड़ गया? लक्ष्मी का ध्यान तो नहीं आ गया? हम बोलता—हम आर्टिस्ट, हमको तो सरस्वती की पूजा ही दरकार!"

सुनील ने कुछ उत्तर न दिया।

विमल बाबू ने अपना ही स्वर छेड़ दिया, "हम बोलता, नारंग महाशय, आज रात्रि का अवसर दो, हम सुनील को सब बात समझाने सकता। इस बात का निर्णय कल निश्चय ही सम्भव।"

इतने में भीतर से कम्पोज़ीटरों के फ़ोरमैन ने आकर नारंग साहब की मेज़ पर प्रूफ़ों की गड्डी रख दी।

सुनील उसी तरह हतप्रभ-सा खड़ा था। नारंग साहब ने उसे सम्बोधित करते हुए कहा, "लीजिए, सुनील जी, आपके और प्रूफ आ गये!"



३४

जावेद एकाएक बीमार न हो जाता, तो 'गुड़िया और लोरी' के हीरो का रोल उसे ही मिलता। ख़ैर यह तो बहुत बड़ा ख़सारा न था। ख़सारा था तो यह कि इधर ज़ीनत ने अब्बा जान से साफ़-साफ़ कह दिया था कि वह जावेद को बिल्कुल पसन्द नहीं करती। पहली बार जावेद ने यह बात सुनी, और वह भी ज़ीनत के अब्बा जान की ज़बानी, तो वाक़ई उसके दिल पर गहरी चोट लगी। इसका तो यही जवाब हो सकता था—तो रहने दीजिए, अब्बा जान! ज़ीनत पर आप ख्वाह-म-ख्वाह ज़ोर डालें, यह तो मैं भी नहीं चाहता।

अम्मी जान को तो ख़ैर बहुत दिनों से मालूम था कि ज़ीनत बेक़ाबू हुई जा रही है, और ख़ास तौर पर जावेद से शादी करने के मामले में तो उसके मुँह से सिवाय इन्कार के दूसरी बात निकल ही नहीं सकती। यह बात तो ज़ीनत भी जानती थी कि जावेद का ख़ानदान उसके अपने ख़ानदान से किसी क़दर कम न था। एक ही ख़ानदान तो था, जावेद उसका चचेरा भाई ही तो था। अन्तर केवल इतना ही था कि उसका घर लाहौर में नहीं, अमृतसर में था। कई बातों में तो जावेद ज़ीनत पर बाज़ी ले गया था। ज़ीनत बी० ए० थी तो जावेद एम० ए०। अब तो जावेद एक कालेज में पढ़ाने भी लगा था। जावेद एक्टर तो था ही, हॉकी का खिलाड़ी भी तो था, और पक्के राग को भी ख़ूब समझता था। उसके लतीफ़े तो मशहूर

थे। मजलिस में बैठकर कभी वह इतना गम्भीर नज़र आता, जैसे उसके होंठों से कभी हँसी न फूट सकती हो, और कभी चार दोस्तों में बैठकर उन्हें इतना हँसाता कि हँसते-हँसते उनके पेट में बल पड़ जाते। जावेद के लतीफ़े तो अभी कल तक ज़ीनत को भी पसन्द थे, और अम्मी जान का यह ख्याल ठीक ही था कि मियाँ-बीबी बनकर इन दोनों की खूब गुज़रेगी। लेकिन ज़ीनत ने तो अम्मी जान से साफ़-साफ़ कह दिया था कि वह किसी भी शर्त पर जावेद के साथ कदम मिलाकर नहीं चल सकेगी।

कुछ दिन तक तो इशारों-ही-इशारों में अम्मी जान ने ज़ीनत को बहुत समझाया। कभी वह जावेद के अब्बा जान की तारीफ़ शुरू कर देती, कभी कहती कि उनका घर तो ऐसा है जैसे सोने के कटोरे में दूध छलक रहा हो। कभी कहती कि लाहौर से अमृतसर किसी भी तरह कम नहीं। कभी उस कालेज की तारीफ़ शुरू हो जाती जहाँ जावेद पढ़ाता था। लेकिन ज़ीनत तो सब समझती थी। मुँह से तो कुछ न कहती, पर जैसे अम्मी जान उसके चेहरे पर साफ़-साफ़ पढ़ लेतीं—'आप का जावेद तो मुझे एक आँख नहीं भाता, अम्मी जान!'

आख़िर अम्मी जान ने सोच लिया कि ज़ीनत पर जोर डालना ठीक नहीं। ज़ीनत की योग्यता पर तो उन्हें किसी तरह का सन्देह न था। वह जानती थीं कि ज़ीनत जहाँ भी जायगी, वहीं वारे-न्यारे हो जायँगे। बड़े नाज़ों से पली थी ज़ीनत, आख़िर वह उनकी इकलौती बेटी थी। उन्होंने तो उसे सोने में मढ़ देने का फ़ैसला कर रखा था, इसलिए दूल्हा अमीर घराने का ही हो, यह तो ज़रूरी न था।

अब्बा जान ने भी अब तक ज़ीनत के बारे में अपना हाथ काफ़ी खुला रखा था। वह चाहते थे कि ज़ीनत खुश रहे, जहाँ भी जाय, खुशी से जाय। उनका बस चलता तो कभी यह ख्याल दिल में आने ही न देते कि आख़िर एक दिन ज़ीनत को यहाँ से जाना ही होगा। कई बार वह दिल-ही-दिल में हिसाब लगाते कि ज़ीनत की शादी पर कितना ख़र्च उठेगा। घर में तो सब-कुछ था। ज़ीनत की अम्मी जान से उन्होंने साफ़-साफ़ कह रखा

था कि ज़ीनत को अनगिनत जवाहरात देंगे, जिस से एक बार तो बागवान-पुरा वाले भी देख लें कि दहेज कर्ज़ उतारने की तरह नहीं दिया जाता, बल्कि यह तो माँ-बाप की मुहब्बत की निशानी होता है।

अम्मी जान कई बार ज़ीनत के अब्बा जान से कहतीं, "जवाहरात तो सब जमा हैं, लेकिन लड़का तो तलाश करो!" अब्बा जान हँसकर कहते, "यह काम मुझ से तो होने का नहीं, तुम जानो या ज़ीनत।"

अम्मी जान समझती थीं कि ज़ीनत के अब्बा जान तो नई सभ्यता के आदमी हैं, वह किसी भी तरह नहीं चाहते कि ज़ीनत को नाराज़ किया जाय।

ज़ीनत सब देखती थी, सब सुनती थी। लेकिन जैसे ज़बान पर आई हुई बात को कहने में अभी उसे संकोच था। कई बार वह सोचती कि वह तो एक कबूतरी है, अब उसे फुर्र से उड़ जाना चाहिए। कई बार सोचती कि वह तो किसी की बाँसुरी की मीठी-सी लय है, किसी के रोके नहीं रुक सकती। उसके मन में नये-नये विचार उठते, उठते ही चले जाते, जैसे चरखे पर लम्बा तार निकलता ही चला जाय। उसकी कल्पना में जंगल और पहाड़ अंगड़ाइयाँ लेते, नीलवर्ण सागर ठाठें मारते। जैसे वह एक नर्तकी हो, किसी नये ताल पर नाचना चाहती हो। जैसे वह एक नदी हो, पहाड़ों को चीरती हुई आगे बढ़ना चाहती हो। वह कहना चाहती थी कि अपनी मंज़िल को तो वह खूब पहचानती है। वह जानती थी कि कली खिलती है तो उस में खुशबू तो अपने-आप ही आ जाती है। कोई इस खुशबू को क़ैद क्यों करे?

'गुड़िया और लोरी' में अपनी एक्टिंग की याद आते ही वह सोचती कि अच्छा ही हुआ जो हीरो का रोल सुनील ने किया। जावेद के साथ तो शायद उसकी एक्टिंग इतनी न उभर सकती। अच्छा ही हुआ कि जावेद बीमार पड़ गया था, वरना बात न बनती। सुनील के साथ तो वह खूब उभरी। प्रेस में कितनी तारीफ़ हुई! दीपाली को भी मानना पड़ा कि ज़ीनत भी हीरोइन की रोल में इतना नाम कमा सकती है। सुनील का काम अब्बा जान को भी पसन्द आया था। उसकी एक्टिंग की तो वह कई दिन तक तारीफ़

करते रहे थे। सुनील के लिए उनके दिल में इज़्ज़त है। शुरू-शुरू में तो वह जरूर यह सोचकर नाक-भौं चढ़ाया करते थे कि आख़िर सुनील प्रेस में एक प्रूफ़रीडर ही तो है, पर अब तो वह उसके उस पहलू पर ध्यान ही नहीं देते। 'गुड़िया और लोरी' की थीम अब्बा जान को ही नहीं, अम्मी जान को भी पसन्द आई थी। अम्मी जान ने तो हँसकर कहा था, "सुनील ने भी क्या खूब डुगडुगी बजाई! वाक़ई आज हमारे मुल्क को इसी डुगडुगी की जरूरत है।" और अब्बा जान ने सुनील की तारीफ़ करते हुए कहा था, "मैं तो इस आदमी की समझ-बूझ का हमेशा क़ायल रहूँगा। एक मामूली से ख्याल की नोक-पलक सँवारकर उसे ऊँचा उठाया जा सकता है, लेकिन जब ड्रामा की थीम ही इतनी बुलन्द हो तो फिर इस की कामयाबी के क्या कहने!"

आख़िर एक दिन, जब जीनत अब्बा जान और अम्मी जान के साथ नाश्ता कर रही थी और सूरज की पहली किरणें अम्मी जान का चेहरा चमका रही थीं, जीनत ने दिल कड़ा करके झट अपनी बात कह दी और वह उठकर अपने कमरे में चली गई।

अम्मी जान यह बात सुनकर हक्की-बक्की रह गईं, जैसे उन के हाथों के तोते उड़ गये हों। लेकिन अब्बा जान ने सँभलकर कहा, "इस में हैरान होने की तो कोई बात नहीं है। मैं तो बहुत पहले से ही जानता था।"



३५

विमल बाबू को लाहौर से गये एक सप्ताह हो चुका था। दिल्ली पहुँचते ही उन्होंने अपनी पहली ही चिट्ठी में सुनील से यही आग्रह किया था कि वह अपनी पुस्तक 'गुड़िया और लोरी' नारंग-प्रकाशन द्वारा ही छपवायें। इसका उत्तर देने का तो अब प्रश्न ही न उठता था, क्योंकि एक दिन पहले ही तो उसका वहाँ से काम छूट गया था।

बात यह हुई कि दीपाली के परामर्श से सुनील ने अपनी पुस्तक स्वयं ही एक दूसरे प्रेस में छपवाने का प्रबन्ध कर लिया था, और सच तो यह था कि यह नाटक रंगमंच पर प्रस्तुत किये जाने के दस दिन बाद ही छपवाकर पंजाब यूनिवर्सिटी की 'टेक्स्टबुक कमेटी' को भेजा जा चुका था। दीपाली के परामर्श से सारी बात गुप्त रखी गई थी, यहाँ तक कि विमल बाबू के कान में भी भनक नहीं पड़ सकी थी। अब एकाएक कहीं से उड़ती खबर नारंग साहब तक पहुँची तो वे बहुत झुँझलाये और उन्होंने झट यह निर्णय कर लिया कि सुनील को काम से जवाब दे दिया जाय।

जिस दिन सुनील को काम से जवाब दिया गया, ऊपर से तो नारंग साहब ने पूरा नाटकीय ढंग बरतने का यत्न किया। पहले तो उन्होंने सुनील को अपने पास बुलाकर उसके काम की बहुत प्रशंसा की, फिर अपने प्रेस का किस्सा ले बैठे। अभी कल तक तो वे इसी बात पर जोर देते रहे थे कि प्रेस का काम बढ़ गया है, इसलिए प्रूफ़रीडिंग का काम शीघ्रता से निपटाये

बिना गाड़ी नहीं चलेगी। आज न जाने क्या सोचकर उन्होंने यह प्रसंग छेड़ दिया कि प्रेस का काम बहुत मन्दा पड़ गया है और प्रूफरीडर का वेतन निकालना भी कठिन दिखाई देता है। सुनील यह सब सुनता रहा। उसे आश्चर्य अवश्य हुआ कि सहसा नारंग साहब ने यह रंग क्यों बदल लिया। पर अगले ही क्षण नारंग साहब बड़ी विनम्रता से बोले, "देखिए सुनील जी, आप के साथ तो अब घर वाली बात हो गई है। जिस परिश्रम से आपने यह डेढ़ साल हमारे यहाँ गुजारा, उस में हमने देख लिया कि आप को हमारा कितना दर्द है। आप से ऐसी ही आशा भी थी। मैं कहना तो नहीं चाहता था, पर कहे बिना रह भी नहीं सकता। क्या ऐसा नहीं हो सकता कि आप एक-दो मास की छुट्टी कर लें? रुपये की तो कोई बात नहीं, घर वाली बात है। जैसा आप कहेंगे हो जायगा। मैं कोशिश तो करूँगा कि अगले महीने ही आप को बुलाया जा सके, लेकिन इसमें एक-आध महीना ज़्यादा भी लग सकता है।"

सुनील ने नारंग साहब का रुख देखकर समझ लिया था कि दाल में कुछ काला अवश्य है। जब वह सायंकाल घर जाने लगा, तो नारंग साहब ने मुँह लटकाकर कहा, "सुनील जी, बुरा न मनाइएगा। हमारी मजबूरी का प्रश्न न होता तो हम आप का हिसाब अभी चुकता कर देते। दस दिन की बात है, सात तारीख तक आप का हिसाब चुका देंगे।"

सुनील ने कुछ दिन तक तो किसी से भी काम छूटने की चर्चा न की। एक प्रकार से उसने आराम का साँस लिया। पहले उसे ध्यान आया कि वह जमकर बैठ जाय और कोई अच्छी-सी चीज लिखकर ही किसी को मुँह दिखाये। पर काम में भी तो उसका मन न लग सकता था। कभी वह पंजाब पब्लिक लाइब्रेरी में जा बैठता, कभी रावी की ओर घूमने निकल पड़ता। नारंग साहब का व्यवहार उसे बुरी तरह चुभने लगा। कई बार वह अपने मन से पूछता—क्या समाज में कला का कुछ भी मूल्य नहीं है? क्या कलाकार स्वतन्त्रता से अपनी आजीविका नहीं चला सकता? उसके मन में पहली स्मृतियाँ सिर उठातीं। घाट-घाट का पिया हुआ पानी उसे याद

आता। बम्बई के होटलों में प्लेटें साफ़ करने से लेकर फिल्म कम्पनी में एक्स्ट्रा की रोल करने, और तरह-तरह के पापड़ बेलने की कहानी चल-चित्र की तरह उसकी कल्पना में घूम जाती। गुजरात के गाँव-गाँव में घूमने वाले रासधारियों के साथ बिताये हुए दिन भी जैसे दड़बे में घुसे कबूतरों की तरह उसकी कल्पना के कला-भवन में पंख फड़फड़ाने लगते, बल्कि यह कहना चाहिए कि उसकी समूची कला-साधना पकी हुई बालियों की तरह सुनहले नवान्न पर गर्व करती नज़र आती। इस साधना में नारंग साहब का व्यवहार भी तो था। दीपाली और जीनत का सहयोग भी अपने स्थान पर कुछ कम गौरव नहीं रखता था। पर अब तो वह बेकार था। रोटी की चिन्ता उसके सामने मुँह बाये खड़ी थी। कलाकार होने का दावा करके वह भूख की समस्या का समाधान तो न कर सकता था। रावी की लहरें उसे कोई सान्त्वना तो न दे सकती थीं।

एक दिन दीपाली और जीनत उससे मिलने आईं तो वह अभी तक बिस्तर से नहीं उठा था। दरवाज़े पर दस्तक हुई तो उसने उठकर दरवाज़ा खोला। दीपाली ने आते ही उसे खुशखबरी सुनाई, "लाइए, सुनील जी, दावत दीजिए!"

"किस बात की दावत?"

" 'गुड़िया और लोरी' एफ० ए० इलेक्टिक में टेक्स्ट बुक लग गई। ज्यादा नहीं तो साल में दो-ढाई हज़ार तो कहीं नहीं गये।"

सुनील मन्त्र-मुग्ध-सा बैठा रहा। उसने यह बताने की आवश्यकता न समझी कि नारंग प्रेस से उसका काम छूट चुका है।

"देखा दीपाली, दावत के नाम पर हमारे सुनील साहब किस तरह खामोश हो गये?" जीनत ने हँसकर कहा।

"मैं तो बल्कि हैरान हूँ कि मेरी पुस्तक कैसे लग गई। न तो मेरी कोई सिफ़ारिश थी और न मैं वैसे ही ज़ोर डाल सकता था।" सुनील ने सँभलकर कहा, "वह किसी ने कहा है न कि जब वह देता है तो छप्पर फाड़कर देता है।"

"खैर, हमारी दावत का इन्तज़ाम कीजिए।" ज़ीनत ने बढ़ावा दिया, "किसी भी तरह लगी हो, लग तो गई 'गुड़िया और लोरी'।"

"पहले वह दावत दीजिए सुनील जी!" दीपाली ने विभोर होकर कहा, "फिर एक और दावत लेंगे आप से।"

सुनील कुछ न बोला।

"यह दावत तो खैर ज़ीनत को आप की तरफ से मैं भी दे सकती हूँ।" दीपाली ने गम्भीर होने का प्रयत्न करते हुए कहा, "लेकिन दूसरी दावत तो आप ही को देनी पड़ेगी।"

"दूसरी दावत कैसी?" सुनील ने आँखें ऊपर उठाईं।

ज़ीनत ने जैसे सहमकर आँखें झुका लीं। दीपाली ने ज़ीनत की ओर संकेत करते हुए कहा, "वाह, तो अभी से अभिनय शुरू हो गया?"

ज़ीनत की आँखें ऊपर न उठीं। सुनील जैसे सब-कुछ समझकर भी कुछ न समझ रहा हो। दीपाली ने मुसकराकर कहा, "गुड़िया को लाज आने लगी!"

"भई कैसी गुड़िया?" सुनील ने सँभलकर कहा।

दीपाली के हाथ में बागडोर थी। उसे इसका गर्व था। सुनील का कलाकार-रूप तो उसे आज भी उतना ही प्रिय था। उसी ने उसे सर्व-प्रथम पहचाना था। पर वह मजबूर थी। वह अपना सिद्धान्त नहीं छोड़ सकती थी। विवाह के बन्धन में बँधना उसे स्वीकार न था। पर सुनील भी, अवश्य इसी मार्ग पर चले, यह भी तो कोई दलील न थी। 'गुड़िया और लोरी' के अभिनय में गुड़िया अपने सुनील के अधिक समीप चली गई थी, यह उसने देख लिया था। इस पर आपत्ति करने का भी तो उसे कोई अधिकार न था। गुड़िया स्वयं समझदार थी। अपने भले-बुरे को खूब समझती थी। वह कोई रबड़ की गुड़िया तो न थी। वह तो हाड़-माँस की गुड़िया थी। गुड़िया का अपना दृष्टिकोण था। गुड़िया के सामने उसका अपना भविष्य था। उसने अपने मन की बात साफ़-साफ़ कह दी थी। अपनी बात पर वह डटकर खड़ी हो सकती थी। धर्म और जाति का कोई

बन्धन उसे स्वीकार न था। अपने साथी को उसने स्वयं चुन लिया था और अब अपने साथी की स्वीकृति लेने आई थी।···खैर, यह तो अच्छा हुआ, यह सोचते ही दीपाली ने मुसकराकर सुनील की ओर देखा, जैसे पूछना चाहती हो—तो आप मुझे बना रहे हैं?

ज़ीनत ने बात का रुख बदलते हुए धीमे से कहा, "हमारे अब्बाजान तो आप को रोज याद करते हैं, सुनील साहब!"

"अजी हम तो तब मानें, जब हमें अम्मी जान भी याद करें," सुनील मुसकराया।

"ज़ीनत, अब खुलकर क्यों नहीं कह देती?" दीपाली ने चुटकी ली।

"भई, यह क्या पहेलियों में बात शुरू हो गई?"

ज़ीनत ख़ामोश रही। उसकी आँखें ऊपर न उठीं। कोई और समय होता तो वह उचककर खड़ी हो जाती, और फ़रमाइशी क़हक़हा लगाकर कहती—देखिए, हमारी बात समझ में नहीं आ रही तो गुस्ताख़ी माफ़, हम चलते हैं। लेकिन अब तो कड़वा घूँट पीने वाली बात थी। न पिये बने, न छोड़े बने।

दीपाली ने तीखी चितवन से घूरकर कहा, "अरे कब तक यों मुँह बनाये बैठी रहोगी?"

ज़ीनत की आँखें तो जैसे फ़र्श में गड़ी जा रही थीं। बायें पैर के अँगूठे की ओर देखती रही। होंठों पर आई हुई बात को जैसे वह किसी अच्छे-से वाक्य में ढालना चाहती हो, जिस में ज़रा-सी भी तो तड़क-भड़क न हो, ज़रा-सा भी घमण्ड न हो। जिसकी सचाई फूल की सुरभि की तरह उठे और झट अपना प्रभाव दिखाये। शायद इसीलिए उसने आज सफेद बोस्की की शलवार-कमीज़ पर नैनून का सफेद दुपट्टा पहन रखा था।

दीपाली ने हँसकर कहा, "हमारी गुड़िया सफेद है। मैं जानती हूँ कि हमारे गुड्डे को भी सफ़ेद बाना ही भाता है।"

सुनील को किसी ने बाहर से आवाज़ दी। वह उठकर बाहर चला गया।

जीनत की जैसे जान-में-जान आ गई और उसने आँख उठाकर दीपाली को घूरते हुए कहा, "वाह, यह भी खूब फ़लसफ़ा है ! जिस रास्ते खुद कभी न चलोगी, उस पर हमें चलते देखकर कोस रही हो !"

दीपाली ने जीनत की ओर यों देखा जैसे वह अपना अपराध स्वीकार कर रही हो।

सुनील ने वापिस आते ही हँसकर कहा, "तो क्या प्रोग्राम है ? आज सवेरे-सवेरे मुझे जगाने का कैसे कष्ट किया। भई, आज इतवार है। आप न आतीं तो मैं तो अब तक सो रहा होता।"

"हाँ, तो वह दावत वाली बात तो बीच में ही छूट गई।" दीपाली ने सँभलकर कहा, "देखिए मैं पहले भी कह चुकी हूँ, 'गुड़िया और लोरी' के एफ़० ए० में लगने की दावत तो हमें मिलेगी ही, लेकिन भई अगली दावत के लिए भी तैयार रहना !"

जीनत ख़ामोश थी। उसकी आँखें फिर किसी तलाश में खो गईं। दीपाली मुस्कराई। उसका ख़्याल था कि सामने से सुनील भी मुसकरायेगा। पर उसने देखा कि सुनील की आँखें भी ज़मीन की ओर गड़ गईं, जैसे किसी एक बिन्दु पर दोनों की आँखें जा टिकी हों।

दीपाली ने अवसर पाकर कहा, "सुनील जी, ज़िम्मेदारी सँभालिए। गुड़िया तो तैयार है !"

सुनील ने मुसकराकर जीनत की तरफ देखा, जैसे वह आँखों-ही-आँखों में कह रहा हो—गुड़िया तैयार है तो गुड्डे को कब इन्कार है ?



३६

सब खुश थे। देखने को तो जावेद भी खुश था, बल्कि वह तो सुनील से बढ़-बढ़कर बातें कर रहा था। लेकिन जावेद भीतर से बुझ चुका था। उसका बस चलता तो कभी बाजी सुनील के हाथ न जाने देता। सुनील जैसे बाजी जीत कर भी उदास-सा था। कन्धों पर नया बोझ आ पड़ा। सुन्दरता की कमी नहीं, स्नेह भी भरपूर है, कलाकार के प्रति आकर्षण में भी कमी नहीं, फिर भी बोझ तो है। खैर निभाना पड़ेगा। जैसे गुज़रेगी गुज़ारेंगे। सोचा कुछ और था, हुआ कुछ और। चलिए ठीक है। जीवन का अभिनय कितना विचित्र है। हीरोइन बदल गई। चलिए ठीक है। यह खाली अभिनय भी नहीं, इसमें सचाई भी है। डोर सूत्रधार के हाथ में है। कथा आगे बढ़ रही है। फिर भी इस नये बोझ को उठाने का अभ्यास तो नहीं है। यह बोझ भी वरदान सिद्ध हो सकता है। खैर देखेंगे। एक साथ चलेंगे। यही तो अभिनय का तकाज़ा है। दो पहिये साथ-साथ चलेंगे। दुनिया देखेगी। ज़ीनत ने वाक़ई साहस से काम लिया। सिविल मैरेज की बात मैंने तो सोची भी न थी। अब तो यह तीन दिन पुरानी बात हो गई। सब ठीक है। कहानी करवट लेती है। जिन्दगी आगे बढ़ती है। आज दावत खाने आये हैं, देखें अम्मी जान क्या-क्या खिलाती हैं···जावेद से बातें करते-करते सुनील का मन न जाने कहाँ-कहाँ दौड़ रहा था।

"मुबारक हो, सुनील जी !"

"मुबारक, दीपाली !"

पीछे से जीनत ने ड्राइंग-रूम में आकर कहा, "क्या-क्या बातें हो रही हैं ?"

दीपाली कुछ कह भी न सकी थी कि अम्मी जान ने प्रवेश किया। बोलीं, "अरे दीपाली बेटा ! बेटी देकर ही बेटा लिया जाता है। सुनील-जैसा बेटा पाकर मैं तो आज फूली नहीं समाती।"

अम्मी जान की बात जावेद के कान पर तीर की तरह लगी। वह कुछ क्षणों के लिए भीतर-ही-भीतर सटपटाया। फिर वह सँभलकर बोला, "अम्मी जान, आप ने लाख रुपये की बात कह दी।"

सुनील अब भी कुछ न बोला। वह तो सोच रहा था कि दीपाली पर इसकी क्या प्रतिक्रिया हो रही होगी, जावेद भी मुझे अपराधी समझ रहा होगा···इतने में अम्मी जान ने उसका ध्यान आकर्षित करते हुए कहा, "बेटा सुनील, जीनत के अब्बा जान भी आते ही होंगे। तुम्हें भूख लगी हो तो खाना अभी लगवा दें ?"

"नहीं अम्मी जान, ऐसी भी क्या जल्दी है !" सुनील ने सँभलकर कहा।

"आज तो कुछ-कुछ मुग़लई ठाठ रहेगा !" दीपाली ने बात का रुख़ बदलकर कहा।

"एकदम शाही ठाठ !" जावेद ने दीपाली की ओर आँखें घुमाकर कहा।

सुनील बोला, "अजी, मैं तो कह रहा था कि स्टैण्डर्ड चलते। लेकिन अम्मी जान ने यही कहा कि बेटा, शादी की दावत तो घर में ही दी जाती है। उन्होंने यह भी कहा कि बेटा, यह दिन बार-बार तो नहीं आता। और सुनिये, आज तो अम्मी जान ने तन्दूरी मुर्ग़ा बनवाया है।"

जीनत पहले तो छुई-मुई-सी हो गई। फिर जब दीपाली ने उसे गुदगुदाया तो बोली, "खानों की खुशबुओं की जितनी तमीज़ जावेद को है, उतनी और किसी को नहीं।"

"अरे भई हम तो गुलाम हैं," जावेद मुसकराया।

"हीरो का पार्ट कर चुके हैं।" दीपाली ने उसे कुरेदना चाहा।

"हीरो को भी तो कोई दूसरा रोल करना पड़ जाता है।" जावेद ने जैसे आते हुए वार को सँभालते हुए कहा।

सुनील ख़ामोश था। अम्मी जान खाने की सुध लेने के लिए भीतर चली गईं।

जीनत और दीपाली बातों में उलझ गईं। प्रसंग था सुनील का अगला ड्रामा जिसका अभी बीजारोपण भी न हुआ था। पास से जावेद ने बात काटकर कहा, "अजी, इस दावत का ड्रामा तो हो जाने दीजिए।"

जीनत ने जावेद की बात का उत्तर देना आवश्यक न समझा। वह तो जावेद को पूरी तरह समझ चुकी थी। उसकी दृष्टि में जावेद सुनील के सामने बच्चा था—कहाँ एक कलाकार जो घाट-घाट का पानी पी चुका था और कहाँ एक मामूली प्रोफ़ेसर।

दीपाली ने हँसकर कहा, "जावेद की बात तो ठीक है। मैं सोचती हूँ कि सुनील के अगले ड्रामा में जावेद ही हीरो होगा।"

"अजी, हमारे हीरो बनने-न-बनने से क्या फ़र्क़ पड़ सकता है? सवाल तो यह है कि सुनील साहब के अगले ड्रामा की हीरोइन कौन होगी? जीनत को तो अब ख़ैर हीरोइन बनने की जरूरत ही नहीं। यह तकलीफ़ तो तुम्हें ही करनी पड़ेगी, दीपाली!"

सुनील के जी में तो आया कि चुप बैठा रहे। पर ऐसे अवसर पर इतनी ख़ामोशी भी तो ठीक न थी। उसने उचककर कहा, "अजी अभी तो अगला ड्रामा सोचा भी नहीं गया। बाकी रही कास्ट चुनने की बात, तो साहब, इसके बारे में यही अर्ज़ कर सकता हूँ कि कास्ट का चुनाव तो ड्रामा को देखकर ही किया जाता है।"

इतने में अम्मी जान ने ड्राइंग-रूम में आकर कहा, "खाना तो बिल्कुल तैयार है। अब बस जीनत के अब्बा जान के आने ही की देर है।"

सब की आँखें चमक उठीं। अम्मी जान जैसे अपने साथ दावत के पकवानों की खुशबुएँ भी लेती आई हों। बोलीं, "मुर्ग़े-मुसल्लम अलग,

कबूतर का शोरबा अलग। कोफ़्ते, कीमा, पुलाव—सब चीज आपके सामने आयेगी। आज का दिन बार-बार नहीं आ सकता।"

जीनत घबरा रही थी। आखिर वही हुआ जिसका उसे डर था। अम्मी जान की यह आदत उसे नापसन्द थी। बताने की क्या जरूरत थी, जब हर चीज ने सामने आ ही जाना था।

सुनील सोच रहा था कि अब्बा जान कहाँ रह गये। उसका विश्वास था कि अब्बा जान ने इस शादी के लिए सच्चे दिल से साथ दिया था। सिविल मैरेज के रजिस्टर पर हस्ताक्षर करते समय उसने अब्बा जान को अपने सामने खड़े देखा था। जीनत का हाथ हस्ताक्षर करते ससय कुछ काँपता-सा नज़र आ रहा था और अब्बा जान ने उसे दिलासा देते हुए कहा था—'जीनू बेटा, घबराओ नहीं!' हम इकट्ठे अब्बा जान की कार में अदालत से लौटे थे। अब्बा जान ने खुशी-खुशी हमें हमारे मकान पर उतारा था और कहा था—तुम लोगों को कोई तकलीफ़ नहीं हो सकती हमारे रहते।

जीनत ने दीपाली के समीप सरकते हुए कहा, "आज तो मुझे तुम्हारी सिफ़ारिश की जरूरत पड़ गई, दीपाली! जरा अम्मी जान से कहो कि अब्बा जान से कहकर माल रोड वाला फ्लैट हमारे लिए खाली करा दें। वह फ्लैट तुम्हें भी तो बहुत पसन्द है। एक बात और। उस फ्लैट को हम नये सिरे से फर्निश करायेंगे। दीवारों पर नया डिस्टैम्पर, दरवाजों पर नया रंग! खूब ठाट जमेगा। और देखो, पर्दों के लिए कलर स्कीम अभी से सोच लो। एक बार पारुल भी देखे तो दंग रह जाय। और हाँ, आज तो पारुल को भी यहाँ होना चाहिए था।"

"पारुल को तो ड्रामा के इस क्लाइमेक्स की खबर तक न होगी। उसे तो अमृतसर गये दस दिन होने को आये।" और फिर दीपाली ने अम्मी जान के समीप सरककर कहा, "अब्बा जान अब तक नहीं आये!"

"बस आते ही होंगे।" अम्मी जान ने जैसी अपनी घबराहट को छिपाते हुए कहा, "अपने सिर पर सौ-सौ काम लिये रहते हैं और ताज्जुब

तो यह है कि कभी-कभी घर के काम को काम ही नहीं समझते ! बाकी रही माल रोड वाले फ्लैट की बात। उसके लिए भी क्या कोई कहने की बात है ? वह तो ज़ीनत का ही है !"

सुनील ने फ़ाख़्तई रंग की अचकन पहन रखी थी और सफ़ेद चूड़ीदार पायजामा। सिर पर घुँघराले बाल! अम्मी जान को तो सब से ज़्यादा सुनील का कद और डील-डौल ही पसन्द था। वह ठिगना और दुबला होता तो शायद अम्मी जान कभी शादी के लिए हाँ न कहतीं। एक बात का तो ख़ैर अम्मी जान को अवश्य सदमा था, जिस पर वह हँसी का परदा-सा डाल रही थीं। उन्होंने तो हमेशा यही सोचा था कि जावेद से ही ज़ीनत का निकाह पढ़ाया जायगा। सिविल मैरेज पर तो उनका कोई एतक़ाद न था। अब्बा जान के ज़ोर देने पर हाँ करनी पड़ी। जैसी उनकी बेटी, वैसी मेरी बेटी। अब जावेद पर क्या गुज़र रही होगी। ख़ैर जावेद बहादुर है, किस तरह हँस-हँसकर सुनील से बातें कर रहा है····

इतने में अब्बा जान आ गये। उन्हें देखते ही सब उठकर खड़े हो गये।

"माफ़ी चाहता हूँ। आप लोगों को मेरी ख़ातिर बड़ी परेशानी हुई होगी।"

"ख़ैर आप आ तो गये," दीपाली ने कहा, "आपके बिना तो यह दावत शुरू भी नहीं हो सकती थी।"

खाना लगा दिया गया था। सभी मेहमान दावत पर बैठ चुके थे। अब्बा जान ने न जाने क्या सोचकर कहा, "हमारी ज़ीनत इतनी बड़ी हो गई, लेकिन उसकी तबियत का बचपना नहीं गया। दीपाली की और बात है !"

"अब आपको तो दीपाली पर ही नाज़ है, अब्बा जान !" ज़ीनत ने सँभलकर कहा, "मैं तो बल्कि खुद भी दीपाली की क़ायल हूँ।"

जावेद ने जैसे अपनी हारी हुई बाज़ी का बदला लेने के अन्दाज़ में कहा, "दीपाली का तो मैं भी क़ायल हूँ।"

अम्मी जान भी ख़ामोश न रह सकीं। बोलीं, "अब देखिए, शायद ड्रामा एक और करवट ले। जावेद अच्छा लड़का है।"

दीपाली ठिठककर बैठी रही। उसके सामने जैसे उसके जीवन का सिद्धान्त तनकर खड़ा हो गया। सुनील हो चाहे कोई और, वह तो किसी के भी हाथ बिकने से रही।

अब्बा जान बोले, "ज़रा खाने पर भी हाथ चलाइए, बातें तो होती ही रहेंगी।"

सभी को खूब भूख लगी थी। अलग-अलग पकवानों की खुशबुएँ गले मिल रही थीं। अब्बा जान बोले, "मेरा तो ख्याल था कि सुनील भी दीपाली की तरह गोश्त से परहेज़ करता होगा। बात दूसरी ही निकली।"

जीनत ने जैसे दीपाली का पक्ष लेते हुए कहा, "अब्बा जान, खाने के मामले में तो सब को आज़ादी है। आप हैरान होंगे कि दीपाली तो अण्डा तक नहीं खाती!"

"दीपाली के लिए सब्जियाँ मौजूद हैं," अम्मी जान ने झट गम्भीर होकर कहा, "अब दावत में तो किसी को भी घाटे में नहीं रखा जा सकता।"

दावत मज़े की थी। जावेद ने जैसे प्रणय का अभिनय करते हुए कहा, "अब्बा जान, हमारी जीनत को तो अभी बहुत-कुछ सीखना है, और मैं समझता हूँ कि वह सीख भी लेगी; क्योंकि जिन्दगी भी तो बहुत-कुछ सिखाती है। लेकिन जहाँ तक दीपाली की बात है, मैं कह सकता हूँ कि उसने इस उमर में ही वह चीज़ हासिल कर ली जिसे हमारे बड़े-बड़े प्रोफेसर भी अभी तक हासिल नहीं कर सके। जो थीसिस दीपाली लिख रही है उसके कुछ हिस्से मैंने देखे हैं। दीपाली की क्या बात है! पी-एच० डी० तो उसके लिए कहीं नहीं गई।"

दीपाली कुछ न बोली, तनकर बैठी रही, जैसे वह जावेद की रग पहचानती हो। ये लोग सीधे रास्ते से तो कभी आयेंगे ही नहीं। बस वही 'बैक डोर' पॉलिसी ही इन्हें पसन्द है। लेकिन मैं भी सब समझती हूँ। मेरा भविष्य तो मेरा है।...और फिर उसने सँभलकर कहा, "खैर, आपकी जीनत खुशकिस्मत है, अब्बा जान! वैसे सुनील भी खुशकिस्मत रहा। उसकी कला धर्म-काँटे पर पूरी उतरी।"



३७

"आराम भी तो कई तरह के होते हैं जीनत! एक वह आराम जो अपने साथ आराम लाते हैं, एक वह जो देखने को तो आराम होते हैं, लेकिन दरअसल बवाले-जान बन जाते हैं।" सुनील ज़ोर देकर कहता, "हमारा यही मकान अच्छा है, जीनत!"

"वह माल रोड वाला फ़्लैट देखोगे तो तुम्हारी तबियत फड़क उठेगी। अम्मी जान कह रही थीं कि अब्बा जान उस फ़्लैट को हमारे लिए खाली करा सकते हैं।" जीनत भी अपनी बात न छोड़ती।

"लेकिन मुझे तो अपना यही मकान पसन्द है। इसे ही सजा लो न, जीनत! जैसे भी चाहो। यह बहुत बुरा तो नहीं।"

"मैं सोचती थी कि वहाँ ज़्यादा आराम रहता।"

यह बहस कई बार शुरू होती, कई बार बीच में ही खतम हो जाती। जीनत की समझ में यह बात नहीं आ रही थी कि सुनील को माल रोड वाले फ़्लैट में जाना क्यों पसन्द नहीं। एक दिन तो सुनील ने साफ़-साफ़ कह दिया, "मुझे काम की तलाश है, और मैं इसके लिए बुरी तरह परेशान रहता हूँ। अब ऊपर से मुझे इस दोहरी परेशानी में तो मत डालो। अपनी नाव तो हमें खुद ही खेनी होगी। अब्बा जान हम पर किसी भी तरह नाराज़ नहीं, यह तो अच्छी बात है। अम्मी जान ने तुम्हें जी भरकर दहेज़ दिया, इस में भी मैं कुछ नहीं बोला, क्योंकि यह तो तुम्हारे और

उनके बीच का मामला था। लेकिन अब यह माल रोड के फ़्लैट वाली बात तो बड़ी ज़्यादती है। यह मेरे आत्म-सम्मान का सवाल है। मैं वहाँ जाकर अब्बा जान का अहसान नहीं लेना चाहता।"

जीनत ने बहुत समझाया कि इस में अहसान का तो ज़रा भी सवाल नहीं, यह काम तो अब्बा जान के बाएँ हाथ का खेल है। लेकिन सुनील इन्कार में सिर हिलाता रहा।

कई बार जीनत कहती कि सुनील को काम की ऐसी क्या चिन्ता है, उनके यहाँ अब किस चीज़ की कमी है, 'गुड़िया और लोरी' की बिक्री से कुछ पैसे आ ही जाते हैं। फिर अम्मी जान का दिया हुआ दहेज ही इतना है कि उनको तीन साल की रोटियाँ तो मजे से चल सकती हैं। लेकिन सुनील खिलखिलाकर हँस पड़ता, जैसे उसे दहेज पर आँख लगाने की बात बहुत फ़िज़ूल मालूम हो रही हो।

नये पर्दे लाने के लिए तो जीनत कई दिन से बुरी तरह जिद कर रही थी। नया फर्नीचर भी ज़रूर आना चाहिए, उसका यह तकाज़ा भी जोर पकड़ता गया। अब माल रोड वाले फ़्लैट में जाने की बात एकदम रद्द हो चुकी थी। पति-पत्नी में इस मामले पर समझौता हो गया था। बल्कि जीनत तो अब पुरानी अनारकली वाले इस मकान की तारीफ़ करते थकती न थी। पड़ोस की तारीफ़ अलग, गली की सफ़ाई की तारीफ़ अलग, जैसे उसकी शिकायतें भी तारीफ़ में बदल गई हों।

आखिर एक दिन सुनील ने यह तय किया कि शाम को चलकर नये पर्दे और नये फरनीचर की ख़रीद की जाय, और शीशे वाला एक बुक-शैल्फ़ भी अवश्य लाया जाय।

"अच्छा तो तुम सज-सँवर लो शापिंग के लिए!" सुनील ने जीनत की हाँ-में-हाँ मिलाने के अन्दाज़ में कहा, "हम तो हुक्म के गुलाम हैं!"

"मैं ही कौनसी पान की बेगम हूँ!" जीनत ने हँसकर कहा, "मैं भी तो हुक्म की बेगम हूँ!"

"अच्छा तो अब वक्त जाया न करो। मेक-अप का ख्याल न हो तो हो

जायँ दो-चार लतीफे !"

"अजी बाहर निकलने के लिए मुँह-सिर तो थोड़ा सँवारना ही होता है !"

"ज़रूर-ज़रूर ! नहीं तो लोग कहेंगे कि यह कैसी नई दुलहन है !"

"आप तो हमेशा मज़ाक ही करते रहेंगे ।"

"अच्छा भई बन जाओ, फैशन की गुड़िया !"

जीनत मुस्कराई और कपड़े बदलने के लिए दूसरे कमरे में चली गई ।

सुनील बैठा विचारधारा में बह गया । उसने कुछ दिन पहले एक पत्र के सम्पादकीय विभाग में प्रार्थना-पत्र भिजवाया था । उसका कुछ पता नहीं लग सका था । जीनत को तो उसने बतलाया भी नहीं था कि वह सम्पादक बनने की फ़िक्र में है । वैसे तो जीनत खुश होगी कि सुनील प्रूफ़रीडर से सम्पादक बन गया । लेकिन अभी तो यह हवाई किला है । पुस्तकों की एक दूकान पर भी काम मिलने की आशा है । एक लाइब्रेरी में भी एक जगह खाली हुई थी । वहाँ भी वह प्रार्थना-पत्र दे आया था । इधर शादी के चक्कर में उसने कहीं की भी तो सुधि नहीं ली । शायद दोबारा नारंग प्रेस में जाकर नारंग साहब की ही मिन्नत करनी पड़े । शायद मेरी नई स्थिति देखकर, मेरी नई जिम्मेदारी का ख्याल करते हुए नारंग साहब मान जायँ । लेकिन पहली तनख्वाह पर तो मैं काम करने से रहा । शायद वे पाँच-दस रुपये बढ़ा दें । चलिए कुछ तो करें ।....उसे कई बार दीपाली का ख्याल आने लगता, जो उसे गाँव से उठाकर लाई थी । वाकई यह दीपाली की दरिया-दिली है कि उसने जीनत से शादी करने के मेरे ख्याल को बढ़ावा दिया, बल्कि इसके लिए उसी ने सब से ज़्यादा कोशिश की ।...जिन्दगी तो वाकई एक बोझ है । मैं तो अपना बोझ ही मुश्किल से ढो रहा था । फिर मैंने जीनत का बोझ अपने ऊपर क्यों डाल लिया ? मेरे ऊपर तो मेरी कला की जिम्मेवारी ही दोहरा बोझ थी । फिर यह तीसरा बोझ मैं कैसे उठाऊँगा ?...

इतने में डाकिये ने दस्तक दी । उसने दरवाज़ा खोला । डाकिये ने उसके हाथ में एक चिट्ठी थमाई । उसने दरवाजे में खड़े-खड़े चिट्ठी खोलकर पढ़ी ।

उसके जी में तो आया कि उसी समय जीनत के पास जाकर शोर मचाये और कहे कि उसका सुनील सम्पादक बन गया। लेकिन वह चुपके से आकर अपनी कुरसी पर बैठ गया।

जीनत मेक-अप करके निकली तो सुनील ने उसे अपने सहकारी सम्पादक होने की खबर सुनाते हुए कहा, "देखो, जीनत! आज मैं खुश हूँ। आज तो तुम चाहो तो रेशमी पर्दे भी खरीद सकती हो।"

"लेकिन यह क्या? तुमने तो अभी तक कपड़े भी नहीं बदले।"

"ये कपड़े कौनसे बुरे हैं? मैं इसी तरह ठीक हूँ। मैं तैयार हूँ।"

"अजी नहीं, जनाब! लोग क्या कहेंगे? अनारकली में पर्दे खरीदते हुए किसी भी सहेली से मेरी मुलाकात हो सकती है और आपका कोई दोस्त भी मिल सकता है। अजी दुनिया की आँखों में हमें अपना स्टैण्डर्ड कुछ तो रखना ही होगा। हाँ तो उठकर कपड़े बदलिये।"



३८

दोनों सहेलियों में पंजाब यूनिवर्सिटी लाइब्रेरी के सामने बातें हो रही थीं। सुबह के साढ़े दस बजे होंगे। दीपाली नई बस्ती से अभी पहुँची थी, और पारुल पहले से वहाँ खड़ी उसकी राह देख रही थी। अब वे मिलीं तो छूटते ही बातें शुरू हो गईं, जैसे प्याज़ के छिलके उतरते चले गये।

दीपाली को विश्वास नहीं आ रहा था। पारुल हँसकर बोली, "झूठ बोलूँ तो जो चोर की सज़ा वह मेरी!" और दोनों सहेलियाँ वहाँ से हट-कर गोल बाग में एक बेंच पर आ बैठीं। दीपाली खामोश न रह सकी, जैसे अभिनय का यही तकाज़ा हो।

"अमृतसर ने तुम्हें बाँध कर रख लिया था, पारुल?"

"नहीं, यह बात तो नहीं, दीपाली!"

"वहाँ से कब लौटी?"

"तीन दिन हो रहे हैं। वैसे बीच में भी आई थी एक दिन, सिर्फ़ दो घण्टे के लिए!"

"ज़ीनत और सुनील की शादी की दावत पर तो तुम्हें यहाँ होना चाहिए था। खैर, दावत तो तुम उन से अब भी खा सकती हो।"

"वह दावत तो पुरानी हो गई। अब तो नई दावत का सवाल है।"

"नई दावत कैसी?"

"जो मैं देने आई हूँ।"

"आज तो तुम पहेलियों में बात कर रही हो।"

"तो पहेली का उत्तर भी बताये देती हूँ। तुम्हारी पारुल मिसिज़ जावेद बन गई।"

"कब से?"

"कल से।"

"अच्छा!"

"ज़ीनत मिसिज़ सुनील बन गई, तो यह भी हो सकता था।"

"विवाह भी कितनी बड़ी मुसीबत है, पारुल!"

"तुम विवाह को मुसीबत समझती हो तो मैं कहूँगी कि यह मुसीबत बोलकर नहीं आती।" पारुल मुस्कराई, "तुम पर भी आयेगी यह मुसीबत एक दिन!"

"तो तुमने मुझे समझा ही नहीं आज तक, पारुल!" दीपाली ने सफ़ाई पेश की, हालाँकि सफाई पेश करने की ज़िम्मेदारी तो पारुल पर थी।

"शायद दुनिया का यही दस्तूर है।" पारुल ने अपनी कहानी शुरू कर दी, "वैसे तो जावेद मुझे शुरू से ही पसन्द था। पर वह तो ज़ीनत का होने वाला शौहर था इसलिए मैं खामोश थी। लेकिन जब जावेद ने उस दिन अमृतसर आकर मुझे ज़ीनत और सुनील की शादी का किस्सा सुनाया, तो मैं सच कहती हूँ मुझे पहले तो यकीन ही न आया। हम दोनों लाहौर पहुँचे। जावेद ने अदालत में जाकर तसदीक करा दी। मुझे फिर भी यकीन नहीं आ रहा था। जावेद बोला—'चलो, पारुल! आज चिड़ियाघर देखने चलें!' मैं मान गई। मैंने सोचा, चिड़ियाघर में ऐसी क्या बात होगी, चिड़ियाघर को तो मैं बीसियों बार देख चुकी हूँ। फिर भी मैंने सोचा कि जावेद उदास है, बेचारे का दिल टूट चुका है। शायद मेरे साथ चिड़ियाघर में थोड़ा घूमने से बेचारे की ज़रा तसल्ली हो जाय।"

"तो गोया तुम्हें जावेद पर दया आ गई थी?"

"बिल्कुल यही बात थी। हाँ तो सुनो। हम इकट्ठे चिड़ियाघर पहुँचे।

हमने वही चीजें देखीं जिन्हें हम कई बार देख चुके थे। कुछ भी तो नया नहीं था। लेकिन जावेद उदास था। कदम-कदम पर उसकी आँखों में आँसू आना चाहते थे।"

"फिर क्या हुआ?"

"एक जगह हमने ऊदबिलाव देखी।"

"ऊदबिलाव!" दीपाली खिलखिलाकर हँस पड़ी, "यह नाम कितना विचित्र है! यह नाम सुनकर मैं कभी हँसी नहीं रोक सकती।"

"खैर, सुनो तो! मिस्टर ऊदबिलाव भी था और मिसिज़ ऊदबिलाव भी। हम ने पास-पास खड़े होकर दोनों को देखा। लेकिन जावेद अब भी उदास था।

"फिर क्या हुआ?"

"मैंने आगे जाने से इन्कार कर दिया। मैंने कहा—'देखो, जावेद! इस तरह तो ज़रा भी मज़ा नहीं आने का।' वह सँभल कर बोला—'आज तो चिड़ियाघर का चप्पा-चप्पा देखेंगे।' वही हुआ भी। हमने एक भी जगह न छोड़ी। एक जगह मिस्टर बन्दर और मिसिज़ बन्दर को एक-दूसरे के साथ आखें मटकाते देखकर हमें हँसी आ गई। जावेद बोला—'डार्विन साहब भी क्या खूब फरमा गये हैं कि इन्सान दर-असल बन्दर की औलाद है। इसमें भी क्या तुक है?' मैं ज़रा बिदकी। जावेद ने मेरा कन्धा थामकर कहा—'मैं तो यों ही मज़ाक कर रहा था। मैं जानता हूँ कि तुम तो दीपाली के उसूल पर चलने की कसम खा चुकी हो।' उस वक्त अचानक मेरे मुँह से निकल गया—'नहीं तो, जावेद!' बस फिर क्या था? उसने झट आँखों में आँखें डालकर मेरी तरफ़ देखा। उन आँखों में भीख माँगने की इल्तजा थी, उनमें एक हसरत थी, एक प्रार्थना, एक तड़प! मैंने ऐसी आँखें पहले कभी न देखी थीं।"

"अब आगे भी चलोगी या नहीं? तुम्हारी कहानी वहीं तो खत्म नहीं हो गई थी।"

"बस फिर क्या था? हम लौट आये। रास्ते में जावेद ने मुझ से

पूछा—'हमारी जीनत हमें अब कहाँ मिल सकेगी ?' मेरे मुँह से निकल गया—'मैं जो हूँ !' बात यह थी कि मैंने फैसला कर लिया था। मैंने जावेद को हमेशा एक अच्छा लड़का समझा था, और अब तो वह प्रोफेसर था। जीनत को गँवाकर बेचारा बड़े घाटे में था। मैंने सोचा कि तराज़ू के पलड़े बराबर हो जायँ तो क्या बुरा है ?"

"याने तुमने सोचा कि जीनत सुनील को मिल गई तो पारुल जावेद को मिल जाय !"

"तो यही समझ लो ! उसी दिन हम मिलकर अदालत में पहुँचे। हमने सिविल मैरिज के लिए प्रार्थना-पत्र दे दिया। जावेद मुझे अमृतसर छोड़ आया। कल सुबह मैं अपने वायदे के मुताबिक अदालत में पहुँची, तो मेरे पिता जी और चाचा जी भी वहाँ मौजूद थे। उन्होंने तो मुझे अमृतसर पहुँचकर भी बहुत समझाने की कोशिश की थी और वे लाहौर की अदालत में भी मुझे समझाते रहे। लेकिन एक बालिग़ लड़की को कोई उसके रास्ते से कहाँ तक रोक सकता है ? मैट्रिक का सर्टिफिकेट मेरी जेब में था जिस पर मेरी उम्र की तसदीक मौजूद थी। जावेद ने पिता जी से और चाचा जी से साफ़ कह दिया था कि वे चाहें तो पारुल को समझाकर घर ले जायँ। लेकिन मैं तो अपनी जिद पर अड़ गई थी !"

"तो इन हालात में तुम्हारी शादी हुई ?"

पारुल अब कुछ न बोली। सामने के पेड़ से एक कोयल की आवाज़ आई—कूऽ कूऽऽ ! जैसे कोयल पारुल की तरफ़ से उत्तर दे रही हो—कूऽ कूऽऽ ! हाँ हाँ ! कूऽ कूऽऽ ! कूऽ कूऽऽ !···



३९

दस्तक हुई तो जीनत ने उठकर दरवाज़ा खोला और बाहर झाँककर देखा। दीपाली और पारुल को एक साथ देखकर उसकी आँखें चमक उठीं, उसके होंठों पर रेशमी मुसकान खिल उठी। दोनों सहेलियों को ड्राइंग-रूम में ले जाकर बैठाया और दीपाली की आँखों में आँखें डालकर बोली, "आज इधर का रास्ता कैसे भूल गईं, दीपाली ?"

"यह सवाल तो पारुल से पूछना चाहिए।"

"पारुल के साथ तो मैं बोलूँगी भी नहीं। इस पर तो मुझे बहुत ग़ुस्सा आ रहा है। पहले अमृतसर जाकर बैठ गई, अब आकर इतना भी तो न हुआ कि मुझे मुबारकबाद ही देने आ जाती।"

"तुम्हें भी तो इसे मुबारकबाद देनी होगी, जीनत !"

"किस बात की मुबारक ?" जीनत की आँखों में आश्चर्य था। पारुल भी मुँह फेरकर बैठी रही।

"पारुल को तुम वही पहली पारुल समझ रही हो। अरे भई पारुल तो मिसिज़ जावेद बन गई !"

"कब से ?" जीनत की आँखें खुली-की-खुली रह गईं।

पारुल टस-से-मस न हुई।

"इस ने हिसाब बराबर कर दिया।" दीपाली ने हँसकर कहा, "सुनील को जीनत मिल गई तो जावेद को पारुल मिल गई।"

"वही सिविल मैरिज हुई होगी ! कब खेला गया यह ड्रामा ?" ज़ीनत ने पारुल के क़रीब सरककर कहा, "तो क्या तुमने मेरे साथ न बोलने की कसम खा रखी है, पारुल ?"

पारुल का चेहरा इधर को न घूमा।

"आज चौथा रोज है पारुल की शादी हुए !" दीपाली ने हँसकर कहा, "मुझे भी तो परसों ही मालूम हुआ। मुझे तो बल्कि ताज्जुब हुआ यह सुनकर, क्योंकि मैंने तो कभी सपने में भी न सोचा था कि जावेद और पारुल का जोड़ा बनेगा, और जिस तरह से जावेद ने पारुल को ब्याह के लिए राजी किया, वह बड़ी दिलचस्प कहानी है।"

"मैं भी तो सुनूँ !"

"जावेद इसे चिड़ियाघर दिखाने ले गया।"

"ऊँह ! चिड़ियाघर में क्या रखा था ?"

"अरे भई सुनो तो। पहले जावेद ने पारुल को ऊदबिलाव का जोड़ा दिखाया, फिर—"

"भई खूब !" ज़ीनत ने क़हक़हा लगाया, "और फिर ?"

"फिर बन्दर-बन्दरिया का जोड़ा दिखाया।"

"और पारुल ने जावेद को अपना दूल्हा बनाना मन्ज़ूर कर लिया !"

पारुल को ज़ीनत का मज़ाक बिलकुल अच्छा न लगा। उसे तो दीपाली पर भी ग़ुस्सा आ रहा था। उसे यह पता होता कि ज़ीनत के सामने उसके विवाह पर यों टीका-टिप्पणी की जायगी तो वह कभी यहाँ न आती।

दीपाली ने गम्भीर होकर कहा, "हँसने को तो हरएक विवाह पर हँसा जा सकता है। इसीलिए मैं तो कभी फँसने की नहीं इस चक्कर में। लेकिन जहाँ तक जावेद और पारुल के जोड़े का सम्बन्ध है, ज़ीनत, मैं तो समझती हूँ कि यह जोड़ा बुरा नहीं।"

"मैं तो इसे अपने जोड़े से भी अच्छा कह सकती हूँ।" ज़ीनत ने हाथ बढ़ाकर पारुल का मुँह अपनी तरफ घुमाया और उसे पुचकारा, "तुम मुझ से क्यों नाराज़ हो, पारुल ? तुमने तो एक तरह से मेरा ही काम किया।

"वह कैसे ?" पारुल ने अजीब-सा मुँह बनाया।

दीपाली ने गम्भीर होकर कहा, "भई अब यह कैसे-वैसे का प्रश्न छोड़ो। हो गया सो हो गया। जो काम ऊदबिलाव और बन्दरिया करती हैं वही तो औरत भी करती है।"

"यह ग़लत बात है।" जीनत ने हँसकर कहा, "ऊदबिलाव और बन्दरिया कब सिविल मैरिज करती हैं ? वह किस रजिस्टर में दस्तख़त करती हैं ?"

"हम-तुम तो एक ही नाव पर सवार हैं, पारुल !" जीनत ने हँसकर कहा, "जोड़े अलग-अलग हैं, लेकिन ब्याह का बन्धन तो एक-जैसा है। शायद हम दीपाली की निगाह में गिर चुकी हैं। लेकिन नहीं, हम भी दीपाली को दिखा सकती हैं कि ब्याह इतनी बुरी चीज नहीं जितना वह समझती है। कम-से-कम यह तो जरूरी है कि इस नुकते पर ही हमारा समझौता रहे, पारुल !"

"मन्जूर है !" पारुल ने जैसे पहली बार नुकते को समझकर कहा, "दीपाली की चाल मैं अब समझी !"

"मेरी तो कोई चाल नहीं !" दीपाली ने सफाई दी।

पारुल ने जीनत की गर्दन में बाँह डालकर कहा, "यह तो सही है कि मैंने एक तरह से तुम्हारा ही काम किया, जीनत ! मुझे जावेद पर तरस न आ जाता, तो मैं कब उसके कब्जे में आने वाली थी !"

"तो यह तो तुम ख़ुद ही मान रही हो पारुल, कि तुम पर जावेद का कब्जा हो गया !" दीपाली ने जैसे विवाह के विरुद्ध फिर से प्रहार करते हुए कहा, "विवाह के बाद स्त्री के बहुत से अधिकार छिन जाते हैं।"

"लेकिन उसे बहुत से नये अधिकार मिलते भी तो हैं।" पारुल ने हँसकर कहा, "अब किसी को जावेद के पास कोई सिफ़ारिश करानी होगी तो वह मुझ से आकर कहेगा। जावेद की क्या मजाल कि मेरी बात को ठुकरा दे ?"

"वह जरूर ठुकरा सकता है, अगर उस बात में जान नहीं होगी।"

दीपाली ने फिर प्रहार किया।

"मान लो कि उस बात में जान हो," पारुल ने पैंतरा बदला।

"जान हो तो वह विवाह के बिना भी तुम्हारी बात मान सकता है।" दीपाली मुसकराई।

बातचीत का यह रुख जीनत को अच्छा न लगा। कोई और समय होता तो वह दीपाली को खरी-खरी सुनाती—आखिर तुम्हारा क्या मतलब है? कभी तुमने यह भी सोचा कि शादी के खिलाफ़ तुम्हारे यों जहर उगलने के बावजूद दुनिया में आये दिन शादियाँ होती रहती हैं।....फिर यह सोचकर कि उसके विवाह में तो उस ने विशेष रूप से कोई अड़चन पैदा नहीं की थी, बल्कि उसने तो सुनील को मेरी तरफ़ झुकाने में पूरी तरह हाथ बटाया था, उसके दिल में अहसानमन्दी की भावना सिर उठाने लगी। फिर भी दीपाली के कटाक्ष इतने तीखे थे कि वह उन्हें बरदाश्त करने की क्षमता न रखती थी।

पारुल ने कहा, "इतना तो स्पष्ट है कि मैंने ग़लती नहीं की!"

"खैर पारुल, यह बात तो तुम भी मानोगी कि जावेद के लिए अब तुम घर की मुरग़ी बन गईं!"

जीनत से न रहा गया, "यह तो बड़ी ज़्यादती है, दीपाली! तुम इस तरह बात को घुमा-फिराकर दलील का रुख हमेशा अपनी तरफ़ मोड़ने पर ही उधार खाये बैठी रहती हो। यह बात तो तुम्हें भी माननी पड़ेगी दीपाली, कि हर एक आदमी को अलग-अलग तजुर्बा करने का हक़ है। अपने ही तजुर्बे से इन्सान आगे बढ़ता है। रास्ता तय करने से ही मंज़िल क़रीब आती है!"

"यह दलील तो तुमने खूब सोच-सोचकर निकाली!" दीपाली मुसकराई, "मैं मानती हूँ कि मुझे अपना तजुर्बा आप लोगों पर लादने का कोई हक़ नहीं। आपका तजुर्बा आप लोगों को मुबारक। आप का रास्ता आपको मुबारक। एक दावत मैं जीनत से खा ही चुकी हूँ, और एक दावत आज पारुल से खाऊँगी!"

"अच्छा तो पारुल मुझे भी दावत पर बुलाने आई है !"

"जी हाँ !" पारुल ने आँखें फैलाकर जीनत को देखा, "अब यह तो बताओ कि सुनील राजा कहाँ हैं, जीनत रानी ?"

"वह तो अर्जुनसिंह के साथ साँदलबार चले गये।"

दीपाली ने कहा, "कब ? यह तो तुमने बहुत अजीब बात सुनाई। मेरा तो ख्याल था कि सम्पादक जी को अपने दफ्तर के काम से ही फुरसत नहीं होगी।"

"कल रात ही तो गये हैं," जीनत मुसकराई।

"उन्हें जंगल में क्या काम था ?" पारुल ने झट पूछ लिया।

"कह रहे थे कि वे साँदलबार के जाँगली लोगों पर एक ड्रामा लिखेंगे और उसकी थीम उन्हें वहीं मिल सकती है।"



४०

रावी और चनाब के बीच की शस्य-श्यामला भूमि साँदलबार के उस रेलवे स्टेशन पर सवेरे ही उनकी गाड़ी पहुँच गई। अर्जुनसिंह ने अपने आने की सूचना दे रखी थी और घोड़े वाले जाँगली हुक्म में बँधे उनका इन्तज़ार कर रहे थे।

जलपान के बाद अर्जुनसिंह ने सुनील को ममदे के घोड़े पर बिठा दिया और स्वयं नादिर के घोड़े पर सवार हो गये।

रास्ते की गर्द उड़-उड़कर उनके कपड़ों पर पड़ती रही। ममदे और नादिर के कानों तक तराशे हुए पटों पर सफेद पगड़ियाँ बँधी हुई थीं। ममदे ने सफ़ेद कुर्ते के नीचे लाल तहमद बाँध रखा था। नादिर ने लाल कुर्ते के नीचे काला तहमद लगाकर जैसे यह घोषणा कर रखी हो कि सफेद रंग तो केवल पगड़ी के लिए ही ठीक रहता है।

रास्ता बहुत अधिक तो नहीं चल रहा था। ममदा और नादिर कभी मँहगाई की बातें ले बैठते, तो कभी पुलिस की सख्ती की शिकायत करने लगते। कभी डाकुओं का किस्सा शुरू हो जाता। कभी बात घूमकर गेहूँ और कपास के खेतों में जा पहुँचती। सड़क बनने और लारी चलने की अफ़वाह भी इधर ज़ोरों पर थी, जैसी कि सुनील ने दोनों जाँगलियों की बातें सुनते हुए अनुभव किया।

ममदे ने हँसकर कहा, "देखो जी, बाबू जी साहब, मेरा तो दिल

कहता है कि जंगल को कितना भी क्यों न काटा जाय, वह फिर उग आता है।"

"यह तो ठीक ही है !" सुनील ने गम्भीर होकर कहा, "जंगल और इन्सान का पुराना रिश्ता है।"

"वाहगुरु सच्चे पादशाह दा विचार भी तो सुन लो, सुनील जी !" अर्जुनसिंह ने हँसकर कहा, "जंगल दी वह पहले-जैसी शक्ल तो कहाँ से नजर आयेगी ? कट गया सो कट गया !"

सुनील और सरदार जी को सम्बोधित करने की बजाय ममदा और नादिर आपस में बातें करने लगे, जैसे जंगल के फिर से उग आने का प्रसंग साँदलबार के जाँगलियों का सब से प्रिय विषय हो। सुनील जानता था कि जब चनाब से नहर निकली तो सब से पहला प्रहार इसी प्रदेश के जंगल पर हुआ था। अर्जुनसिंह उसे बता चुका था कि उन दिनों किस तरह कुल्हाड़े आये और उन्होंने वृक्षों को काट डाला। जण्ड, वण और उकाँह के पेड़ तो अब भी इस कच्ची सड़क के साथ या कहीं-कहीं रास्ते से हटकर नजर आ रहे थे। इधर-उधर करील की झाड़ियाँ भी सिर उठाने से बाज न आती थीं, जैसे ये झाड़ियाँ और पेड़ कुल्हाड़ों को पुकार-पुकारकर कह रहे हों—आओ, हमें काटकर दिखाओ ! हम भी देखेंगे, तुम कहाँ तक हमारा सफ़ाया कर सकते हो। बीज तो कायम रहेंगे। हम तो उगते ही रहेंगे'''सुनील ने घोड़े पर बैठे-बैठे चतुर्दिक नजर दौड़ाकर देखा कि इक्के-दुक्के वृक्षों और झाड़ियों के सिवा जंगल का तो अब कहीं कोई निशान नहीं रह गया। अब तो दूर तक खेत-ही-खेत चले गये थे।

नादिर ने कहा, "मेरा बापू ठीक ही कहता होगा ममदे, कि जब यहाँ जंगल था तब हम लोग ही जंगल के मालिक थे। पेड़ों और झाड़ियों के पत्ते हमारे ऊँटों और भेड़-बकरियों की खुराक थे।"

ममदा बोला, "हमारी गाय-भैंसों और घोड़ों के लिए भी तो हमारे जंगल में घास की कमी न होती होगी। मेरी माँ कहती है कि उन दिनों कहीं-न-कहीं कुआँ लगाकर हम लोग थोड़ा-बहुत अनाज भी पैदा कर लेते थे।"

"आज यहाँ, कल वहाँ ! हम लोग उन दिनों खानाबदोशों की तरह

घूमते थे जंगल के एक सिरे से दूसरे सिरे तक !"

"कहीं-कहीं हमारे गाँव भी तो थे, जो 'झोक' कहलाते थे। जहाँ हमारा चक नं० २१ आबाद हुआ, वहाँ किसी जमाने में कच्चे-पक्के की झोक आबाद थी। अब तो खैर, उस कुएँ का निशान भी ढूँढने से नहीं मिल सकता, जो नीचे से आधा पक्की ईंटों का बना हुआ था और ऊपर से कच्ची ईंटों का। वह कुआँ तो अब नहीं रहा। लेकिन गाँव का पुराना नाम कच्चा-पक्का तो अब भी लोगों की जबान पर चढ़ा हुआ है। इसे चक नं० २१ तो सौ में पाँच भी नहीं बोलते होंगे।"

अर्जुनसिंह को ममदा और नादिर की बातों में कोई रस नहीं आ रहा था, पर सुनील को लगा, जैसे उनके मुँह से जंगल अपना रोना रो रहा है। अर्जुनसिंह उसे बता चुका था कि यदि एक रेखा चनाब से चन्योट और ननकाना साहब (तलवण्डी) को चीरते हुए रावी तक खींच दी जाय तो इस रेखा के दक्षिण-पश्चिम में चनाब और रावी के संगम फाजिलशाह तक साँदलबार का प्रदेश चला गया है। इस प्रदेश के कुछ भाग शेखूपुरा और लायलपुर के जिलों में थे तो कुछ मिन्टगुमरी और झंग के जिलों में। अर्जुनसिंह ने विस्तार से बताया था कि किस तरह जंगल कटने के पश्चात् एक-एक मुरब्बा के हिसाब से यह जमीन लुधियाना, जालन्धर और अमृतसर के जिलों के खास-खास लोगों को आबाद-गिरी मल्कियत के रूप में दी गई। कुछ रईसों को दो-दो, चार-चार मुरब्बे मिले। उसी समय कुछ फ़ौजियों और सरकार के कुछ खैरख्वाहों को भी मुरब्बे दिये गये। उन दिनों कमालिया और शोरकोट के इर्द-गिर्द के जंगल का टुकड़ा छोड़ दिया गया था। जब नहर लोअर चनाब से पीरमहल राजवाहा निकाला गया तो जंगल का वह टुकड़ा भी साफ़ कर दिया गया, जो रावी के चीचावतनी घाट से दस मील ऊपर से शुरू होकर दरिया के साथ-साथ चनाब तक पहुँचता था। शोरकोट तक जंगल का वह टुकड़ा बारह मील से अधिक चौड़ा था। शोरकोट से आगे इसकी चौड़ाई इससे भी अधिक थी। इस प्रदेश के पुराने शहर चन्योट, ननकाना साहब, कमालिया, शोरकोट और झंग

विख्यात थे, पर यहाँ के नये शहर जड़ाँवाला, लायलपुर, ताँदला, समुन्द्री, गोजरा और टोबा टेकसिंह जंगल कट जाने के बाद ही आबाद हुए।

ममदे और नादिर के बातचीत के लहजे से साफ़ पता चलता था कि भले ही कुल्हाड़ों ने जंगल को काट डाला था, लेकिन जाँगलियों से उनकी ज़बान तो कोई न छीन सकता था, जो अब बाहर से आये हुए आबादगरों के नीचे दबे हुए थे। उनकी भाषा में तो आज भी जंगल से गुज़रने वाली हवाओं का संगीत था।

"आप तो कहते थे सरदार जी, कि जाँगली लोग अपने फेफड़ों की पूरी ताकत से ढोला गाते हैं। अब ज़रा सुनवाइये न एक-आध ढोला। ज़रा रास्ता भी कट जायगा!"

अर्जुनसिंह ने हँसकर कहा, "ओ भाई लागो, सुनाओ न कोई ढोला हमारे सुनील जी को!"

ममदा और नादिर देर तक गाने की बात को टालने का यत्न करते रहे। फिर उन्होंने देखा कि गाये बिना छुटकारा नहीं मिल सकता। दोनों मित्र कानों पर उँगलिया रखकर एक स्वर से गाने लगे:

बुत्त वणोटया, तू क्यों खलाएँ कुरमाणाँ?
हिक्के तेरी भोएँ भैड़ी,
हिक्के तेरा ए मुड्ढ पुराणाँ!'
न मेरी भोएँ भैड़ी,
न मेरा मुड्ढ पुराणाँ,
कुज्झ खा लिया कलहारयाँ दीयाँ डाचीयाँ,
कुज्झ वड्ढ लिया दरखाणाँ,
दरखाणाँ दे मरण बच्चड़े,
नित्त पइयाँ टुक्कनें मुकाणाँ,
डाचियाँ दे मरण तोडीयाँ-तोड़े,
पट दीयाँ मुहाराँ ते सोने दीयाँ लाटीयाँ,
उब्भे ते लम्मे दे चोर पये बगणे,

बन्ह के लै जाइए बन्ह कतारॉं, मुड़ तॉं
नित्त पइयॉं टुकणे नित्त दीयॉं वाहरॉं ![1]

सुनील को लगा कि इस ढोले में तो कुल्हाड़ों से काट दिये जाने वाले जंगल की याद घुली हुई है। सहसा उसकी कल्पना में नये ड्रामा की थीम ने सिर उठाया।

'जंगल रोता है'—यह होगा उसकी नई रचना का नाम, मन-ही-मन उसने निश्चय कर लिया। वण के पेड़ ने अपने विनाश का कारण बताते हुए तरखानों और कलहारों की ऊँटनियों को शाप दिया था, जैसे यह एक पेड़ का शाप न हो बल्कि कटे हुए पूरे-के-पूरे जंगल का शाप हो।

रास्ता खत्म होने ही में नहीं आ रहा था। धूल बुरी तरह उड़-उड़कर उन्हें सता रही थी। घोड़ों की टापों से धूल का बादल बराबर उठ रहा था।

"अभी और कितनी दूर है कच्चा-पक्का, सरदार जी ?"

"अब ज़्यादा दूर नहीं है।"

रास्ते की मिट्टी मैदा बनी हुई थी। दोनों तरफ़ दूर-दूर तक किसी वृक्ष की छाया न थी। दोपहर का सूरज आग बरसा रहा था। रास्ते के दोनों ओर गेहूँ के खेत कटने के लिए तैयार खड़े थे।

गर्मी के मारे सुनील का बुरा हाल था। उसने सोचा कि अच्छे फँसे। जीनत ठीक कहती थी कि सॉंदलबार की भट्टी में जलने से तो कुछ हासिल नहीं होगा। नये ड्रामा की थीम तो खैर मिल ही गई। चलिए, अब कच्चा-पक्का भी देख लेंगे। कहाँ लाहौर, कहाँ सॉंदलबार ! वह बहुत दूर निकल

---

१. 'हे वण के पेड़, तू खडा क्यों रो रहा है ? या तो तेरी ज़मीन खराब है, या तेरा तना पुराना है।' न मेरी ज़मीन खराब है, न मेरा तना पुराना है। कुछ तो मुझे कलहारों की ऊँटनियों ने खा लिया, कुछ मुझे तरखानो ने काट डाला है। तरखानों के बच्चे-बच्चियॉं मर जायॅं। उनके यहॉं हर रोज़ ही शोक मनाने के लिए सम्बन्धी आया करें। उनकी ऊँटनियों के बच्चे-बच्चियॉं मर जायॅं, जिनकी रेशम की मुहारें हैं, और जिनके गले में सोने की लाटियॉं हैं। दक्षिण और पश्चिम चोर घूम रहे हैं। वे इन्हें पंक्तियों में बॉंधकर ले जायॅं। नित-नित चोरों की नई-नई टोलियॉं आया करें।

आया था। घोड़ा हिनहिनाता, तो उसे न जाने क्यों लाहौर का ध्यान आने लगता। ऊँह! यह तो साँदलबार है। यहाँ का जंगल तो कभी का कट गया। यहाँ तो सूरज सीधा आग बरसाता है।···अर्जुनसिंह का घोड़ा बहुत दूर निकल गया था। ममदा और नादिर पीछे से सुनील के घोड़े को जितना भी हाँकते, उतना ही यह घोड़ा ज़मीन में धँसने का यत्न करता।

कच्चा-पक्का पहुँचते-पहुँचते साँझ उतर आई थी। तेजकौर ने सुनील को देखा तो पूछा, "दीपाली को क्यों नहीं लाये सुनील जी?"

"वह तो पी-एच० डी० के चक्कर में फँसी हुई है। उसे तो दम लेने की भी फुरसत नहीं!"

फिर जब अर्जुनसिंह ने तेजकौर को बताया कि सुनील का विवाह हो गया, तो तेजकौर ने हँसकर कहा, "तब तो दीपाली को ज़रूर लाना था सुनील जी!"

इससे पहले कि सुनील कुछ कहता, अर्जुनसिंह ने गम्भीर होकर कहा, "ओ भोलिए, दीपाली के साथ नहीं, सुनील की शादी तो जीनत के साथ हो गई है।"

तेजकौर हतप्रभ-सी रह गई। उसकी कल्पना में एक ऐसी घोड़ी का चित्र घूम गया जो किसी को अपनी पीठ पर हाथ भी न रखने देना चाहती हो; जैसे उसकी कल्पना में दीपाली पंजाब युनिवर्सिटी की लाइब्रेरी में किसी पुस्तक पर झुकी बैठी हो, और बड़ी तेज़ी से अपने थीसिस पर नोट ले रही हो। मन-ही-मन तेजकौर ने जैसे दीपाली से कहा—थीसिस लिखकर भी तुझे क्या मिल जायगा दीपाली? खाली पी-एच० डी०! बस यही न? अपने सुनील को तो तू खो बैठी···और फिर जैसे उसकी कल्पना में जीनत मुसकरा उठी।

"तो जीनत को ही साथ ले आते, सुनील जी!" तेजकौर मुसकराई।

"ओ भोलिए, ये बातें तो फिर कर लेना।" अर्जुनसिंह ने अपनी ही

बात छेड़ दी, "पहले सुनील जी दे पैर धोने वास्ते गर्म पानी तो ले आ। बहुत थक गये हैं। इन्हाँ दी थकावट न उतरी तो वाहगुरु दे सिंघों पर दोष लगेगा।"

सुनील को लगा कि वह इस घर में केवल एक अतिथि के रूप में नहीं आया। रिसालदारनी हरबंसकौर ने उसके सिर पर यों हाथ फेरा जैसे वह वाकई उसका बेटा हो। रिसालदार अर्जुनसिंह के बेटे जंगसिंह को भी सुनील से मिलकर कुछ कम खुशी न हुई, उसने तो जैसे सुनील को हाथों पर उठा लिया।

लेकिन सब से ज़्यादा खुशी तो तेजकौर को ही हुई थी। सुनील को देखकर जैसे उसके पैर धरती पर न पड़ते हों।



४१

आज के अख़बार की सब से बड़ी सुर्ख़ी यही थी कि क़ुरैशी साहब कांग्रेस छोड़कर मुस्लिम लीग में शामिल हो गये। ज़ीनत सचमुच हक्की-बक्की रह गई। लाहौर का इतिहास बदल रहा था, बड़ी तेज़ी से उलटबाज़ियाँ खा रहा था। अब्बा जान का रुख़ अन्दर-ही-अन्दर मुस्लिम लीग की तरफ़ हो रहा है, यह बात ज़ीनत से छिपी हुई तो न थी, लेकिन यों खुल्लमखुल्ला वह कांग्रेस छोड़कर मुस्लिम लीग में मिल जायँगे, यह बात तो उस ने भूलकर भी न सोची थी।

नये चुनावों में मुस्लिम लीग का पलड़ा भारी रहा था। मुस्लिम लीग की पाकिस्तान की माँग इस से पहले कभी इतनी ज़ोरदार नज़र नहीं आई थी। यह बात भी ज़ीनत से छिपी हुई न थी। बंगाल और सिन्ध में मुस्लिम लीगी मन्त्रिमण्डलों की स्थापना हो चुकी थी। पंजाब में यूनियनिस्ट मिनिस्ट्री भले ही किसी-न-किसी तरह आख़िरी साँस ले रही थी, लेकिन मालूम होता था कि किसी भी समय खेल बिगड़ सकता है। उसने अख़बार को जल्दी-जल्दी उलटकर देखा। दूसरी कोई ख़बर इतनी ज़ोरदार मालूम न हुई।

अख़बार पर उसकी नज़र जमी न रह सकी। उसने झुँझलाकर अख़बार परे रख दिया। आज की बड़ी सुर्ख़ी किसी आने वाले तूफ़ान का पता दे रही है, यह बात बार-बार उसे कुरेदती रही। पास के डाकघर

में जाकर उसने बागवानपुरा में अम्मी जान को फोन करके इस ख़बर की तसदीक की, तो इसकी सचाई जानकर उसका सिर झुक गया। जिस रास्ते पर अब्बा जान अब तक चलते आये थे, वह रास्ता उन्होंने कैसे छोड़ दिया ? अम्मी जान ने फोन पर कहा था कि जीनत बाग़वानपुरा आ जाय। अब मैं वहाँ कैसे जा सकती हूँ ? वह खुद तो साँदलबार गये हुए हैं।

डाकघर से लौटते हुए उसने आने-जाने वालों के चेहरों को बड़े ध्यान से देखा। उसे विशेष अन्तर नज़र न आया। उसने सोचा कि अभी तो अंग्रेज़ का राज है, अभी तो शेर और बकरी एक घाट पर पानी पी सकते हैं। अभी तो अंग्रेज़ी राज में किसी भी जगह सूरज के डूबने का सवाल ही नहीं उठ सकता। दुकानों के साइनबोर्डों पर अंग्रेज़ी विराजमान है। मण्टो रोड, हाल रोड, लारेंस रोड—न जाने किस-किस सड़क के नाम पर अंग्रेज़ी ठप्पा नज़र आता है। हिन्दू, मुस्लिम और सिक्ख के बीच झगड़ा बताया जाता है, जीत अंग्रेज़ की होती है। दिल से लाहौर जैसा भी हो, ऊपर से तो ऐंग्लो-इण्डियन बन गया है।

बचपन से लेकर अब तक की जिन्दगी जीनत की आँखों में घूम गई। अंग्रेज़ के राज में न जाने कितनी बार लाहौर की फ़िज़ा बिगड़ चुकी है। न जाने कितनी बार हिन्दू-मुस्लिम फ़साद हुए। गोली चली तो कहीं जाकर छुरेबाजी थमी। इसी लाहौर में शहीद गंज का झगड़ा भी तो हुआ था। लेकिन हर बार फ़िरकेदाराना फ़साद कुछ दिन चलकर बन्द हो गये। मन-मुटाव साँप की केंचली की तरह उतर गये। वही चहल-पहल, वही गहमा-गहमी फिर नज़र आने लगती थी। रंग-रंग के लिबास, दोस्तों और सहेलियों के मज़ाक, पगड़ियाँ और शलवारें, तहमद और बुर्के—ये सब तो यों सामने आते हैं, जैसे इनके बिना लाहौर को पहचाना ही नहीं जा सकता। कभी कोई औरत बुर्का उठाकर चलते हुए सामने आ जाती है तो खुदा की क़सम यों लगता है कि तसवीर अपनी ज़बान से कह रही है कि चौखटा खूबसूरत है !

इधर हिन्दू प्रेस और मुस्लिम प्रेस में दंगल हो रहा था, झूठी-सच्ची ख़बरों में फ़र्क करना कठिन था। यूनियनिस्ट मिनिस्ट्री का सिंहासन डावाँ-

डोल हो रहा था। पाकिस्तान का नारा सब नारों से ऊँचा उठ गया था। ले के रहेंगे पाकिस्तान !—जैसे यह आवाज़ सब आवाज़ों पर भारी हो। सड़कों पर खड़े हुए लोग खुल्लमखुल्ला यह कहते सुनाई देते—गुण्डों के साथ हम भी गुण्डे बन सकते हैं, हम भी दो-दो हाथ दिखा सकते हैं ! कोई कहता—अंग्रेज़ से बड़ा जाहल कोई नहीं होगा अगर वह इस हालत में हमें छोड़ जायगा ! लेकिन अंग्रेज़ तो जा रहा था, वह तो जाने का फैसला कर चुका था।

उस दिन कॉफ़ी हाउस में दीपाली और पारुल से ज़ीनत की मुलाकात हुई, तो पाकिस्तान पर बहस चल पड़ी। दीपाली बोली, "कल तेजकौर के पिता जी मिल गये। हमारे चाचा जी के कपड़े सीकर लाये थे। मैंने पूछा—पाकिस्तान बनने के बारे में आपकी क्या राय है, सरदार जी ? वह बोले—पाकिस्तान बन जाय हमारी बला से, बीबी ! हमारा ननकाना साहब हमारे पास रहे, पंजा साहब हमारे पास रहे, लाहौर का शहीदगंज, रणजीतसिंह की समाधि और गुरु अर्जुनदेव जी महाराज का गुरुद्वारा हमारे पास रहे।" बातें करते-करते दीपाली की हँसी छूट रही थी, पारुल और ज़ीनत को भी हँसी आ गई।

दीपाली सँभलकर बोली, "मैंने कहा—सरदार जी, अब कल को हिन्दू कहेंगे कि मुलतान की प्रह्लादपुरी हमारे पास रहे, फिर चाहे पाकिस्तान बन जाय, लाहौर में हक़ीक़तराय धर्मी की समाधि हमारे पास रहे, फिर चाहे पाकिस्तान बन जाय ! अब यह तो मज़ाक होगा। पाकिस्तान बनना होगा तो किसी नक़शे के मुताबिक ही तो बनेगा। इसके जवाब में सरदार जी बोले—सिक्खों की किरपाण ही उनकी मदद करेगी, बीबी ! और सिक्खों का धर्म है कि वह अपनी किरपाण से हिन्दुओं को भी बचायें !"

"वाह रे इन्साफ़ !" पारुल मुस्कराई, "कोई इन लोगों से पूछे कि वक्त को कौन ज़ंजीर पहना सकता है। दुनिया बदल रही है। हमारा मुल्क भी बदल रहा है। पाकिस्तान बनने से ऐसी कौनसी आफ़त आ जायगी ? लोग ख्वाह-म-ख्वाह क्यों डर रहे हैं ? हमारे मियाँ तो कहते हैं कि

पाकिस्तान में भी सब के लिए जगह होगी, पाकिस्तान में भी हिन्दुस्तान जैसी इन्साफ़-पसन्द सरकार बनेगी !"

जीनत खामोश बैठी पारुल की बातें सुनती रही। कॉफ़ी हाउस में बहुत शोर था। लोग कॉफ़ी पी रहे थे, गप-शप कर रहे थे।

दीपाली ने बैरे को बुलाकर कॉफ़ी का आर्डर दिया, तो जीनत ने अपने लिए कॉफ़ी लाने से मना कर दिया। आज वह कुछ बुझी-बुझी-सी थी। सहेलियों के साथ जैसे उसका मन बिलकुल नहीं भीग रहा था।

कॉफ़ी आई तो दीपाली और पारुल ने जैसे आँखों-ही-आँखों में जीनत से क्षमा याचना की। पारुल बोली, "अब जितने दिन सुनील साँदलबार से लौटकर नहीं आ जाता, जीनत इसी तरह मुँह लटकाये बैठी रहेगी।"

जीनत इस पर भी टस-से-मस न हुई।

दीपाली और पारुल कभी कलकत्ता की खूनी घटनाओं की चर्चा में उलझ जातीं, कभी बिहार में किये गये उस कतले-आम के बदले पर अफ़सोस करने लगतीं, किस तरह उन्हीं फ़सादात का बदला रावलपिण्डी में लिया गया और वहाँ हजारों बेगुनाह मौत के घाट उतार दिये गये, और फिर किस तरह नोआखाली में फ़सादात की आग भड़क उठी—ये सारी घटनाएँ एक ही जंजीर की कड़ियाँ थीं। इस बातचीत में जीनत ने हिस्सा लेना उचित न समझा।

दीपाली बोली, "दिल्ली में मिली-जुली सरकार बनने से क्या होता है? मुल्क के लोगों के दिलों में जो नफ़रत एक-दूसरे के खिलाफ़ अंग्रेज ने पैदा कर रखी है, वही तो आज फल ला रही है।"

"लेकिन यही तो हम लोगों की समझ-बूझ का इम्तिहान है।" पारुल ने गम्भीर होकर कहा, "एक बात तो सभी मानते हैं कि नफ़रत से नफ़रत फैलती है। नफ़रत का जवाब है प्यार-मुहब्बत!"

"यह तो गांधी जी की आवाज है!" दीपाली की आवाज में किसी कदर वेदना थी, "काश, हम सब लोग किसी एक नुकते पर समझौता कर सकते! अंग्रेज का क्या है? उसने तो इस मुल्क में हिन्दू को मुसलमान के

खिलाफ़ और मुसलमान को हिन्दू के खिलाफ़ भड़काकर ही हुकूमत की है। वह तो आज भी तमाशा देख रहा है। कभी इधर से डोर हिला देता है, कभी उधर की डोर खींच देता है और हम कठपुतलियों की तरह नाच रहे हैं—नफ़रत का नाच, कतले-आम और खून की होली का नाच! कितनी बेदर्दी से कतले-आम किया जाता है! जब यह बात हमारी तवारीख में लिखी जायगी और आने वाली पीढ़ियाँ इसे पढ़ा करेंगी तो यह सोचकर कि ऐसे थे हमारे बजुर्ग जो दुश्मन की चाल बिल्कुल नहीं समझ पाते थे और अपने ही भाइयों के खून से हाथ रंग लेते थे, वाकई उनके सिर शर्म से झुक जाया करेंगे।"

जीनत अब भी खामोश थी।

पारुल ने गम्भीर होकर कहा, "अब तो कांग्रेस और मुस्लिम लीग दोनों ही पाकिस्तान के बनने पर राज़ी हो गईं। इसलिए लाहौर में तो अमन-अमान रहेगा। यहाँ के लोग पहले भी तो कई बार लड़-झगड़ चुके हैं। अब के लाहौर के लोग यह ग़लती बिल्कुल नहीं करेंगे। रावलपिण्डी में जो फसाद हुए, पंजाब का सिर तो उन्हीं से झुक गया है। अब पंजाब बहुत समझदारी से काम लेगा।"

"लेकिन अखबारों में जिस तरह से खबरों को रंग दिया जाता है, उनसे तो तुम्हारी बात की तसदीक नहीं होती, पारुल!"

कॉफी हाउस में दो-तीन और मेज़ों पर भी पाकिस्तान की ही चर्चा चल रही थी। मालूम होता था कि जैसे कॉफी के साथ तले हुए नमकीन काजुओं की प्लेट मँगवा ली जाती है, उसी तरह आजकल शेष गपशप के साथ पाकिस्तान का मेल ही अधिक बैठ रहा है।

जीनत की आँखों में सुनील का ड्रामा 'गुड़िया और लोरी' घूम गया, जिसमें एक जगह कहा गया था—'आज़ादी को तो अब कोई रोक नहीं सकता। आज हर अखबार की सब से बड़ी सुर्खी यही है कि आज़ादी आ रही है। अब तो आज़ादी की तारीख भी मुकर्रर हो गई!' 'गुड़िया और लोरी' का वह दृश्य उसकी आँखों में चलचित्र के समान घूम गया।

आजादी ने कलाकार से ठीक ही तो कहा था। उसका द्वार आजादी ने यों ही तो नहीं खटखटाया था। आजादी ने कहा था—'तुम अभी मुझे पहचानोगे नहीं, क्योंकि मेरा चेहरा घूँघट की ओट में है। लेकिन मैं वही हूँ जिसके आने की तारीख मुकर्रर हो चुकी है। उस रोज मैं तुम्हें अपना चेहरा दिखाऊँगी। मैंने सोचा कि कहीं मेरा कलाकार उदास न हो रहा हो, उसे अपनी झलक तो दिखा आऊँ, जरा ढारस तो बँधा आऊँ, क्योंकि तुम्हें ही तो मेरा सब से ज्यादा इन्तजार रहता है।'···इन शब्दों का लेखक था 'गुड़िया और लोरी' का हीरो, और मैं ही तो थी 'गुड़िया और लोरी' की हीरोइन। अब तो मैं सचमुच उसकी पत्नी ही बन चुकी हूँ। क्या मैं वाकई जिन्दगी में वही स्टैण्ड ले सकूँगी जो 'गुड़िया और लोरी' की हीरोइन ने लिया था ?···

इस बीच में पारुल और दीपाली की बातचीत की गाड़ी न जाने किन-किन जंकशनों से होती हुई चाय और कॉफी के फ़र्क पर तान तोड़ रही थी। फिर बहस का विषय ठण्डी कॉफी और गरम कॉफी का फर्क बन गया। ऊँह ! यह कहाँ की बहस है ? जीनत ने सोचा—इन्सान भी कितनी बुलन्दी से कितनी पस्ती में आ गिरता है !

पास की मेज पर उठते हुए सिगरेट के धुएँ के छल्ले कॉफ़ी हाउस के वातावरण को सघन बना रहे थे। मित्रों की बातचीत कहीं फ़िल्म के बारे में हो रही थी जिसका तीसवाँ सप्ताह चल रहा था और जिसने अब तक की फ़िल्मों का रेकार्ड तोड़ डाला था, जैसे फिल्म-जगत् के इन रसियों के लिए न हिन्दुस्तान, कुछ महत्त्व रखता हो और न पाकिस्तान, जिसके बनने की अभी से चारों तरफ़ चर्चा हो रही थी।

दोनों सहेलियों में कल रात रेडियो पर सुने हुए पक्के गाने की चर्चा चल निकली थी। अचानक पारुल ने सहगल के रेकार्ड की प्रशंसा शुरू कर दी और उसने जोर देकर कहा, "यह साइन्स का कमाल है। सहगल आज जिन्दा नहीं, लेकिन हम आज भी उसकी आवाज सुन सकते हैं। सहगल ने क्या खूब गला पाया था ! कितनी लोचदार आवाज थी,

कितनी पुरसोज़ !"

दीपाली बोली, "सहगल के गीत भी अच्छे हैं, लेकिन पक्के गाने का अलग मज़ा है। हीराबाई बरोडकर का प्रोग्राम तो शायद दिल्ली से रिले किया जा रहा था। स्वर-ताल की गली में हीराबाई जिस तरह आजादी से घूमती है, उसकी बड़े-से-बड़ा कलाकार भी प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकता। वह प्रोग्राम तो ज़ीनत ने भी सुना होगा !"

"जी हाँ, सुना था मैंने।" आखिर ज़ीनत भी ख़ामोश न रह सकी। मेरा ख्याल है कि जब इन्सान की रगें बुरी तरह तनी हुई हों, जैसा कि आज-कल हमारा हाल है, संगीत से हमारे दिमाग़ को बहुत तसकीन मिल सकती है। जैसे हीराबाई की आवाज़ तो मेरे कानों में अब तक गूँज रही हो।"

पारुल बोली, "यह बात तो मैं बहुत पहले से जानती हूँ कि पक्के गाने के मामले में दीपाली और ज़ीनत की एक ही राय है।"

"और जावेद की भी तो इस मामले में दूसरी राय नहीं हो सकती।" दीपाली मुस्कराई।

"जावेद तो खुद भी पक्का गाना गा सकता है। वह रियाज़ करे तो इस विद्या का उस्ताद बन सकता है।" ज़ीनत ने जोर देकर कहा, "जावेद ने गला भी तो कुछ-कुछ सहगल जैसा पाया है। गला सुरीला हो तो पक्के गाने में और भी जान पड़ जाती है।"

इतने में बाहर से शोर उठा। 'पाकिस्तान ज़िन्दाबाद' के नारे सुनाई देने लगे। कॉफ़ी हाउस से निकल कर सभी लोग माल रोड से गुज़रते हुए जलूस को देखने लगे।

"इस जलूस की राहनुमाई कुरैशी साहब कर रहे हैं, जिनके बारे में आज ही खबर छपी थी कि कॉंग्रेस छोड़कर मुस्लिम लीग में मिल गये।" पास से किसी ने अपने दोस्त के कन्धे पर ज़ोर से हाथ मारकर कहा।

ज़ीनत ने यह सुना तो पारुल के पास सरककर दीपाली के बाईं तरफ़ जाकर खड़ी होगई। उसकी समझ में यह बात नहीं आ रही थी कि वह अपने अब्बा जान के इस क़दम पर कोई राय दे या अभी ख़ामोश रहे।

जलूस वाकई बहुत लम्बा था—सिर ही सिर। 'ले के रहेंगे पाकिस्तान!' का राग। 'पाकिस्तान जिन्दाबाद' के नारे। जलूस यूनियनिस्ट मिनिस्टरी के सैक्रेटेरियट की तरफ़ जा रहा था। बहुत बड़ा हिस्सा तो शायद लारेंस के बुत से भी आगे निकल गया था और पीछे भी काफ़ी बड़ा हिस्सा था। सिर ही सिर। बीच-बीच में मुस्लिम लीग के झण्डे लहरा रहे थे। ज़ीनत ने गम्भीर होकर कहा, "अब्बा जान ने जो ट्रेनिंग काँग्रेस में ली, उसका इस्तेमाल अब मुस्लिम लीग के लिए करेंगे।"



४१

"कच्चा-पक्का के जांगली, जो कभी जंगल के बेटे थे, अब तो पक्के किसान बन गये हैं।" तेजकौर ने सुनील का ध्यान खींचा, "उनका खयाल है कि जब यहाँ जंगल था, तो उसे साईं बाबा की दुआ प्राप्त थी, और अब जब कि जंगल कट चुका है और गेहूँ खूब उगने लगा है, गेहूँ को भी साईं बाबा की दुआ मिल चुकी है।"

गाँव से काफ़ी फ़ासले पर साईं बाबा का मज़ार था। उसी को देखकर गेहूँ के खेतों में से होते हुए, पकी हुई फसल से बातें करते हुए, तेजकौर और सुनील लौट रहे थे।

"ये तो बड़े भले लोग मालूम होते हैं!"

"जाँगली लोग भैंसें, ऊँट और घोड़े उसी तरह पालते हैं सुनील जी, जैसे जंगल कटने से पहले पालते होंगे। खेती तो इसके इलावा है। हमें इन लोगों का बहुत सुख है। मेरे मामा जी कहते हैं कि कच्चा-पक्का के भाग जगाने वाले तो असल में ये जाँगली गभरू ही हैं।"

"लेकिन मेरा तो ख्याल है कि इन लोगों को यहाँ के जमींदारों और साहूकारों ने बुरी तरह दबा रखा है। ये लोग अवश्य सोचते होंगे कि जब अंग्रेज चला जायगा तो जमींदारों तथा साहूकारों का दबदबा भी इतना नहीं रहेगा।"

"इन लोगों के साथ सरकार ने इन्साफ नहीं किया। जंगल तो

जाँगलियों का ही था। जंगल कटने पर जंगल की अधिकांश जमीन जाँगलियों को ही मिलनी चाहिए थी। आज इन लोगों की यह हालत है कि बेचारे मुज़ारे बनने पर मजबूर हैं! मैं इन लोगों से सहानुभूति रखते हुए भी कुछ नहीं कर सकती।"

"क्या ये लोग कभी नहीं सोचते कि जंगल फिर से उग सकता है?"

इसके उत्तर में तेजकौर बोली, "ममदा की वह कहानी मुझे याद है जिसके अनुसार एक बार पगड़ी वाले साईं ने वण के एक बूढ़े पेड़ पर कुल्हाड़ा चलाया तो उस से खून की धार निकली थी, और यह देखकर साईं बाबा का दिल काँप उठा था। इसीलिए तो जाँगली लोग वण के पेड़ को पवित्र मानते हैं। बात यह है सुनील जी, कि वण के पेड़ के नीचे बैठकर हर जाँगली आज भी यही महसूस करता है कि यह पेड़ उसके दिल का दर्द पहचानता है।"

सामने एक खेत के किनारे वण के दो-तीन पेड़ खड़े थे। सुनील बोला, "वण की छतरी कितनी सुन्दर लगती है! तना टेढ़ा-मेढ़ा। वह सामने वाले पेड़ को ही देख लो।"

"ममदा कहता है कि वण के पेड़ को तो कभी नहीं काटना चाहिए, क्योंकि यह पेड़ तो अल्लाह को भी प्यारा है।"

अब वे वण के वृक्षों के नीचे जा पहुँचे थे। सुनील ने गम्भीर होकर कहा, "वण के इन पेड़ों को देखकर तो मुझे लगता है कि ये पास से गुजरने वालों का मुँह चिढ़ा रहे हैं। जैसे कह रहे हों—हमें कोई नहीं काट सकता। हम पर तो अल्लाह की मेहर है। कुल्हाड़ों ने पूरा ज़ोर लगाकर देख लिया। हमारी उमर तो बड़ी है। हमें तो कोई आसानी से खतम नहीं कर सकता। हम चाहें तो अल्लाह की मेहर से तीन से सात बन जायँ और सात से दस और फिर पूरा जंगल!"

"यह बात अपने नये नाटक में अवश्य लिखिएगा, सुनील जी!" तेजकौर मुस्कराई।

सूर्य आग बरसा रहा था। खेतों में गेहूँ काटने की तैयारियाँ हो रही

थीं। दराँतियों की आवाज़ बालियों की सरसराहट में खो रही थी। बालियों का सुनहरी रंग यह कहता नज़र आता था कि अब कोई भूखा न रहेगा।

एक जगह एक बूढ़ा जांगली हुक्के के कश लगा रहा था। तेजकौर बोली, "नाबू चाचा, ये हमारे सुनील जी हैं। आप लोगों का हाल देखकर आपका दुखड़ा लिखेंगे।"

बूढ़े नाबू ने हुक्का परे रखते हुए कहा, "हमारा दुखड़ा कोई क्या लिखेगा ?"

सुनील ने मुस्करा कर कहा, "मैं पूछता हूँ नाबू चाचा, कि अगर जंगल फिर से उग आये तो क्या आप को ज़्यादा खुशी होगी ?"

"जंगल तो अब क्या उगेगा, बेटा ?" बूढ़े नाबू ने फिर से हुक्का उठाकर कश लगाते हुए कहा," एक बार कटकर जंगल क्या उगेगा, वैसे पगड़ी वाले साईं की मन्नत मानने से क्या नहीं हो सकता ?" उसकी आँखें गर्व से चमक उठीं।

"हम वही मज़ार देखकर आ रहे हैं, चाचा !" तेजकौर मुस्कराई।

"पगड़ी वाले साईं का मज़ार तो पचास मील के घेरे में सब से बड़ा मज़ार है, बेटा ! मेरा बाबा कहा करता था कि पाँच चिराग़ जलाने से भी पगड़ी वाले साईं की दुआ मिल सकती है। सौ चिराग़ों की तो बात ही अलग हैं। उस मज़ार पर तो फ़रिश्ते भी चिराग़ जलाकर खुश होते हैं !" बूढ़े की आवाज़ में आत्मविश्वास की पुट थी।

"हाँ चाचा !" सुनील ने गम्भीर होकर कहा, "पीर के मज़ार के आस-पास वण के कितने ही पेड़ खड़े हैं। मज़ार का साईं कह रहा था कि इन पेड़ों पर लगने वाला एक-एक लाल पीलू पगड़ी वाले साईं की दुआ का रंग लिये रहता है और पगड़ी वाले साईं की मन्नत कभी बेकार नहीं जाती।"

"अब देखो न बेटा, जाँगलियों का यह रिवाज शायद तुम्हारी समझ में न आये कि जब तक जाँगली का बेटा चोरी करके न लाये, उसके सिर पर पगड़ी नहीं बँध सकती। चोरी भी रुपये-पैसे की नहीं, ढोर-डंगर की।

अब देखो न, मेरा नादिर है कि अच्छी-सी साँड़नी चुराकर लाया था, तब कहीं उसके सिर पर पगड़ी बँधी। पगड़ी न बँधती तो शबनमा के साथ उसका निकाह कैसे होता? साँड़नी भी रिसालदार अर्जुनसिंह की थी। उसने उसे ऐसी जगह ले जाकर छिपाया कि पुलिस ज़ोर लगाकर हार गई, कहीं भी तो उसका पता न चल सका।"

"फिर क्या हुआ?" सुनील ने नाबू चाचा को टोककर कहा।

"रिसालदार अर्जुनसिंह से पुलिस ने पूछा कि क्या उन्हें नादिर पर शक है, तो उन्होंने साफ़ इनकार कर दिया। लेकिन जब नादिर एक रात उस साँड़नी पर सवार होकर शबनमा के घर पहुँचा तो शबनमा ने सब से पहली शर्त यही रखी कि वह फौरन जाकर इस साँड़नी को अर्जुनसिंह के घर छोड़ आये। लेकिन जब नादिर इसके लिए तैयार न हुआ तो शबनमा खुद साँड़नी को अर्जुनसिंह के घर ले गई। आज तक तो किसी ने चोरी का माल कभी इतनी आसानी से नहीं लौटाया था। इस खुशी में अर्जुन सिंह ने पूरे दो सौ रुपये मेरे नाबू की शादी में खर्च किये थे। यह सब पगड़ी वाले साईं की मन्नत मानने का फल था।" बूढ़े नाबू की आँखें चमक उठीं।

"चाचा, इनसे भी कहो कि यहाँ आये हैं तो पगड़ी वाले साईं की मन्नत माने बिना वापस लाहौर न जायँ।" तेजकौर ने चुटकी ली।

"हाँ हाँ बेटा, तुम भी पगड़ी वाले साईं की मन्नत ज़रूर मान लो।"

नाबू चाचा से इजाज़त लेकर तेजकौर और सुनील घर की तरफ चले। रास्ते में सुनील ने हँसकर कहा, "साँदलबार में क्या लड़के ही पगड़ी वाले साईं के मज़ार पर चिराग़ जलाते हैं, तेज?"

"नहीं नहीं, लड़कियाँ भी जलाती हैं।"

"पूरे सौ नहीं तो पाँच चिराग़ तो तुम भी जला ही दो उस मज़ार पर।"

"किस लिए?"

"यह तो तुम खुद भी समझती हो।" सुनील मुसकराया। उस ने केवल चौधरी की बातें शुरू कर दीं और बताया, "जब मैं साँदलबार आने

लगा तो केवल लाहौर के रेलवे स्टेशन पर मिल गया था और मेरे यह बताने पर कि मैं साँदलबार जा रहा हूँ, उसने कहा—तेजकौर को जरूर लेकर आना, उसके बिना तो लाहौर की रौनक ही आधी रह गई।"

तेजकौर झेंप गई और उसके होंठों पर मुस्कान की एक हल्की-सी रेखा उभर कर न जाने कहाँ विलीन हो गई।

सुनील को लगा कि ऐसा भी हो सकता है कि एक दिन तेजकौर और केवल चौधरी का जोड़ा बन सके। मन-ही-मन उस ने तय किया कि वह इसके लिए अर्जुनसिंह पर ही नहीं, बल्कि लाहौर पहुँचकर जीनत की मार्फ़त तेजकौर के पिता जी पर भी अवश्य जोर डालेगा।



४३

सुनील को कच्चा-पक्का में आये पाँचवाँ दिन था। आज उसे जीनत की याद रह-रहकर सता रही थी। उसके जी में तो आया कि आज ही वापिस लाहौर चला जाय, लेकिन अर्जुनसिंह और उसका बेटा जंगसिंह तो जैसे उसके लिए हाथों से छाया कर रहे थे। रिसालदारनी हरबंसकौर भी तो उसे देखकर फूली न समाती थी। तेजकौर उसे साँदलबार के जाँगलियों से मिलाने ले जाती, कभी उनकी कहानियाँ सुनवाती, कभी उनके दुःख-सुख का प्रसंग छिड़ जाता।

पाकिस्तान बनने की सूचना तो यहाँ तक आ पहुँची थी। कोई-कोई बूढ़ा जाँगली हँसकर कह उठता, "अल्लाह पाक चाहेंगे तो सब ठीक हो जायगा।" कभी कोई बुढ़िया जाँगलिन हँस कर कहती, "अल्लाह के तो दोनों ही बेटे हैं—मुसलमान भी और हिन्दू भी!"

रेलवे स्टेशन पास होने से कच्चा-पक्का को सब से बड़ा लाभ यही था कि डाक जल्दी पहुँच सकती थी। लेकिन चिट्ठी तो जभी आ सकती थी जब कोई लिखता। सुनील जीनत से कहकर आया था कि रोज नहीं तो हर तीसरे दिन तो अवश्य उसे चिट्ठी लिखती रहे। इस हिसाब से तो जीनत की चिट्ठी कल ही आ जानी चाहिए थी।

जीनत की चिट्ठी न आई। पाँचवाँ दिन भी उसी तरह बीत गया। नये ड्रामा की 'थीम' मिल गई थी, जाँगलियों का दर्द सुनील ने पहचान लिया

था। लेकिन तेजकौर तो कह रही थी कि जाँगलियों की दुखभरी गाथा बहुत लम्बी है और उसे समझने के लिए दस-बीस रोज तो कुछ भी नहीं हैं।

आज उसे यहाँ आये छठा दिन था। अब जीनत की चिट्ठी की कोई आशा न थी। उसने समझ लिया कि जीनत को तो अपनी सहेलियों से फुरसत नहीं मिलती होगी और शायद वह अपनी अम्मी जान की तरफ चली गई हो, नहीं तो कैसे हो सकता था कि उसने मेरी चिट्ठी का भी कोई उत्तर न दिया होता।

दो चिट्ठियाँ तो वह पहले और तीसरे दिन ही लिख चुका था। पहली चिट्ठी में उसने जाँगलियों के उस गीत की चर्चा की थी जिसमें वण के पेड़ ने शाप दिया था और दूसरी चिट्ठी में जाँगली गभरू द्वारा ढोर-डंगर की चोरी किये जाने के बाद ही उसके सिर पर पगड़ी बँधने की प्रथा की चर्चा करते हुए सुनील ने लिखा था—'जाँगलियों की ये छोटी-मोटी चोरियाँ तो एक तरह से उस बहुत बड़े डाके को चुनौती दे रही हैं जो सरकार ने जंगल काटकर साँदलबार की जमीन पर डाला। अब अगर जाँगली लोग उनके ढोर-डंगर चुरा लेते हैं, जिन्होंने सरकार के पिट्ठू बन कर साँदलबार की ज़मीन पर अधिकार जमाया, तो इसमें कौनसी अजीब बात है।'

सुनील ने दूसरे पत्र में जोर देकर यह भी लिखा था कि जाँगलियों की यह ढोर-डंगर चुराने की प्रथा जंगल कटने के बाद ही शुरू हुई थी।



४४

सातवें दिन अचानक तेजकौर ने एक चिट्ठी लाकर सुनील के हाथ में देते हुए कहा, "लाइए सुनील जी, क्या खिलाते हैं ? जीनत की चिट्ठी आ गई।" और उन्हीं कदमों पर हँसते-हँसते वह वापस चली गई।

सुनील झट चिट्ठी खोलकर पढ़ने लगा :

'गुड़िया और लोरी' के नाटककार,

पाँच दरियाओं के देश के इस सब से बड़े शहर से मैं यह ख़त लिख रही हूँ। इस शहर के साथ हमारी ज़िन्दगी का छोटे-से-छोटा वाकया जुड़ा हुआ है। सिमटता, फैलता, फ़ख़र से गर्दन बुलन्द करता—यह है अपना शहर लाहौर। सिर उठाकर देखिए। आसमान का रंग मटियाला होता जा रहा है, जैसे आँधी आ रहा हो। जिस दिन से तुम गये हो आसमान लगातार मटियाला नज़र आने लगा है।

ज़िन्दगी दो हिस्सों में बँटी हुई है—एक वे हैं जिनके पास ऐश के सामान हैं (देखिए, यहाँ मैं अब्बा जान और अम्मी जान को भी माफ़ नहीं कर सकती), दूसरे वे हैं जो दबे हुए हैं, पिसे हुए हैं और लुटे हुए हैं।

यह कौन लोग हैं जो ज़िन्दगी की धारा को बदलने की ज़िद कर रहे हैं ? क्या यह दुश्मन के हाथों में खेल रहे हैं ? अब तो पुल के नीचे बहने वाले पानी का रंग भी बदलने लगा—हल्का सुर्ख़, गहरा सुर्ख़। पानी का रंग भी वही है, आसमान का रंग भी वही है। यह कैसा ज़माना आ रहा है ?

आपसदारी ख़तम हो रही है। मेहमान-नवाज़ी के खण्डरात में तास्सुब और दुश्मनी ने डेरे डाल दिये। देखने में यह दो मज़हबों की कशमकश है, लेकिन अन्दर से दो मज़हबों के दो दौलतमन्द तबक़े लड़ रहे हैं। वहाँ भी ग़रीब सिर्फ़ वायदों पर जी रहे हैं और यहाँ भी ग़रीबों को चकमे दिये जा रहे हैं। वायदों से पेट नहीं भरता। नये नारे ईजाद किये जा रहे हैं।

वहाँ भी कठपुतलियाँ हैं, यहाँ भी कठपुतलियाँ हैं—किसी के इशारों की मुन्तज़िर! इनकी डोर तो किसी अँधियारे पर्दे के पीछे से हिलाई जाने वाली है। कठपुतलियाँ एक-दूसरी को ताक रही हैं, जैसे वह एक-दूसरे को ख़तम करने पर आमादा हों।

आँधी आ रही है। मिले-जुले कल्चर की बात मिट रही है। मिला-जुला लबो-लहजा मिट रहा है। मिली-जुली जायदाद पर कोई अपना हक़ जता रहा है, कोई अपना हक़ खो रहा है। 'एटमॉस्फ़ीयर' बदल रहा है, 'होराइज़न' बदल रहा है, दोस्ती का नज़रिया बदल रहा है। गीत की लय वही है, बोल बदल रहे हैं। नाच का ताल वही है, अन्दाज़ बदल रहा है। जख़्म बदस्तूर मौजूद हैं, उन्हें रेशमी पट्टियों से ढाँपा जा रहा है। कैसा इन्क़लाब आ रहा है।

कठपुतलियाँ कभी यों ही हँस पड़ती हैं, कभी यों ही रोने लगती हैं। उनकी डोर किसी और के हाथ में है। सहमी-सहमी-सी कठपुतलियाँ किसी ख़तरे के ख़्याल से दबक गई हैं, आगे बढ़ने के लिए बुरी तरह ललचा रही हैं।

ढोल नफ़रत की सदाएँ पीट रहे हैं। यह कैसी नफ़रत है, कैसी दुश्मनी है, कैसी खींचातानी है? कठपुतलियाँ कुछ भी तो नहीं समझ सकतीं? कठपुतलियाँ कभी हँस पड़ती हैं, कभी रो देती हैं, जैसे इन्सानियत फ़ना होने जा रही है।

मुहब्बत का दरिया सूख रहा है, नफ़रत का दरिया जन्म ले रहा है। कठपुतलियाँ ख़ामोशी से देख रही हैं, जैसे आख़िरी हुक्म की मुन्तज़िर हों। कुछ हरकत में आ गईं। कुछ ने इशारों पर नाचने से

इन्कार कर दिया, जैसे उन्होंने पर्दे की ओट से नचाने वालों के हाथ पहचान लिये हों। लूट और बरबरीयत के मुख्तलिफ़ नाम हैं, लेकिन उनका अमल तो एक है।

पलक झपकते क्या से क्या हो गया। अपने प्यारे शहर लाहौर के तेवर बिगड़ रहे हैं। शहर की तबियत शहर के आसमान पर अक्स डाल रही है। बातचीत का अन्दाज बदल रहा है। ज़ोर-ज़ोर से बोलने वाले राज़दारी भुला बैठे। अभी एक कठपुतली ने होंठों पर उँगलियाँ रखकर आप को खामोश रहने का इशारा किया। अभी एक कठपुतली ने टोपी उठाकर डरते-डरते सलाम किया। वह देखिए, एक कठपुतली साइकल पर सवार बच-बचकर चलने की कोशिश कर रही है। वह एक कठपुतली अपनी माँ का दामन थामे चली जा रही है। यह तो बाज़ार है। सड़क के एक तरफ़ खड़ी एक कठपुतली के हाथ में अखबार है। कठपुतली अखबार में गरम-गरम खबरें पढ़ रही है।

क्या यह खबर ठीक है कि बिहार में इतने हिन्दुओं ने इतने मुसलमानों को मार डाला ?

इशारों-ही-इशारों में कठपुतलियाँ बातचीत कर रही हैं, जैसे वे मुँह से कुछ न बोल सकती हों :

इस में झूठ भी क्या हो सकता है ? अखबार की खबर भी कभी झूठ हुई है ?

तो हमें बदला लेना होगा।

मुट्ठियाँ कस-कसकर भींच रही हैं कठपुतलियाँ। सख्त तैश में आ रही हैं, जैसे इन्तक़ाम का जज़्बा जाग रहा हो। लो, वह ज़ोर-ज़ोर से हिलने-डुलने लगीं। ठीक है, ठीक है ! इन्तक़ाम तो ज़रूरी है ! क्या कहा ?—कलकत्ते का इन्तक़ाम बिहार में लिया गया ? तो अब बिहार का इन्तक़ाम रावलपिण्डी और नोआखाली में लिया जायगा ? इस का इन्तज़ाम कर दिया गया है। अजी, वहाँ तो यह खेल कभी का खतम हो चुका है। अब यह खेल लाहौर में हुआ चाहता है। पाँच-पाँच दरियाओं के इस

देश में एक छठा दरिया भी तो बहना चाहिए—ख़ून का छठा दरिया।

लो, कठपुतलियाँ हिलने-डुलने लगीं, जैसे एक-दूसरी को पहचानने का जतन कर रही हों। डोर की हरकत तेज़ हो गई। कठपुतलियों ने भेद नहीं पाया। अब शायद बात खुल गई। न जाने क्या हशर होने वाला है।

डोर फिर खिंची। इधर एक पगड़ी उछली, उधर एक टोपी उभरी। हंगामा होते-होते बच गया। कठपुतलियाँ सब बात समझ गईं। एक-दूसरी को पहचानने लगीं, पास-पास आने लगीं। शायद अभी तक डोर खींचने वाले के हाथ अपने ताल पर पूरी तरह जम नहीं सके। शायद कठपुतलियाँ अभी तक पूरी तरह कठपुतलियाँ नहीं बन सकीं।

'गुड़िया और लोरी' की हीरोइन,

ज़ीनत

आज की ख़बर

आज अब्बा जान मुस्लिम लीग के लीडर बन गये हैं। आज उनकी राहनुमाई में लाहौर में बहुत बड़ा जलूस निकाला गया। टिवाना मिनिस्ट्री आख़िरी दमों पर है। तुमने लिखा है कि 'जंगल रोता है' की थीम मिल गई, पर यहाँ तो दूसरा ही ड्रामा लिखा जा रहा है—'लाहौर रोता है'। 'गुड़िया और लोरी' के नाटककार, तुम कब घर लौटोगे?

—ज़ीनत

सुनील पर इस पत्र की प्रतिक्रिया यही हुई कि ज़ीनत यों ही घबरा रही है। लाहौर की हालत इतनी ख़राब कैसे हो सकती है? अब्बा जान लाख काँग्रेस को छोड़कर मुस्लिम लीग में मिल गये हों, लाहौर की इज़्ज़त का तो उन्हें ख़्याल रहेगा। वे हर्गिज़ लाहौर को कलकत्ता या नोआखाली नहीं बनने देंगे।



४५

शबनमा का रंग ऐसा था जैसा अभी-अभी टकसाल से आया हुआ ताँबे का पैसा। काले तहमद पर घुटनों को छूता हुआ काला चोला। सिर पर काली जाली का दुपट्टा, गाँव की दूसरी लड़कियों की तरह वह अपने बालों को घी लगाती थी। गरदन सब से पतली, आँखें हिरनी की-सी, रगों में नया खून, जोबन का उभार, चाल में कुम्मैत बछेड़ी, लाल-लाल पीलू खाने की शौकीन। पानी का घड़ा उठाकर चलती तो क्या मजाल कि जल की बूँद उछलकर चेहरे पर आ पड़े। हाथ में घी का मुँह तक भरा हुआ कटोरा उठाकर चलती, तो क्या मजाल कि एक भी बूँद जमीन पर गिर पड़े। ममदे के सिर पर पगड़ी बँधी, तो इस हूर से उसका निकाह हो गया। इस बात को एक साल होने को आया था।

कच्चा-पक्का की यह हूर तेजकौर की सब से बड़ी सहेली थी। उसे शबनमा की दयानतदारी पर बहुत गर्व था। उसके मामा जी की साँड़नी वह खुशी-खुशी वापिस कर गई थी।

सुनील के सामने तेजकौर ने शबनमा की जी भरकर प्रशंसा की और ज़ोर देकर कहा, "सुनील जी, 'जंगल रोता है' की हीरोइन भी यहीं मिल गई। शबनमा तो अपना पार्ट करने के लिए क्या जायगी लाहौर, यह भार तो तेजकौर पर ही पड़ेगा। क्योंकि तेज ही ऐसी लड़की है जो इस जाँगली लड़की के रोल को निभा सकती है!" उसने अपनी चमकती हुई

आँखें सुनील की तरफ़ उठाईं।

सुनील को एक जाँगली लड़की के समान ही तेजकौर बताने लगती, "घोड़ी, साँड़नी या भैंस हमेशा एक-जैसी आवाज़ में नहीं बोलतीं। उनकी बात हम समझ सकें, चाहे न समझ सकें, लेकिन वे तो हमारे लिए दुआ माँगती नहीं थकतीं। घर का पशु घर के आदमी की बू तक पहचानता है, बल्कि वह तो यह भी जानता है कि घर का फलाँ आदमी क्यों खुश है, फलाँ आदमी क्यों उदास है। कभी हमारी साँड़नी रात को खुर बदलती है या कोई भैंस अड़ाने लगती है तो मेरी आँख खुल जाती है और फिर तो मैं रात भर सो नहीं सकती।"

कभी वह शबनमा के ये अछूते विचार प्रस्तुत करती, "चोर का बच्चा चोर। डाकू का बच्चा डाकू। गुनाहगार का बच्चा गुनाहगार। जाँगलियों को चाहिए कि पंचायत बुलाकर फ़ैसला कर दें कि आगे से कोई उन्हें मुँह न लगाये। कानून तो कानून है। भाड़ में जाय पगड़ी बाँधने की रसम। चोरी करने के बाद ही सिर पर पगड़ी बँध सकती है, यह तो गुनाह है। इस गुनाह पर तो पगड़ी वाला साईं भी अपनी मोहर नहीं लगा सकता। चोरी से तो पुलिस को मौका मिलता है कि जाँगलियों की इज़्ज़त पर हाथ डाले। हथकड़ियों को खुली छुट्टी मिलती है कि आकर हाथों को बाँध दें, बेड़ियों को मौका मिलता है कि अकार जाँगलियों के पैर जकड़ लें। ऐसी बेइज़्ज़ती से तो इन्सान चुल्लू-भर पानी में डूब मरे।"

कभी तेजकौर अपने मामा जी के शब्द दोहराती, "ओ भाई लोगो, अगर जाँगली लोग जारायम पेशा बनते चले गये, तो उन्हाँ दा ही नुकसान होगा। अंग्रेज़ दा कानून तो सब दे वास्ते है। सिंघां दे वास्ते भी और जाँगलियाँ दे वास्ते भी!"

कभी वह विस्तार से इस बात की चर्चा करने लगती कि जब शबनमा मामा जी की साँड़नी लौटा गई थी तो मामा जी ने किस तरह चोरी का मामला रफ़ा-दफ़ा करा दिया था। कभी वह कहती कि वैसे कच्चा-पक्का के इतिहास में वह पहला अवसर था कि किसी जाँगली ने अपने ही गाँव

की साँड़नी पर हाथ डालने का साहस किया था।

कभी तेजकौर शबनमा के ससुर नाबू चाचा की बात दोहरा देती, "हमारी शबनमा ने रिसालदार अर्जुनसिंह को उनकी साँड़नी लौटाकर अपना ईमान रख लिया। बहादुरी तो अन्दर से जागती है, चोरी करने से नहीं। चोरी कहाँ की बहादुरी है?"

शबनमा की छोटी बहन थी रेशमा, जिसका निकाह नादिर से हुआ था। तेज ने सुनील को रेशमा की कहानी भी तो अक्षर-अक्षर कह सुनाई थी। नादिर के पगड़ी बँधने से बहुत पहले ही रेशमा उसे चाहने लगी थी। कई बार उस ने नादिर को ताना भी दिया था कि उसके सिर पर कभी पगड़ी बँधेगी ही नहीं। नादिर था कि फिरंगी के कानून से डरता था। एक दिन वह गाँव से ग़ायब हो गया और तीन महीने तक गाँव में लौटकर न आया। बेचारी रेशमा उसके लिए रोती रही। एक बार तो उसने बताया कि सपने में उस ने नीले घोड़े पर सवार अपने नादिर को चनाब के किनारे-किनारे जाते देखा है। सोने की काठी, चाँदी की लगाम। उसे देखते ही यह ख्याल आ सकता था कि जाँगली तो पैदा होते ही शेर बच्चा होता है, फिरंगी उसे क्या खाकर पकड़ेगा। और फिर जैसे सपने-ही-सपने में यह दृश्य बदल गया। नये लट्ठे का तहमद पहने नादिर जैसे मूँछों को ताव दे रहा है। छाछ का छन्ना एक साँस में चढ़ा गया। हरा कुर्ता और लाल मिरजई। परे खड़े तुरही वाले को उसने आवाज़ दी—तुम क्यों चुप खड़े हो? आज मेरे सिर पर पगड़ी बाँधी जायगी—मलमल की पगड़ी। मैं यह घोड़ा उड़ाकर लाया हूँ। वह जो सामने खड़ा है। आज मैं पगड़ी बाधूँगा। कल मेरा ब्याह होगा रेशमा से! और फिर सपने-ही-सपने में दृश्य बदल गया। जैसे रेशमा से नादिर का विवाह भी हो गया।···



४६

"आइए सुनील जी, आइए !" चन्दू शाह ने गुड़गुड़ी परे रखते हुए कहा, "धन्य भाग हमारे जो अतिथि हमारे घर पधारे।"

सुनील मुसकराता रहा। तेजकौर ने हँसकर कहा, "ये बहुत बड़े लेखक हैं। ऐसा ड्रामा लिखेंगे कि लाहौर भी क्या याद करेगा।"

"कैसा ड्रामा, बीबी ?" चन्दूशाह ने गुड़गुड़ी पर कश लगाया।

"इनके ड्रामा का नाम होगा—'जंगल रोता है'। इस में जाँगलियों का ही दुखड़ा रहेगा, ताया जी !"

"जाँगलियों का दुखड़ा रहेगा ?" शाह जी मुस्कराये, "अच्छा जी ! कभी तो कोई हमारा न्याय करने वाला भी आ ही पहुँचेगा !"

शाह जी ने झट नौकर को शिकंजबीन बना लाने का हुक्म देकर कहा, "महाराज, जरा ठीक से बैठिए ! यह तो शिव जी महाराज की गद्दी है। कितनी गर्मी पड़ रही है ! अब जरा गेहूँ कटेगा तो हमारे घर भी थोड़े दाने आ जायँगे।" फिर शाहजी ने अपनी बहियों की ओर संकेत करते हुए कहा, "हमारी जमीनें तो ये काग़ज़ की बहियाँ हैं। इन पर ही हमारा गेहूँ उगता है, इन पर ही कपास की फुट्टियाँ फूटती हैं। अजी अपना क्या है ? यहाँ आये थे तो खुले हाथ, जायँगे तो खुले हाथ।"

नौकर ने पीतल के नक्काशी किये हुए तीन बड़े-बड़े गिलास सामने ला रखे, तो सेठ जी बोले, "महाराज, यह जंगल है। गरमी भी तो

कितनी पड़ती है। आप ने क्या कहा था जी, कि जंगल रोता है? पहले शिकंजबीन तो पी लो फिर बात करेंगे।"

सबसे पहले सेठ जी ने ही अपना गिलास खाली किया। ताज़ा दम होकर बोले, "ज़माना बहुत बुरा आ गया, किसी भी आँख में शर्म नहीं रह गई। लेते वक्त तो रीं-रीं और देते वक्त कुछ न पूछो, सुनील जी! लाने को तो कुर्क़ी कराकर लानी पड़ती है। लेकिन कदम-कदम पर पैसा ख़र्च होता है। ऐसे ही तो नहीं आ जाती कुर्क़ी!"

तेजकौर बोली, "रेशमा के अब्बा की कुर्क़ी कराने की बात भी तो इन्हें सुनाओ, ताया जी!"

"जी, ऐसी-ऐसी तो कई बातें हो जाती हैं। लो, वह भी सुन लो! वैसे तो बड़ी अजीब बात दिखाई देती थी। रेशमा के अब्बा की कुछ न पूछो। लेकर देना तो उसने सीखा ही नहीं। अल्लाह-रसूल का वास्ता जितना चाहे सुन लो। अब देखो न जी, बही तो हिसाब चाहती है। अपना क्या है? हम तो शिव जी महाराज की गद्दी पर बैठे हैं। जब रेशमा के अब्बा ने बिलकुल ही अँगूठा दिखा दिया, तो चन्दूशाह को कचहरी जाना पड़ा। चन्दू शाह की तो जूती घिस गई, तब जाकर कहीं कुर्क़ी आई। फिर रहीम मियाँ के होश ठिकाने आये। पहले तो उसने अदालत से आये हुए अफसर के लिए दूध की बाल्टी भेजी, फिर दो मुर्ग़ियाँ। वह तो रात-भर यही कहता रहा—आपकी जूतियों के सदके, हमें बचा लो! अगले दिन कुर्क़ी होनी थी। कभी कहता—शाह जी तो सेर का बारह छटाँक तोलते हैं। कभी कहता—शाह जी तो बीस के पचास लेकर छोड़ते हैं। अब देखो न जी, इन बातों से क्या आता-जाता था। अगले दिन कुर्क़ी के लिए हम इकट्ठे होकर उसके घर गये, तो उसने रोनी सूरत बनाकर कहा—मेरे घर में तो तीन सौ का माल भी नहीं है।···बस जी पता नहीं, उसके आँखों से कैसे आँसू छलक पड़े—"

"तब ताया जी, इनके ड्रामे का नाम ठीक ही है—जंगल रोता है!" तेजकौर ने शाह जी को टोक कर कहा।

"मेरी बात तो अभी पूरी नहीं हुई। अब देखो न जी, रेशमा का अब्बा तो बनावटी आँसू बहा रहा था। सच पूछो तो उसे अपने किये का फल मिल रहा था। बही देती है तो लेती भी तो है। जिसके पीछे शिव जी महाराज की शक्ति काम करे और साथ ही फिरंगी का कानून भी हामी भरे, उसका रास्ता किसने रोका है? अब कुर्क़ी शुरू होने ही वाली थी कि कहीं से नादिर आ निकला। अभी उसके सिर पर पगड़ी नहीं बँधी थी। आते ही बोला—'मैं लाहौर से आ रहा हूँ। अल्लाह-रसूल का वास्ता! लाहौर में सब इन्तज़ाम हो रहा है। थानेदारों के पास यह हुक्म भेजा जा रहा है कि जाँगलियों को चोरी के जुर्म में न पकड़ें, अदालतों को यह हुक्म भेजा जा रहा है कि जाँगलियों की कुर्की न करें।' अदालत के दारोग़ा ने नादिर को डाँट पिलाई—'चुप बे, ऐसी तो कोई बात ही नहीं। कुर्क़ी में दखल देने वाला भी मुजरिम होता है। कानून तो बहुत सख्त चीज है। कुर्क़ी का हुक्म निकल जाने पर इसके साथ सरकार की पूरी ताकत रहती है।' लेकिन नादिर तो बहुत गुस्ताख हो गया था। बोला—'जिस तरह फिरंगी के हुक्म से जंगल काट डाला गया था, और ये जमीनें बाहर से आये लोगों को दे दी गई थीं, उसी तरह हम अल्लाह-रसूल के हुक्म से ज़ुल्म का जंगल काट डालेंगे।' अदालत के दारोग़ा की आँखों में जैसे आग भड़क उठी। कुर्क़ी शुरू हुई। दारोग़ा चाहता था कि रुपये की चीज आठ आने में बिक जाय। पर कुर्क़ी न हो सकी!"

"तो आपकी रकम भी डूब गई?" सुनील ने कृत्रिम सहानुभूति दिखाई।

"देखो न जी, शिव जी महाराज ने अपना प्रताप दिखाया। हमारी रकम हमें मिल गई—पाई-पाई। नादिर ने अपनी जेब से तीन सौ के तीन नोट रेशमा के अब्बा के हाथ में थमा दिये और कहा—'चचा जान, शाह जी के रुपये शाह जी के माथे मारो और इन से कहो कि अपना रास्ता नापें।' खैर हम खुशी-खुशी रुपये लेकर लौट आये, और दारोग़ा जी भी पचास से कम पर न टले। हम ने समझ लिया कि यह चन्दूशाह का दान है, और

देखो न जी, गीता में भगवान् कृष्ण ने कितने सुन्दर शब्दों में कहा है—हे अर्जुन, अपने दान का फल प्राप्त करने के लिए प्राणी को फिर जन्म धारण करना पड़ता है।"

तेज और सुनील बड़ी तन्मयता से शाह जी की बातें सुनते रहे। सुनील अपने हृदय के भावों को छिपाने का प्रयत्न कर रहा था। शाह जी बोले :

"जी, यह तो शिव जी महराज की गद्दी है। इस गद्दी पर बैठकर हिसाब तो करना ही पड़ता है। जितने पैसे शिव जी महाराज के निकलते हैं, उनके मन्दिर में पहुँचा दिये जाते हैं। आप ने यहाँ मन्दिर तो देखा ही होगा, छोटा-सा ही मन्दिर है, पर भगवान् का मन्दिर तो छोटा भी बड़ा होता है। और देखो जी, चन्दू शाह ने किसी से एक पैसा चन्दा नहीं माँगा। जो कुछ लगाया शिव जी महाराज ने खुद ही लगाया।"

शाह जी से छुट्टी लेकर सुनील और तेजकौर घर को लौटे तो मार्ग में सुनील गम्भीर नजर आ रहा था। तेजकौर ने उसका ध्यान आकर्षित करते हुए कहा, "एक बात तो रह ही गई थी। नादिर की उस बहादुरी से खुश होकर उसी रात उसके सिर पर पगड़ी बाँध दी गई थी और अगले दिन रेशमा से उसका निकाह भी हो गया था।"

सुनील यह सुनकर मुस्कराया, पर अगले ही क्षण वह फिर गम्भीर नजर आने लगा।



४७

तेज खड़ी होकर पंखा झलने लगी। सुनील ने उसके हाथों से पंखा लेते हुए कहा, "मैं यहाँ कोई मेहमान तो नहीं हूँ, यह तो अपना ही घर है।"

तेज दोबारा पंखा लेकर झलने लगी।

अर्जुनसिंह ने सिक्ख राज से सम्बन्धित अपना ज्ञान प्रदर्शित करते हुए कहा, "उन्नीसवीं सदी दा आरम्भ होने दे नौ बरस बाद ही अँग्रेज सतलज पार वाली रियासतों को अपनी रक्षा में लेने में सफल हो गया। महाराजा रणजीतसिंह को दिन-रात यह चिन्ता सताने लगी कि जो अँग्रेज कलकत्ते से चलकर दिल्ली आ गया और दिल्ली से चलकर सतलज तक आ पहुँचा, वह अब वहीं कैसे रुक सकता है।"

सुनील मन्त्रमुग्ध-सा बैठा रहा।

तेज मुसकराकर बोली, "सुनील जी, मामा जी शाह मुहम्मद की बैत बहुत अच्छी गाते हैं। उस में कवि ने सिक्खों और अंग्रेजों की लड़ाई का आँखों-देखा हाल लिखा है।"

अर्जुनसिंह ने गम्भीर होकर कहा, "ओ भाई लोगो, शाह मुहम्मद दी बैत तो बहुत अच्छी है। उस में सरकार दा लफ्ज़ महाराजा रणजीत सिंह जी दे लिए बरता गया है जो सिंघों को बहुत अच्छा लगता है।"

फिर अर्जुनसिंह मोटी आवाज़ से वह बैत गाने लगा :

जंग हिन्द पंजाब दा होण लग्गा
दोवें पादशाइयाँ फौजां भारीयाँ नी
सने गोलीयाँ आदमी नाल उड्डण
हाथी डिग्गदे सने अम्मारीयाँ नी
अज्ज होवे सरकार ताँ मुल्ल पावे
जिवें ख़ालसे ने तेग़ाँ मारीयाँ नी
शाह मुहम्मदा इक्क सरकार बाझों
फौजाँ जित्त के अन्त नूँ हारीयाँ नी ![1]

× × ×

आइयाँ पलटनाँ बीड़ के तोपख़ाने
अग्गों सिंघाँ ने पासड़े तोड़ सट्टे
सेवा सिंघ ते माघे खाँ होए सिद्धे,
हल्ले तिन्न फिरंगी दे मोड़ सट्टे ।
शाम सिंघ सरदार अटारी वाले
बन्न शस्तरों जोड़ विछोड़ सट्टे ।
शाह मुहम्मदा सिंघाँ ने गोरेआँ दे
वाँग निम्बुआँ लहू निचोड़ सट्टे ।[2]

सुनील की आँखें चमक उठीं, जैसे कवि के शब्दों में उसके सम्मुख अंग्रेज़ों और सिक्खों की लड़ाई का दृश्य उपस्थित हो गया हो ।

---

१. हिन्द और पंजाब में जंग होने लगी । दोनों बादशाहियों की भारी फौजें हैं । गोलियां लगते ही आदमी उड़ने लगे, अम्मारियों समेत हाथी गिरने लगे । आज 'सरकार' (महाराजा रणजीतसिंह) जीवित होते तो कदर करते कि खालसे ने किस तरह तेगें चलाईं । ऐ शाह मुहम्मद, फौजें जीतकर फिर हार गईं ।

२. पलटनें तोपखाने चढ़ाकर आईं । सामने से सिक्खों ने उनके छक्के छुड़ा दिये । सेवासिंह और माघे खाँ ने सीधे हो कर वार किया । फिरंगी के तीन धावे निष्फल कर दिये । अटारी वाले शामसिंह ने शस्त्र बाँधे तो सेना में भगदड़ मच गई । ऐ शाह मुहम्मद, सिक्खों ने गोरों का लहू नीबुओं की तरह निचोड़ डाला ।

अर्जुनसिंह भी खामोश न रह सका, "ओ भाई लोगो, एक बार हिन्दुस्तान के नक्शे पर लाल लकीरें देखकर महाराजा रणजीतसिंह के मुँह से ये शब्द निकल गये थे—एक दिन हिन्दुस्तान का सारा नक्शा लाल हो जायगा।"

"मामा जी, इसीलिए तो महाराजा रणजीतसिंह इस कोशिश में लगे रहे थे कि उनकी अंग्रेज़ों के साथ जंग न छिड़ जाय और दूसरी तरफ महाराजा की यह कोशिश जारी रही कि पंजाब की आर्थिक अवस्था और सैनिक शक्ति इतनी मज़बूत रहे कि समय आने पर अँग्रेज़ से टक्कर ली जा सके।"

"ओ भोलिए, वाहगुरु को कुछ और ही मन्जूर था। उधर महाराजा ने आँखें बन्द कीं, इधर अँग्रेज़ों को सतलज पार करने से कोई न रोक सका।"

तेजकौर ने हँसकर कहा, "जाँगलियों के साथ हमारे मामा जी का व्यवहार बहुत अच्छा है, सुनील जी! जिस तरह महाराजा रणजीतसिंह की फ़ौज में मुसलमान भी थे, उसी तरह हमारे मामा जी मुसलमान जाँगलियों को अपना दायाँ हाथ मानते हैं। आप कहेंगे तो मामा जी आज रात को जाँगलियों का झुम्मर नाच भी दिखा सकते हैं।"

"ओ भोलिए, पहले क्यों नहीं कहा? आज रात को झुम्मर नाच का प्रबन्ध अवश्य किया जायगा।"



४८

सिर पर पूनम का चाँद, और दूर से आता हुआ अलगोज़े का स्वर। तेजकौर को याद था कि किस तरह वह बचपन में अलगोज़े का स्वर सुनकर चौंक उठती थी। उसने चलते-चलते सुनील को बताया, "एक बार जब मैं पूनम की चाँदनी में छत पर सो रही थीं, सोते-सोते मेरे हाथ सीने पर आ टिके। सहसा जैसे अलगोज़े का स्वर मुझे झँझोड़ने लगा। आँख खुली तो मुझे पता ही नहीं चल रहा था कि मैं जाग उठी हूँ। कुछ क्षणों तक मैं इसी अवस्था में ही लेटी रही। मैंने अपने हाथ गालों पर रख लिये, तो मुझे लगा कि ये गाल मेरे ही हैं। मैंने अपने हाथों को ध्यान से देखा, तो मुझे लगा कि ये हाथ मेरे ही हैं। पास वाली छत पर देखा तो घर वाले सो रहे थे। यह हमारा ही घर था, हमारी ही छत थी। मैंने अपने बिस्तर को ध्यान से देखा···"

सुनील मन्त्रमुग्ध-सा तेज की बातें सुनता रहा। अब तो इस प्रकार की कल्पना का कोई प्रश्न ही नहीं था। पूनम का चाँद सिर पर था और अलगोज़ा उन्हें बुला रहा था। ढोल भी बुला रहा था।

जब वह तेजकौर के साथ जाँगलियों की बस्ती के समीप पहुँचा, तो झुम्मर की तैयारियाँ हो रही थीं। वह स्वयं तो सफेद खादी के कुर्ते-पाजामे में था, लेकिन तेजकौर साटन की नीली शल्वार-कमीज़ पहनकर आई थी और हवा में नैनून का दूधिया सफेद दुपट्टा उड़-उड़ जाता था। कानों में

सोने की बड़ी-बड़ी गोल बालियाँ, माथे पर झुकी हुई एक छोटी-सी लट। दुपट्टे को ठीक करने के प्रयत्न में तेज छुई-मुई बन जाती थी।

आबादगरों की बस्ती पीछे छूट गई थी। चार कदम पर जाँगलियों की बस्ती थी। तेजकौर बच्ची तो न थी, अनजान भी न थी। वह तो गाना जानती थी और नाचना भी जानती थी। खून देहाती, पालन-पोषण शहरी, और शिक्षा लाहौर की। पर इस से क्या अन्तर पड़ता था? अलगोज़े का स्वर तो उसे उसी तरह खींचता था जैसे शबनमा और रेशमा को। तेज़-तेज़ डगर भरते वे चले जा रहे थे।

बहुत-से जाँगली जमा थे—झुम्मर नाच में मस्त। ममदा और नादिर घेरे के बीच में बाँहें लहरा-लहरा कर अलगोज़े और ढोल के ताल पर नाच रहे थे। बाँहें ऊपर उठतीं और नीचे गिरतीं। कमर की लचक देखते ही बनती थी।

एक तरफ़ स्त्रियाँ बैठी थीं। स्त्रियों और पुरुषों के संगम-स्थल पर जाकर वे दोनों खड़े हो गये। रेशमा और शबनमा अपनी जगह से उठकर तेजकौर के पास आ गईं।

झुम्मर का गीत गूँज रहा था। दोनों झुम्मरी अब बाँहों में बाँहें डाले नाच रहे थे :

अल्ला बेली
लाइयाँ नैणाँ दे नाल, अल्ला बेली
नहीं जलेंदा, नहीं जलेंदा
ढोला पिया वे जलेसी, अल्ला बेली
लाइयाँ नैणा दे नाल, अल्ला बेली
धागा वट्ट के मैं आले विच्च रक्खिया
नच्चे ताँ ढोल असाडा अल्ला बेली
लाइयाँ नैणा दे नाल, अल्ला बेली
धागे दा मुल्ल वारी धागा देनीआँ
ढोल न देसाँ किदाईं अल्ला बेली

लाइयाँ नैणा दे नाल, अल्ला बेली
जे जाणाँ ढोला लम्में दा जाऊ ए
मल्ली खली आँ दरवाज़ा, अल्ला बेली
लाइयाँ नैणा दे नाल, अल्ला बेली[1]

सुनील मन-ही-मन इस गीत पर मुग्ध हो उठा। गीत का रंग अछूता था—एकदम हृदय को खींच लेने वाला। तेजकौर ने कई बार जाँगलियों के 'ढोला' गान की प्रशंसा की थी। अब उसे लगा कि झुम्मर भी किसी तरह कम नहीं।

तेज ने समीप होकर कहा, "ऐसा नाच तो तुमने पहले नहीं देखा होगा, सुनील बाबू!"

"तुम ठीक कह रही हो।"

"ऐसा नाच तो हमारे जाँगली ही नाच सकते हैं।"

"झूमर तो कई जगह देखा, झुम्मर यहीं देखा।"

"हमने झुम्मर दिखाया, तो तुम भी हमें कभी झूमर दिखाने ले जा सकते हो।"

"बहुत दूर जाना होगा।"

"मैं चलूँगी, चाहे मुझे कितना भी सफ़र क्यों न करना पड़े।" तेज मुस्कराकर परे को सरक गई।"

साथ-साथ ढोल बज रहे थे। अलगोज़े का स्वर दब गया था। गीत उछलकर ऊपर आ गया था। नाच का नशा तनिक भी हल्का होता नज़र न आता था।

---

१. अल्लाह साथी है। नयनों से नयन मिलाये। अल्लाह साथी है। नहीं जायगा, नहीं जायगा, पर ढोला तो चला जायगा। अल्लाह साथी है। नयनो से नयन मिलाये। अल्लाह साथी है। धागा बटकर ताक में रख दिया। हमारा ढोला नाच रहा है। अल्लाह साथी है। नयनों से नयन मिलाये। अल्लाह साथी है। धागे का मोल धागा देती हूँ। अपने ढोला को तो मैं हर्गिज़ न जाने दूँगी। अल्लाह साथी है। नयनों से नयन मिलाये। अल्लाह साथी है। यदि मै जानती कि ढोला पश्चिम की ओर चला जायगा, तो मैं दरवाजा रोककर खड़ी हो जाती। अल्लाह साथी है। नयनों से नयन मिलाये। अल्लाह साथी है।

नादिर और ममदा सहसा रुक गये। वे थक चुके थे। स्त्रियों की ओर से आवाज़ उठी कि अब ज़रा रेशमा और शबनमा घेरे के भीतर जाकर झुम्मर का रंग उभारें।

रेशमा और शबनमा तेजकौर को भी अपने साथ खींच ले गईं। अलगोज़े वाले ने अलगोज़े का स्वर उछाला। ढोलिए भी जैसे पहले नियन्त्रण को पार कर गये हों। जाँगली स्त्रियों ने 'या साईं!' और 'या अली!' की आवाज़ों के साथ तीनों सहेलियों के झुम्मर की प्रशंसा की।

शबनमा ने गीत का बोल उठा लिया था :

मैं जो तैनूँ वे आखिया
थल विच्च बंगला पवा भला
निक्कीयाँ निक्कीयाँ बारीयाँ
ते लग्गे पुरे दी वा भला
मैं जो तैनूँ वे आखिया
थल विच्च खूहा खटा भला
डाचीयाँ पाणी पी गईयाँ
ते तोडे करन दुआ भला
मैं जो तैनूँ वे आखिया
थल विच्च झुग्गड़ा पवा भला
बहूँ ते बहूँ वेमैं सौखली
दो बन्दियाँ दी जा भला।[1]

फिर बारी-बारी कई युवक और युवतियाँ झुम्मर के घेरे में आईं। देर तक पूनम की चाँदनी में अलगोज़े और ढोल के पृष्ठभूमि-संगीत में

१. मैंने तुझ से कहा था न कि थल (मरुभूमि) में बंगला बनवाओ। छोटी-छोटी खिड़कियाँ रखवाओ ताकि पूरबी का झोंका आता रहे। मैंने तुझ से कहा था न कि थल में कुआँ लगवाओ। ऊँटनियाँ पानी पी गईं, ऊँटों के जवान बच्चे दुआ कर रहे हैं। मैंने तुझ से कहा था न कि थल में झोंपडी बनवाओ, जिस में मैं आराम से बैठ सकूं और जहाँ दो आदमियों की जगह तो हो।

झुम्मर का ताल उछलता रहा; जैसे इस समय जाँगलियों को जंगल के कट जाने की कोई चिन्ता ही नहो, न उन्हें साँदलबार की ज़मीनें आबादगरों के हाथों में चले जाने का कोई ग़म हो, और न चन्दू शाह की लाई हुई कुर्कों का कोई भय ही सता सकता हो।

झुम्मर का कोई अन्त नज़र न आता था। एक बार फिर से शबनमा और रेशमा को घेरे में आकर नाचने का निमन्त्रण मिला। अब के युवकों की फ़रमाइश थी और उनकी फ़रमाइश को सब से अधिक बल अलगोज़े वाले हमीदे ने ही दिया था।

झुम्मर के दर्शकों के आश्चर्य का कोई ठिकाना न रहा, जब उन्होंने देखा कि अकेली तेजकौर ही झुम्मर के घेरे में आकर नाचने लगी। शबनमा और रेशमा स्थिर खड़ी रहीं। अलगोज़े का ताल तेज़ होता गया।

सब से अधिक आश्चर्य सुनील को ही हो रहा था, क्योंकि उसने भूलकर भी यह न सोचा था कि तेजकौर में इतना साहस हो सकता है।

कभी तेजकौर मोरनी की तरह नाचने लगती, तो कभी यह लगता कि चनाब की लहरों पर मुर्ग़ाबी तैर रही है। कभी वह अपने नृत्य द्वारा तन्दूर में रोटी लगाने वाली स्त्री का अभिनय करने लगती, तो कभी यों लगता कि कोई नई-नवेली दुलहन किसी मनिहार से अपनी कलाइयों में चूड़ियाँ डलवा रही है।

तेजकौर का यह व्यक्तित्व सुनील के लिए जैसे पहली बार खुला। उसे लगा कि तेजकौर की नस-नस में जाँगली संस्कृति रम गई है और 'जंगल रोता है' की हीरोइन बनने का तो उसे जन्मसिद्ध अधिकार है।

सहसा तेजकौर थम गई। ढोल थम गये। अलगोज़ा थम गया। तेजकौर सुनील के पास आकर खड़ी हो गई।

अलगोज़े वाले हमीदे ने तेजकौर के समीप सरककर उसे वहशत-भरी और ललचाई हुई आँखों से देखा और दबी जबान में कहा—"काफ़िर!"

सुनील घबराया, पर तेजकौर उसी तरह खड़ी रही। सुनील को लगा कि अब यहाँ ठहरना ख्वाह-म-ख्वाह संकट को बुलाना है।

हमीदे की बात ममदे ने भी सुन ली थी। वह हमीदे की बाँह खींचकर बोला, "मुँह में लगाम रख! मेहमान तो फ़रिश्ता होता है, और फिर ऐसे मेहमान!"

फिर ममदे ने सुनील के पास आकर कहा, "चलो, हम आपको छोड़ आते हैं।" और उस ने हाथ की नली बनाकर मुँह पर रखते हुए ज़ोर से नादिर को आवाज़ दी।

नादिर झट आ गया और दोनों मित्र मिलकर तेजकौर और सुनील को रिसालदार अर्जुनसिंह की हवेली की तरफ़ ले चले।



४६

अर्जुनसिंह ने बहुत आग्रह किया कि सुनील कुछ दिन और कच्चा-पक्का में ही रहे, बल्कि वह तो उसे आस-पास के गाँवों में ले जाकर जाँगलियों के आचार-विचार से परिचित कराना चाहता था। पर इस बीच में जीनत का दूसरा पत्र मिलने पर उसका मन बुरी तरह उद्विग्न हो उठा। तेजकौर ने भी कुछ कम ज़ोर न डाला, पर सुनील अपने अन्तिम फैसले पर डटा रहा।

जिस समय वह ममदे के घोड़े पर बैठकर रेलवे स्टेशन की ओर प्रस्थान करने लगा, तो अर्जुनसिंह के बेटे जंगसिंह ने हाथ जोड़कर कहा, "जो कोई भूल-चूक हो गई हो, माफ कर देना।" रिसालदारनी हरबंसकौर और उसकी पुत्रवधू कुलवन्तकौर ने दरवाज़े में खड़े होकर सुनील को विदा दी और बारी-बारी दोनों ने थोड़े-बहुत अन्तर से एक ही बात कही कि वे सुनील की कोई विशेष सेवा नहीं कर सकीं।

तेजकौर ने दीपाली, जीनत और पारुल के लिए अलग-अलग चिट्ठियाँ लिखकर दीं और ज़ोर देकर कहा, "सुनील जी, अगली बार तीनों को अपने साथ लाइये।"

अर्जुनसिंह एक कोस तक सुनील को छोड़ने आया। उसने तो स्टेशन तक पहुँचाने की सलाह बना ली थी, पर सुनील ने उसे यह कष्ट देना उचित न समझा।

रास्ते में सुनील ने ममदे से अधिक बातचीत न की। वैसे वह पूछना

चाहता था कि आख़िर हमीदे को उस रात इतना साहस कैसे हुआ कि तेजकौर के मुँह पर उसे काफ़िर कह दे। किसी तरह उसने स्वयं ही अपने मन को समझा लिया कि शायद हमीदे का मतलब साम्प्रदायिक घृणा प्रकट करने का नहीं था, बल्कि वह तो तेजकौर के सौन्दर्य और यौवन के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित कर रहा था और सहसा आवेश में आकर वह उसे 'काफ़िर' की पदवी देने को मजबूर हो गया था। बात वही थी जो कभी एक कवि ने कही थी—उफ़ तेरी काफ़िर जवानी जोश पर आई हुई!

पीछे से घोड़े को हाँकते हुए ममदे ने कहा, "देखो सुनील बाबू, हमारे बुजुर्ग आज भी कहते हैं कि साँदलबार कई दफ़ा उजड़ी और कई दफ़ा आबाद हुई।"

सुनील उत्तर में केवल 'हूँ' कहकर रह गया। फिर वह सोचने लगा कि यह बात तो बहुत से गाँवों और शहरों के बारे में भी कही जा सकती है। जाँगलियों को उसने बात का धनी और गाँठ का सच्चा पाया था। सफ़ाई में भी वे साँदलबार के आबादगरों से पीछे न थे। उसे याद आया कि एक दिन किस तरह तेजकौर ने अपनी मामी हरबंसकौर और भाभी कुलवन्त-कौर से मज़ाक करते हुए बात-बात में कह डाला था—'इन्सान वह है जो आने वाले वक्त को पहले देख सके। मैं कहती हूँ कि अगर हम लोग यहाँ से हिलने का नाम न लेंगे, तो जाँगली लोग हमें वैसे ही काट डालेंगे जैसे हम लोगों ने उनका जंगल काट डाला था।' इसके उत्तर में भाभी कुलवन्तकौर ने कहा था—'जंगल तो सरकार ने कटवाया था, इसमें हमारा क्या दोष?' पास ही से रिसालदारनी हरबंसकौर कह उठी थी—'जंगल तो कई बार कटा और कई बार उगा, जंगल को उगने से कौन रोक सकता है? पर क्या जंगल का उगना इतना ही जरूरी है? खेती तो बुरी नहीं, और फिर मैं पूछती हूँ बेटा तेज, कि इन्सानों के जंगल को भी कोई कहाँ तक काट सकता है? इन्सान भी उसी तरह ख़तम नहीं होंगे जिस तरह साँदलबार की भूमि पर वण, जण्ड और करील एकदम ख़तम नहीं हो सके।' फिर उसे याद आया कि किस तरह अर्जुनसिंह, जो बैठक में लेटे हुए ये बातें सुन

रहे थे, पास आकर कह उठे थे, 'ये जमीनें तो सिंघों को फिरंगी से नहीं, वाह-गुरु से मिली हैं !'

सुनील को अर्जुनसिंह की बातें याद आ रही थीं। कई राज्य आये, कई राज्य गये—यह बात अर्जुनसिंह कदम-कदम पर कह उठता था। 'राज करेगा खालसा, आकी रहे न कोय !'—यह बोल रिसालदार अर्जुनसिंह के मुँह से बार-बार निकल जाता। सुनील इन सब बातों से ऊब चुका था। वह शीघ्र-से-शीघ्र लाहौर पहुँच जाना चाहता था। लेकिन अभी तो रेलवे स्टेशन काफ़ी दूर था और वहाँ पहुँचकर भी गाड़ी कौनसी झट मिल जाने की आशा थी।

ममदे ने पीछे से आकर स्वयं ही नादिर को बुरा-भला कहना शुरू कर दिया और जोर देकर कहा, "देखो बाबू साहब, हमीदे ने अपने मुँह से लगाम हटाकर ऐसा बुरा लफ़्ज़ कहा, तो समझो कि मैंने भी उसके वह होश दुरुस्त किये कि बेटा जिन्दगी भर याद रखेगा।"

सुनील ने ऊपर से यही कहा, "तुम्हारी क्या बात है, ममदे ?" लेकिन उसे अनुभव करते देर न लगी कि हमीदा के मुँह से निकला हुआ एक ही शब्द उस घृणा का प्रतीक था जो शहर से गाँव में आ पहुँची है। वह सोचने लगा कि यह घृणा जरूर एक-न-एक दिन गुल खिलायेगी, और वह भी थोड़े समय के लिए नहीं। वे बातें और होती हैं जो शहर से चलकर शहर में ही खतम हो जाया करती हैं। कई बार शहर से एक फैशन उठता है, उसे गाँव में पहुँचते-पहुँचते कई साल लग जाते हैं। उधर शहर के लोग उस फैशन को सिरे से ही भूल जाते हैं। फिर जब गाँव से कोई रसिया उस फैशन में शहर में आता है, तो शहर वाले उस फैशन को देखकर हँसते हैं, उस पर आवाजें कसते हैं। 'हिन्दू-मुस्लिम भाई-भाई !' यह नारा भी देहात में शहर से ही पहुँचा था। शहर वाले इसे भूल गये। गाँव में तो लोग इस नारे से पहले भी भाइयों की तरह ही रहते थे। उन्हें यह नारा बहुत पसन्द आया। अब गाँव से कोई आदमी यह नारा लगाता हुआ शहर में आता है तो कोई पसन्द नहीं करता।···



५०

आस-पास के मुसाफिर अपनी ही बातों में उलझे हुए थे, पर एक कोने वाले कुछ मुसाफिरों में तेज़ बहस हो रही थी। विषय था पाकिस्तान! सुनील के जी में तो आया कि उठकर उनसे कहे कि इतनी ताकत न दिखायें, पर वह बुरी तरह थक चुका था।

गाड़ी लेने से पहले ही वह भोजन से निश्चिन्त हो चुका था। बैग को सिरहाने के नीचे रखकर वह लेट गया।

उसे लगा कि उसने साँदलबार आकर अच्छा नहीं किया। लाहौर में न जाने कैसी अवस्था होगी। जीनत घबरा रही होगी। वैसे तो जीनत बहुत समझदार है। हर परिस्थिति में अपने को ढाल सकती है। बड़े-से-बड़े संकट का सामना कर सकती है। पर नारी आखिर नारी है। पुरुष के बिना नारी अकेली कैसे चप्पू चला सकती है! फिर उसे ख्याल आया कि दीपाली भी तो घबरा रही होगी! वह तो अभी अपने चाचा-चाची के नियन्त्रण में है। उसने तो अपना साथी भी नहीं चुना। सहसा उसे 'रूपम्' कार्यालय का ध्यान आ गया, जहाँ उसे हाल ही में सहकारी सम्पादक का कार्य मिला था। उसकी छुट्टी तो तीन दिन पहले ही खतम हो गई थी। वाक़ई बड़ी मूर्खता हुई। आजकल तो इतनी बे-रोज़गारी बढ़ी हुई है कि महीनों कोशिश के बाद कहीं काम नज़र आता है। मैं भी कितना मूर्ख हूँ कि साँदलबार को रोते देखने चला आया। अब शायद मुझे स्वयं

रोना पड़ेगा और साँदलबार मुझे देखने नहीं आयेगा। ज़ीनत भी शायद मुझे क्षमा नहीं कर सकेगी। दीपाली अलग मुझ पर झाड़ डालेगी। शायद मुझे मजबूर होकर दोबारा नारंग साहब की ही खुशामद करनी पड़ जाय और 'जंगल रोता है' लिखकर उनके माथे मारना पड़े। ऊपर से नारंग साहब मेरी प्रशंसा करेंगे, पर मन-ही-मन कहेंगे—आया न बेटा काबू में, प्रूफ़रीडरी ही अच्छी है, बेटा जी!'''कच्चा-पक्का से आते हुए ममदा ने कहा था—'देखो बाबू साहब, साँदलबार को भूल न जाना। हमारा दुखड़ा तो आज तक किसी ने नहीं सुना।' मैंने ऊपर से 'हूँ' कहकर सहानुभूति दिखाई थी। पर भीतर से मैं यही कहना चाह रहा था—काश, तुम समझ सकते कि मेरा अपना दुखड़ा तुम्हारे दुखड़े से कुछ कम नहीं।

एक चल-चित्र के समान उसका जीवन उसकी आँखों के सामने घूम गया—कैसे वह बचपन में ही घर से भाग निकला था, कैसे-कैसे पापड़ बेलने पड़े, घाट-घाट का पानी पीना पड़ा। ज़माने की गरमी-सरदी ने अलग झटके दिये। कैसे वह लाहौर आया। दीपाली एक तरफ़ हट गई। ज़ीनत सामने आकर दुलहन बन गई। 'गुड़िया और लोरी' कोर्स में लग गई। कैसे वह प्रूफ़रीडर से सहकारी सम्पादक बन गया।'''और फिर जैसे एक झटके के साथ उसकी कल्पना का क़िला ताश के महल की तरह गिर गया।''''रेलवे स्टेशन पर ममदा किस तरह देर तक पाँच रुपये का नोट लेने से इन्कार करता रहा था। आख़िर उसने बलपूर्वक वह नोट ममदे की वास्केट की जेब में डाल दिया था और साथ ही जोर देकर कहा था कि वह इस बारे में कभी किसी से ज़िक्र तक नहीं करेगा। ममदे ने जाते-जाते कहा था—रिसालदार जी को इस नोट का पता चल गया तो मुझे कच्चा ही चबा जायँगे।

यह यात्रा उसे बड़ी कठिन प्रतीत हो रही थी। यात्रा तो उसने बहुत की थी, और यात्रा ही से उसने सीखा भी बहुत-कुछ था। पर जैसे पहली बार उसे एक तरह की तनहाई का अनुभव हुआ। मन-ही-मन उसने फ़ैसला किया कि अब कभी ज़ीनत को छोड़कर इस तरह का क़दम नहीं उठायेगा।

गाड़ी चली जा रही थी। उसकी कल्पना पंख फैलाकर उड़ने लगी। काश जीनत साँदलबार की यात्रा में मेरे साथ होती! न जाने वह मुझे कितना कोस रही होगी। कहती होगी—कैसा बुद्धू पल्ले पड़ा! अब तो मैं कभी ऐसी भूल नहीं करूँगा। नहीं जी, लाहौर की हालत बिगड़ेगी नहीं। जीनत के पहले पत्र की भाषा को चुनौती देते हुए उसने मन-ही-मन कहा—तुम्हारी नाज़ुक-बयानी की भी कहाँ तक तारीफ़ करूँ, जीनत? लाहौर का नक्शा भी क्या खूब बाँधा। लेकिन अपना लाहौर अब कलकत्ता और नोआखाली की ग़लतियाँ तो करने से रहा। अरे लाहौर तो इतना थुड़दिला नहीं हो सकता। लाहौर तो गहरे पानी में है। लाहौर जो भी करेगा, समझ-सोचकर करेगा।...



५१

सवेरे गाड़ी लाहौर के स्टेशन पर पहुँची तो सुनील बड़े स्वस्थ मन से बैग उठाकर नीचे उतरा। उसे लगा कि नाव किनारे पर आ पहुँची। लाहौर का रेलवे स्टेशन वैसा ही था जैसा वह छोड़कर गया था। प्लेट फार्म में भी रत्ती-भर अन्तर नहीं आया था।

बाहर निकलकर उसने ताँगा किया और घर की ओर चल पड़ा। सड़क पर लोग आ-जा रहे थे, ताँगे चल रहे थे। मालूम होता था कि सवेरे का सूर्य भी नहीं बदला।

ताँगे वाले ने सुनील को सम्बोधित करते हुए कहा, "दो दिन से हालत फिर कुछ सँभली हुई है साहब, नहीं तो आज ताँगा मिलना भी मुश्किल हो जाता।"

सुनील थोड़ा सहमकर रह गया।

ताँगे वाले ने दोबारा कहना शुरू किया, "अजी दो दिन पहले तो शहर में तीन-चार जगह छुरे चल गये। दंगा होते-होते बचा। शहर में एक-दो जगह आग भी लगी। बड़ा नुक्सान हुआ!"

सुनील ने सामने से इतना ही कहा, "पता नहीं फ़साद करने वालों के हाथ क्या आता है? किराये के अलावा तुम्हें इनाम भी मिलेगा, बाबा! जल्दी-जल्दी ताँगा हाँको।"

बूढ़े ताँगेवाले ने घोड़े को पुचकारा और फिर ताँगे की रफ़्तार तेज कर

दी, जैसे उसका विश्वास हो कि इनाम बहुत मामूली भी नहीं मिलेगा।

सड़क पर काफ़ी रौनक थी पर लोग बहुत सहमे-सहमे-से चल रहे थे। सुनील के मस्तिष्क पर झटका-सा लगा। उसे रह-रहकर जीनत का ध्यान आ रहा था—न जाने जीनत क्या सोच रही होगी!····

जब ताँगा उसके घर के दरवाजे पर जाकर रुका तो उसने देखा कि वहाँ तो ताला लगा है। ताँगे वाले को बड़ी जल्दी थी। उसे तो अपने इनाम से कहीं अधिक अपनी मजदूरी की ही चिन्ता थी। मजदूरी मिलते ही उसने झट ताँगे को चौक की तरफ़ मोड़ लिया।

एक-दो बार सुनील ने अपने घर के ताले को हाथ लगाकर देखा। ताला तो बन्द था। पड़ोस में पराशर साहब से जाकर पूछने पर पता चला कि जीनत तो कई दिन से बागवानपुरा में अपने अब्बा जान के यहाँ चली गई है।

उसे चकित देखकर पराशर साहब ने कहा, "अजी, आप भी तो अपनी ग़लती मानिए। आपको भी तो उन्हें अकेले छोड़कर नहीं चले जाना चाहिए था। वह बेचारी तो जाना ही नहीं चाहती थी। यह तो हम ने सलाह दी, तब जाकर वह मानी।"

सुनील के सामने सब से बड़ी समस्या तो ताले की थी। आखिर उसने पराशर साहब के यहाँ से हथौड़ा मँगवाया और उसकी मदद से ताला खोल लिया।



५१

"लाहौर की हवा इतनी जल्दी बिगड़ जायगी, यह तो मुझे मालूम न था।" सुनील ने कुरसी खींचकर ज़ीनत के समीप बैठते हुए कहा, "कल जब मैं लाहौर के स्टेशन पर उतरा और पुरानी अनारकली का ताँगा लिया, तो ताँगे वाले ने मुझे बताया कि दो-तीन दिन पहले ही यहाँ छुरे चल गये और कई जगह मकान जला दिये गये, तो मेरा ही दिल जानता है कि मैं कैसे यहाँ पहुँचा। और यहाँ आकर देखा—"

"कि मैं ग़ायब हूँ!" ज़ीनत ने टोककर कहा, "और तुम्हें ताला तोड़कर घर में घुसना पड़ा। एक दिन मैं न मिली तो आखिर कौन-सा ग़ज़ब हो गया था? यह तो मैं कभी मान ही नहीं सकती कि तुम मेरे हाथ बिक गये। साँदलबार में जाकर बैठ गये थे, तब मेरी याद कहाँ थी? मैंने दो चिट्ठियाँ लिखीं, और जवाब नदारद। यह सब मुँह देखे की मुहब्बत है। मैं खूब समझती हूँ।"

सुनील सिर झुकाये बैठा रहा, जैसे कोई उत्तर न सूझ रहा हो। फिर किसी तरह उसने ज़ीनत की आँखों में झाँककर पूछा, "तेजकौर की तीनों चिट्ठियाँ पहुँचा दीं?"

एक चिट्ठी तो मेरे ही नाम थी, उसे कहाँ पहुँचाना था? क्या खूब लिखती है तेज!"

"क्या लिखा है तेज ने? मैं भी तो सुनूँ!"

"यही कि तुम्हारे अगले ड्रामा की हीरोइन वही होगी। भई वाह, 'जंगल रोता है' की हीरोइन खूब रोयेगी !"

"अपनी सहेली पर तुम यों फबतियाँ कसने लगोगी जीनत, यह मुझे मालूम न था। खैर छोड़ो, लाहौर के तेवर देखकर अब सुनील की लेखनी तो चलने से रही।"

"बस घबरा गये ?" जीनत ने सुनील को चुनौती दी, "साँदलबार जाना बेकार गया ? क्या तुम्हारी कला का यही तकाज़ा है ?"

सुनील को कोई उत्तर नहीं सूझ रहा था। घबराहट छिपाये नहीं छिप रही थी। जीनत ने बता दिया था कि पारुल की चिट्ठी उसके यहाँ पहुँचा दी गई है, लेकिन दीपाली की चिट्ठी उसके यहाँ पहुँचाने का प्रबन्ध किया जा सका था या नहीं, इस सम्बन्ध में बात को गोल किये जा रही थी। सुनील के जी में तो आया कि दीपाली से मिलने का प्रस्ताव रखे, लेकिन शहर की अवस्था डावाँडोल थी, यूनियनिस्ट मिनिस्ट्री टूट चुकी थी, गवर्नरी राज कायम हो गया था, न्याय और शान्ति की शक्तियाँ शिथिल पड़ गई थीं।

जीनत ने स्वयं ही स्टोव जलाकर चाय बनाई, और सुनील चौक से डबल रोटी और मक्खन लेता आया था। सिंके हुए टोस्टों पर मक्खन ने पहले से कहीं अधिक मज़ा दिया। जीनत देर तक इस बात की प्रशंसा करती रही कि ग्वाले अभी तक दूध दे रहे हैं, पुरानी अनारकली अमन-चैन से साँस ले रही है, दुकानें खुली हैं, लोग आ-जा रहे हैं और घरों की हवा साफ़ है। पर सुनील के मन पर जैसे मनों बोझ आ पड़ा था। वह चाय क्या पी रहा था जहरमार कर रहा था।

जीनत से सुनील की बातचीत तो कल टेलीफोन पर दोपहर को ही हो गई थी, पर वह कल रात बागवानपुरा से इधर नहीं आ पाई थी। आज सवेरे चार बजे अब्बा जान का ड्राइवर उसे यहाँ छोड़ गया था। उस समय सुनील ने तेजकौर की तीनों चिट्ठियाँ जीनत के हाथ में थमाते हुए यह अनुरोध किया था कि लगे हाथ ड्राइवर के हाथ जिसकी चिट्ठी है उसे पहुँचा दी जाय। चिट्ठियाँ लेकर जीनत ड्राइवर के पास चली गई थी

और दो-तीन मिनट तक उसके कान में कुछ कहती रही थी। आज सुबह का वह दृश्य अभी तक उसकी आँखों में घूम रहा था।

"घबराओ नहीं, सुनील!" ज़ीनत ने आश्वासन के स्वर में कहा, "यह बादल छँट जायँगे। फिर से ज़िन्दगी उसी तरह अपनी डगर पर चलने लगेगी। पाकिस्तान बनने जा रहा है। लोगों को आपसदारी तो बनाये रखनी होगी। दंगे-फ़साद और आग से एक-दूसरे को डराने-धमकाने से तो कुछ हासिल होने से रहा!"

"तुम मेरा मतलब नहीं समझीं।"

"क्या?"

"यही कि अब हमें—"

"यहाँ से जाना होगा!" ज़ीनत ने सुनील को टोककर कहा, "यही न? इतने दिन यहाँ रहे। अब यहाँ से दूर जाना होगा?"

"तुम्हारा तो जन्म ही यहाँ हुआ, ज़ीनत! यहीं तुम खेलीं-कूदीं, यहीं तुम्हारी तालीम हुई, और यहीं तुम्हारी शादी भी हो गई एक कलाकार से। तुम्हें तो यही कहना चाहिए। लेकिन मेरी और बात है।"

"ज़ीनत को यह आशा न थी कि सुनील इतनी जल्दी घबरा जायगा। वह देर तक उसे समझाती रही कि अब्बा जान के रहते कोई उनका बाल बाँका नहीं कर सकता, किसी की मजाल नहीं कि कोई उनकी तरफ़ आँख उठाकर भी देख जाय। पर सुनील ने सँभल कर कहा, "मैंने तो घाट-घाट का पानी पी रखा है। मुझे तो हवा के साथ उड़ना ही पसन्द है।"

"एक बात तो तुम भूल ही रहे हो, सुनील!" ज़ीनत ने तले हुए नमकीन काजुओं का लिफ़ाफ़ा अलमारी से निकाल कर सुनील के सामने रखते हुए कहा, "इन्हें चखकर तो देखो।"

सुनील का हाथ लिफ़ाफ़े की तरफ़ न उठ सका। ज़ीनत ने एक काजू निकालकर सुनील के मुँह में डालते हुए कहा, "इतना याद रहे कि यह लाहौर का नमक है, सुनील!"····



५३

सुनील समझ गया था कि जीनत ने जिन्दगी में भी 'गुड़िया और लोरी' की हीरोइन का पार्ट करने का निर्णय कर लिया है। फिर भी वह यही कहता, "इस वक्त तुम 'गुड़िया और लोरी' की हीरोइन तो नहीं हो, जीनत !"

"वह तो मैं हमेशा रहूँगी।" जीनत जोर देकर कहती।

जीनत ने बता दिया था कि दीपाली अपने चाचा-चाची के साथ फ़साद शुरू होने से तीन दिन पहले ही अमृतसर चली गई। यह सब अब्बा जान की राय से ही हुआ था।

एक दिन गली से डुगडुगी बजने की आवाज सुनाई दी। जीनत भाग कर खिड़की में खड़ी हो गई। डुगडुगी तेज होती गई। जीनत ने सुनील का बाजू खींच लिया। गली में मदारी ने अपना तमाशा शुरू कर दिया था। गली की स्त्रियाँ, लड़कियाँ, युवतियाँ और बच्चे मदारी को घेरकर खड़े हो गये थे। मदारी डुगडुगी बजा-बजाकर कह रहा था—'सब को सलाम कर, बन्दरिया !' बन्दरिया पिछली टाँगों पर खड़ी होकर और घेरे में घूम-घूमकर सब को सलाम करने लगी। फिर बन्दर और बन्दरिया का विवाह रचाया गया। सब खुश थे। मदारी ने जोर से डुगडुगी बजाकर बन्दर से कहा—'हाथ को उठाकर सब को सेल्यूट कर, जमूरे !' बन्दर ने हाथ उठाकर सब को सेल्यूट किया। मदारी ने जोर से डुगडुगी बजाते हुए कहा—'क्या चाहिए तुझे, जमूरे ? जो माँगना हो माँग ले।' बन्दर ने पेट

पर हाथ फेरा और मदारी ने फिर से डुगडुगी बजाकर कहा, "सब पेट का धन्धा है, भाई लोगो! पेट की आग ही सब-कुछ कराती है। यही पाकिस्तान बनवाती है, भाई लोगो! गुरु, पीर, मुर्शिद के हुक्म से सब ठीक हो जायगा। हमारी डुगडुगी तो सब जगह बजेगी—हिन्दुस्तान में भी और पाकिस्तान में भी।"

ज़ीनत ने मदारी को आवाज़ देकर अपने पास बुलाया, और तले हुए नमकीन काजुओं का लिफाफा उसके हाथ में थमाते हुए कहा, "शायद इनसे तुम्हारे पेट की आग कुछ बुझ जाय। और फिर यह लाहौर का नमक है, मियाँ मदारी! इसे हलाल करना होगा।"

ज़ीनत और सुनील फिर अपनी कुर्सियों पर आ बैठे। सुनील की समझ में नहीं आ रहा था कि आज ज़ीनत को क्या हो गया था। उसने तो कभी भूलकर भी न सोचा था कि ज़ीनत कभी उसके आड़े आयेगी। वह कहना चाहता था कि दीपाली से मुलाकात नहीं हो सकती तो पारुल से ही हो जाय। लेकिन शहर की जो ख़बरें मिल रही थीं, उन्हें ध्यान में रखकर पारुल के घर तक जाना ख़तरे से ख़ाली नहीं था।

पारुल और जावेद के विवाह का प्रसंग ज़ीनत ने बहुत नमक-मिर्च लगाकर सुनाया, जैसे वह यही सिद्ध करना चाहती हो कि यदि पारुल ने इस मामले में थोड़ी ढील से काम लिया होता तो जावेद अपना मानसिक सन्तुलन ही खो बैठता। उसने उस दावत की विशेष रूप से चर्चा की जो जावेद ने अपने विवाह की खुशी में स्टैण्डर्ड में दी थी और जिसमें अब्बा जान और अम्मी जान को विशेष रूप से बुलाया था। अब्बा जान और अम्मी जान ने भी तो अपने यहाँ इस खुशी में दावत दी थी। दोनों दावतों में दीपाली मौजूद थी। उसने बताया कि दीपाली इस विवाह से पूरी तरह सन्तुष्ट नज़र आती थी, हालाँकि स्वयं उसने विवाह न करने का सिद्धान्त ही अपना रखा था।

सुनील चाहता था कि स्वयं पारुल के मुँह से उसके विवाह की बातें सुने। कभी वह यह समझने का यत्न करने लगता कि आख़िर दीपाली के जीवन

में इतना बड़ा विरोधाभास कैसे स्थान पा सका। वह कहना चाहता था कि तेजकौर साँदलबार में है और दीपाली अमृतसर चली गई, नहीं तो दीपाली ने अब तक केवल चौधरी और तेजकौर का गठबन्धन भी करा दिया होता।

"तुम किस सोच में खोये जा रहे हो, सुनील ?" ज़ीनत ने उसे फिर से आश्वासन देते हुए कहा, " 'गुड़िया और लोरी' के हीरो और हीरोइन में से एक को तो झुकना पड़ा था। और यहाँ भी वही बात होगी जो वहाँ हुई थी।"

सुनील ने अपनी कुरसी ज़ीनत के समीप सरकाते हुए कहा, "मुझे तुम से यही आशा थी, ज़ीनत !"

ज़ीनत मुस्कराई, जैसे उसने स्पष्ट रूप से सुनील के साथ कदम मिलाकर चलने की अनुमति दे दी हो। फिर न जाने उसे क्या शरारत सूझ गई। वह बोली, "मदारी का तमाशा कैसा लगा, सुनील ? ग़ौर से देखा जाय तो यह मदारी भी किसी कलाकार से कम नहीं था। किस तरह उसने हिन्दुस्तान और बनने वाले पाकिस्तान की दुखती रग पर हाथ रख दिया था, कम-से-कम उसके नुक्ते की दाद तो दी होती। वैसे मैं तो तुम्हारे साथ हूँ। नाक में नकेल डलवा ली तो इन्कार कैसा ?" ज़ीनत ने कनखियों से सुनील की तरफ़ देखा, जैसे वह अपनी पराजय में भी किसी विजय का आभास पा रही हो।



५४

जीनत की अम्मी जान और अब्बा जान में अक्सर बहस शुरू हो जाती। अम्मी जान को बुरे-बुरे सपने आते थे। कभी वह सपने में देखतीं कि एक आदमी एक हाथ में पैट्रोल का डिब्बा उठाये और दूसरे हाथ में दीयासलाई की डिबिया लिये उनके घर की ओर आ रहा है, कभी वह देखतीं कि उनका घर जल रहा है और आँख खुलने पर अल्लाह का लाख-लाख शुक्र करतीं कि अभी तो उनकी गली में खैरियत है। अब्बा जान इन सपनों पर बुरी तरह हँसते और कहते, "पाकिस्तान तो खैर बनेगा ही, लेकिन साथ ही यह भी सच है कि बैंक खाली हो चुके हैं और रुपये वाले बड़ी होशियारी से पहले ही अपना रुपया इधर-से-उधर करने में कामयाब हो गये हैं।"

"मैं तो यह मानने से रही कि सियासत का पलड़ा ही सब से भारी होता है।"

"तो तुम हमारा पाकिस्तान न बनने दोगी?"

"पाकिस्तान तो खैर बनेगा ही, लेकिन क्या दंगे-फसाद और आग लगाने की वारदात इतनी ही जरूरी हैं? और जरा यह भी बताइए कि क्या इस्लामी क़ानून इन्सानी क़ानून से अलग है? हम खुद भी कहाँ तक इस्लाम के उसूलों पर चलते हैं कि हम अब ऐसा पाकिस्तान बनाने चले हैं, जहाँ इस्लामी उसूलों पर हुकूमत क़ायम की जायगी! अब तक तो आप हमेशा इन्सानियत के ही हामी रहे थे।"

इसके उत्तर में अब्बा जान ज़ोर देकर कहते, "अगर मैं आज कांग्रेस छोड़कर मुसलिम लीग में शामिल हो गया हूँ, तो इन्सानियत और इन्साफ़ की ख़ातिर ही मैंने ऐसा किया है। अगरचे क़ायदे-आज़म की पेश की हुई दो कौमों की थ्यूरी मेरी समझ में नहीं आ सकी, फिर भी अब मेरे लिए उन लोगों का साथ देना किसी तरह मुमकिन नहीं जो क़ायदे-आज़म के बारे में तरह-तरह की ग़लत-बयानी करते हुए उन्हें अंग्रेज़ के हाथ की कठपुतली कहने की हिमाक़त करते हैं।"

सियासत से उछलकर बात गेंद की तरह घर की ज़िन्दगी को छू लेती और अम्मी जान ज़ोर देकर कहतीं, "ज़ीनत की उम्मीदों के फूल खिलते रहें।"

इसके उत्तर में मियाँ साहब कहते, "मेरी दुआएँ सुनील के लिए हैं। लाख पाकिस्तान बन जाय, पर यह बात तो फिर भी सच रहेगी कि बेटी देकर बेटा लिया जाता है।"

कभी चाय की मेज़ पर बैठे हुए मियाँ साहब के मुँह से निकल जाता, "ज़ीनत की दुनिया आबाद रहे।"

अम्मी जान झट कह उठतीं, "सुनील तो बहुत लायक बेटा है। उसके होते हमारी ज़ीनत को कोई ग़म नहीं सता सकता।"

दो दिन से शहर में आग लग रही थी। गली में कुहराम मचा हुआ था। हर किसी के मुँह पर यह बोल था—शाह-आलमी जल रहा है, अब देख लें मज़ा! बदला लेने के लिए छुरे भी तो चल रहे हैं।....

अम्मी जान घबरा गई थीं। वे जानती थीं कि दिवाना मिनिस्ट्री टूटने का यह पहला नतीजा है। उनका दिल ज़ीनत के लिए तड़प रहा था। उनका बस चलता तो ज़ीनत और सुनील को झट बुला भेजतीं।...



५५

अखबार में इतनी बुरी-बुरी खबरें पहले कभी पढ़ने को न मिली थीं। यह सब अंग्रेज की चाल थी। लाहौर को मौत सूँघ गई थी। वह लाहौर, जो कभी फैशन और अटक-मटक का शहर था, अब लाशों का शहर बनने जा रहा था। अमन कमेटी के प्रयत्न व्यर्थ हो रहे थे। जगह-जगह पुलिस ने डेरे डाल रखे थे, फिर भी दिन-दहाड़े क़तल हो रहे थे। शहर में बुरी तरह भगदड़ मची हुई थी। कमानी वाले चाकू खुल गये थे। लड़कियाँ उठाई जा रही थीं। कर्फ्यू लगा दिया गया था। लेकिन हथगोले बराबर फेंके जा रहे थे। नफ़रत ही नफ़रत, बदला ही बदला!

अम्मी जान सोचतीं—कमली वाला आकर देखे तो हम पर हज़ार लानत भेजे। कोई बात है भला कि जिन्दा इन्सानों की पीठ में छुरे घोंपे जा रहे हैं, खून के फव्वारे उछल रहे हैं, घरों को आग लगाई जा रही है।

माना कि पाकिस्तान ही हमारी तमन्नाओं की मन्ज़िल है, लेकिन किस सड़क से होकर आ रहा है हमारा पाकिस्तान। या अल्लाह, जीनत और मेरे सुनील का बाल भी बाँका न हो।

यह तो सच है कि पाकिस्तान ग़रीबों के लिए रोटियाँ ला रहा है। पाकिस्तान के ख्याल ने सोई हुई कौम को बेदार कर दिया। या अल्लाह, हमें तो उस घड़ी का इन्तज़ार है जब यह खून-खराबा बन्द हो जायगा और तेरे हुक्म से हमारी धरती पर पाकिस्तान बनेगा और हम कहेंगे—

हमारे प्यारे पाकिस्तान, हमारे अच्छे पाकिस्तान, अपनी पाक सरज़मीन पर हम तेरा झण्डा लहरा रहे हैं। तेरे फूल खिल गये, तेरे शहीदों का खून रंग लाया। लेकिन या अल्लाह, हमारे गुनाह माफ़ कर दे।

पाकिस्तान में तो सभी मिल-जुलकर रहेंगे, मुसलमान ही तो नहीं रहेंगे। तुम तो रब्बुल आलमीन हो, हमारे अल्लाह! तुम रब्बुल मुसलमीन तो नहीं हो। तुम्हारे लिए तो सब बराबर हैं!····

ज़ीनत के अब्बा जान घर पर बहुत कम रह पाते थे। घर आते ही गम्भीर होकर पूछते, "क्यों, क्या बात है?"

"कुछ ज़ीनत और सुनील की भी खबर मिली?" अम्मी जान झट पूछ लेतीं।

"उन पर अल्लाह की रहमत है।"

"कोई गया था उनकी तरफ़?"

"जावेद हो आया मेरे कहने पर—जान जोखम में डालकर।"

"उनका क्या इरादा है? मुझे तो रात-भर नींद नहीं आई। मैं कहती हूँ, उन्हें यहीं बुला लो।"

एक दिन अब्बा जान ने बाहर से आते ही बताया कि सुनील का इरादा तो यह है कि वह ज़ीनत को लेकर कुछ दिनों के लिए अमृतसर चला जाय।

"हाय, यह तुम कैसे कह रहे हो? मैं तो ज़ीनत के लिए दुआएँ माँगती रही। तुम भी तो बाप हो। मैं कैसे मान लूँ कि तुम्हें ज़ीनत का कोई दर्द नहीं। एक ज़ीनत की क्यों, हम पर तो अब सुनील की भी ज़िम्मेदारी है।" अम्मी जान मुश्किल से बोल रही थीं।

अब्बा जान कुछ न बोल सके। लेकिन अम्मी जान ने देख लिया कि उनकी आँखें भीग गईं।

"कुछ तो कहो!" अम्मी जान ने सँभलकर कहा। "अगर तुम्हारी भी यही राय है कि वे अमृतसर चले जायँ, फिर तो मैं भी कुछ नहीं कह सकती।"

"वैसे तुम्हारी क्या राय है ?"

"मेरी राय क्या तुम से अलग होगी ? ऐसा काम करना चाहिए, जिस से उन दोनों को गरम हवा भी न लग पाये।" अम्मी जान की आवाज़ भर्राई हुई थी। वह बहुत-कुछ कहना चाहती थीं, लेकिन उनका कण्ठ जवाब दे गया।

अब्बा जान ने धैर्य से काम लेते हुए कहा, "एक ख़बर सुनोगी ?"

"ज़रूर सुनूँगी।" अम्मी जान भौंचक्की-सी होकर देखने लगीं, जैसे मन-ही-मन सोच रही हों कि देखें तान कहाँ टूटती है।

अब्बा जान ने प्रसंग को अधिक लम्बा करने का मोह छोड़कर झट कह दिया, "मैंने सब इन्तज़ाम कर दिया है। जावेद को दोबारा पुलिस की गाड़ी पर सुनील की तरफ़ भिजवाकर आ रहा हूँ। वे दोनों तो कल से ही तैयार थे। अब जावेद उन्हें अमृतसर पहुँचाकर ही लौटेगा। यह मत समझना कि मैं सिर्फ़ एक सियासतदान हूँ, आख़िर मैं एक बाप भी तो हूँ !"

लेकिन जब अब्बा जान ने अम्मी जान के चेहरे पर नज़र जमाई तो देखा कि उनकी आँखों से टप-टप आँसू गिर रहे हैं। "तुम तो बाप बने रहे," उन्होंने उदास स्वर में कहा, "लेकिन मुझे माँ कब बनने दिया ?"



५६

सुनील कुर्ते-पाजामे में था और जीनत नीली साड़ी और सफ़ेद ब्लाउज में। टेक्सी से उतरने से पहले ही उन्होंने जावेद से विदा ले ली थी। ड्राइवर का अभिवादन करना भी उन्होंने आवश्यक समझा। जीनत ने मुसकराकर कहा, "जावेद, अम्मी जान और अब्बा जान से कहना—"तुम्हारी जीनत जहाँ भी रहेगी, हमेशा तुम्हारे प्यार की कर्ज़दार रहेगी, और कहीं भी अपने खानदान का नाम नीचा नहीं होने देगी।"

जीनत की आवाज़ भर्राई हुई थी। जावेद सामने से कुछ न बोला। जीनत ने जावेद की ओर बड़ी करुण दृष्टि से देखा और कहा, "पारुल को भी मेरा ही रूप समझना, जावेद!"

सुनील ने अपनी ही बात छेड़ दी, "अम्मी जान से कहना जावेद, कि मेरे रहते तुम्हारी जीनत को कोई तकलीफ़ न होगी। अपनी जान पर खेल-कर भी मैं उसकी रक्षा करूँगा। हालात ठीक होने पर हम फिर लाहौर आ सकते हैं।" उसकी आँखों में आँसू रुके न रह सके।

जावेद ने आज पहली बार सुनील की आँखों में आँसू देखकर कहा, "दो क़ौमों की थ्यूरी ने ही ये गुल खिलाये हैं, सुनील! लेकिन हम जिन्दा रहे तो कौमों के बीच पुल बनाकर छोड़ेंगे।" जावेद की आँखें चमक रही थीं। आज उसने पहली बार अनुभव किया था कि इन्सानियत एक है और मज़हब और कौमियत के भेद-भाव खाइयाँ नहीं बना सकते।

ज़ीनत टैक्सी से नीचे उतरने लगी तो जावेद ने अपनी जेब से एक बन्द लिफ़ाफ़ा निकालकर ज़ीनत के हाथ में थमाते हुए कहा, "अब्बा जान ने ताक़ीद की थी कि इसे आप दो दिन बाद ही खोलें।"

टैक्सी लौट गई थी। सुनील और ज़ीनत अमृतसर के रेलवे स्टेशन के मुसाफ़िरखाने की एक बैंच पर आ बैठे—तीसरे दर्जे का मुसाफ़िरखाना। टैक्सी में बैठे-बैठे उन्होंने फैसला कर लिया था कि वे तीसरे दर्जे के मुसाफ़िर-खाने में जाकर ही अगला प्रोग्राम सोचेंगे।

एक विराट् प्रश्न उनके सामने था—'अब क्या हो?' सुनील की राय थी कि दीपाली के चाचा जी की दुकान पर चला जाय। वैसे तो ज़ीनत को भी यह बात पसन्द आई, क्योंकि वह जानती थी कि जैसे दीपाली के चाचा जी, वैसे उसके अपने चाचा जी। अनेक वर्षों से दोनों परिवारों में जो मेल चला आया था, वह अद्वितीय था।

अब्बा जान की सहायता के बिना दीपाली के चाचा जी काग़ज़ का पूरा-का-पूरा गोदाम लाहौर से अमृतसर की ब्रांच में कभी नहीं भिजवा सकते थे। उसका यह भी विश्वास था कि यदि उसने चिट्ठी लिखकर दीपाली को पूरी स्थिति से अवगत न कराया होता तो शायद वह लाहौर में ही रहने की ज़िद करती और अपने चाचा जी पर भी यही ज़ोर डालती कि वे भूल कर भी लाहौर न छोड़ें।

एक दुकान से मिठाई और नमकीन लेकर वहीं बैंच पर बैठे-बैठे उन्होंने पेट की आग बुझा ली। ज़ीनत के पर्स में अब्बा जान का बन्द लिफ़ाफा पड़ा था। उसे खोलने से पहले जैसे वह आँखों-ही-आँखों सुनील की अनुमति लेना चाहती थी।

सुनील ने अपनी ही बात छेड़ दी, "लाहौर से चलते वक़्त न हम माता जी से मिल सके न पिता जी से!" और वह ज़ीनत की ओर उत्सुकता-भरी निगाह से देखने लगा।

ज़ीनत भी समझ गई कि भाषा का चोला क्यों बदला जा रहा है। उसने जैसे एक कदम आगे बढ़ाकर कहा, "माता जी को कितना दुःख हो

रहा होगा सुनील, कि उनकी कल्याणी उन से न मिल सकी। पिता जी को भी तो उसका कम दुःख नहीं हो रहा होगा।"

सुनील को लगा कि जीनत के लिए कल्याणी नाम बिल्कुल फिट बैठ गया। चारों ओर मुसाफ़िरों की भीड़ थी। वह आँखों-ही-आँखों में जीनत से कहना चाहता था कि तुम कितनी समझदार हो। उसे यह अनुभव करते देर न लगी कि साड़ी से भी अधिक जीनत की रक्षा इस नये नाम से ही हो सकती है, जैसे जीनत ने कल्याणी का नकाब पहन लिया हो।

सुनील ने मन-ही-मन कल्याणी को पहचानने का यत्न किया और फिर उसने गम्भीर होकर कहा, "कल्याणी, तुम्हारी सहेली दीपाली तो यहीं होगी न? क्यों न उसके यहाँ ही मेहमानी की जाय।"

पास वाली बैंच से उठकर एक सरदार जी उनके पास चले आये और बोले, "आप लाहौर से आये हैं?"

"जी हाँ!" सुनील ने सँभलकर कहा, "और आप?"

"हम तो अमृतसर के ही हैं!" सरदार जी ने सहज भाव से कहा।

सुनील के मन में एकाएक यह सन्देह हो उठा कि कहीं उन्होंने कल्याणी के नकाब के नीचे जीनत का चेहरा तो नहीं देख लिया।

सरदार जी उसी तरह खड़े थे। सुनील ने जैसे अपने रहस्य पर पर्दा-सा डालते हुए कहा, "सरदार जी, क्या बतायें कि इन मुसलमानों ने लाहौर में हम लोगों पर कितना जुल्म किया, हालाँकि कल तक हम दोस्तों की तरह रहते थे।"

"आप चिन्ता न करो, बाबू जी," सरदार जी ने अपनी लम्बी दाढ़ी पर हाथ फेरते हुए कहा, "आप लोगों का बदला तो अब गुरु के सिक्ख लेकर दिखायेंगे।" और सरदार जी मुसाफ़िरखाने से बाहर चले गये।



५७

रेलवे स्टेशन से हाल बाज़ार का ताँगा लेकर ज़ीनत और सुनील शाम से पहले ही दीपाली के चाचा जी की दुकान पर जा पहुँचे।

लाला जी दुकान पर नहीं थे, लेकिन उनके मैनेजर ने बताया कि दीपाली तो अपनी छोटी बहन मीनाक्षी के पास दिल्ली में है। सुनील ने जेब से नोटबुक निकालकर दीपाली का पता लिख लिया और कहा, "देखिए, लाला जी आयें तो कहिएगा कि सुनील और कल्याणी आये थे। उनसे कहना कि हम लोग रात की गाड़ी से ही दिल्ली जा रहे हैं।"

ज़ीनत पिछली सीट पर बैठी थी। सुनील भी उसके पास आ बैठा और उसने ताँगे वाले से कहा, "वापस रेलवे स्टेशन ले चलो!"

ताँगा पीछे की तरफ़ चला तो ज़ीनत बोली, "जब माँ ने मेरा नाम कल्याणी रखा होगा तो सोचा होगा कि उनकी बेटी के रास्ते में कल्याण-ही-कल्याण रहेगा।"

"लाहौर की आग से निकल आये तो कल्याण में क्या कमी रह गई, कल्याणी!"

ताँगा चला जा रहा था। सुनील बोला, "तो वह बन्द लिफाफ़ा खोलकर देखें, कल्याणी?"

"अभी नहीं!"

उनके पैरों के नीचे चमड़े का सूट केस पड़ा था। इस में ज़ीनत और

सुनील के गिनती के कपड़े थे, या फिर पाँच-दस पुस्तकें और 'जंगल रोता है' नाटक के कुछ नोट्स और दूसरे काग़ज़।

ज़ीनत बोली, "भगवान् ही जानता है कि हमारा क्या हाल होगा। पिता जी ने तो पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट से कहकर हमारे लिए ट्रक का इन्तज़ाम करा दिया था। हम चाहते तो घर का सारा सामान उठाकर ले आते, लेकिन तुम न माने।"

"मानता कैसे? आख़िर यह मेरे आत्म-सम्मान का प्रश्न था, कल्याणी!"

"तो अब अपने आत्म-सम्मान को लेकर चाटते रहो!"

"लेकिन तुम घबरा क्यों रही हो, कल्याणी? तुम्हारे रास्ते में तो कल्याण-ही-कल्याण है!"

ताँगा रेलवे स्टेशन के मुसाफ़िरख़ाने पर जाकर रुका, तो सुनील ने नीचे उतरकर अपना सूट केस उतारा और ताँगे वाले को आने-जाने का किराया दे दिया।

ज़ीनत बोली, "कुली ले लो न!"

"कौनसा बहुत भारी है यह सूट केस! हाँ, तुम्हारा पर्स उठाने के लिए कुली ले लेते हैं।" उसकी आँखों में शरारत थी।

टिकटघर की खिड़की पर जाकर उन्होंने दिल्ली के दो टिकट लिये। गाड़ी में अभी दो घण्टे रहते थे। वे फिर मुसाफ़िरख़ाने की बेंच पर आ बैठे और गाड़ी की प्रतीक्षा करने लगे।

मुसाफ़िरख़ाने में बड़ी भीड़ थी। हर कोई अपनी ही बात किये जा रहा था, जैसे शोर का आरकेस्ट्रा बज रहा हो। कान पड़ी आवाज़ सुनाई न देती थी।

इस शोर में सुनील और ज़ीनत की तबियत घबरा रही थी। साथ ही यह भी सच था कि वे इस शोर में अपनी सुरक्षा का आभास पा रहे थे। इतने लोग उनके साथ थे। उन्हें कोई कुछ न कह सकता था।

गाड़ी का समय हो रहा था। वे शीघ्र ही एक डिब्बे में जा बैठे और एक तरफ़ की पूरी सीट पर उन्होंने क़ब्ज़ा कर लिया। ज़ीनत से न रहा

गया। उसने धीरे से लिफ़ाफे का सिरा खोल लिया और यों ही उसने भीतर झाँककर देखा। उसकी आँखें चमक उठीं।

"क्या बात है, कल्याणी ?" सुनील ने जैसे सब समझते हुए भी अनजान बनने की कोशिश की।

"सौ-सौ के नोट हैं," ज़ीनत ने सुनील के कान के समीप मुँह लाकर कहा।

"कितने ?"

"गिने तो नहीं !"

"फिर भी अन्दाज़न कितने होंगे ? आखिर तुम्हारे पिता जी तुम से स्नेह करते हैं।"

"तुम्हारा मतलब है कि इस से उनके स्नेह की गहराई नाप लूँ। उनका स्नेह तो इनके बिना भी उतना ही गहरा है।"

ज़ीनत ने लिफ़ाफे को फिर से पर्स में रख लिया था। बात का रुख बदलते हुए बोली, "दिल्ली पहुँचकर तुम दीपालो से मिल सकोगे।"

डिब्बे में बहुत भीड़ हो गई थी। गाड़ी चली तो सुनील ने मुसकराकर कहा, "तुम थोड़ा लेट जाओ, कल्याणी ! तुम्हारे रास्ते में तो कल्याण-ही-कल्याण है !"



५८

दिल्ली में आये उन्हें बहुत दिन हो गये थे। यहाँ वह बात न थी जो लाहौर में थी, भले ही यहाँ दीपाली भी थी और केवल चौधरी भी। लाहौर बहुत पीछे रह गया था। ज़ीनत का चेहरा साफ़ पता दे रहा था कि उसे कोई ग़म खाये जा रहा है। हालाँकि कनॉट प्लेस में रीगल के समीप उन्हें रहने को एक अच्छा फ्लैट मिल गया था।

सुनील बार-बार कहता, "चलो नये पर्दे खरीद लायें। लाहौर वाले पर्दे तो अब यहाँ आने से रहे।"

ज़ीनत यही कहती, "अभी क्या जल्दी है? ज़रा जम तो लें।"

अब्बा जान के बन्द लिफाफे से सौ-सौ के पचास नोट निकले थे। लिफ़ाफ़ा काफ़ी बड़ा था। ऊपर से सफेद, भीतर से हल्की नीली छींट का ठप्पा। सुनील का ख्याल था कि इस में ज़ीनत की बी० ए० की डिग्री वग़ैरा होगी और शायद ज़ीनत के नाम कोई चिट्ठी भी होगी, लेकिन इस में से तो इतनी बड़ी रकम निकल आई थी।

सुनील को लगा कि यह तो उस पर एक प्रकार का बोझ आ पड़ा, लेकिन ज़ीनत यही कहती रही कि यह तो उसके और अब्बा जान के बीच का मामला है। इस रकम से कहीं अधिक क़ीमती थी वह चिट्ठी, जो अब्बा जान ने अपने मित्र महमूद बेग के नाम दी थी। यह फ्लैट बेग साहब की बदौलत ही तो मिल पाया था और वह भी युद्ध से

पहले वाले किराये पर। पगड़ी का तो सवाल ही न उठा था। चार कमरे का फ्लैट और किराया साठ रुपये। यह किराया देखकर तो लगता था कि फ्लैट मुफ़्त में हाथ आ गया।

जिस दिन वे मीनाक्षी के यहाँ पहुँचे, दीपाली घर पर नहीं थी। सुनील ने मीनाक्षी से परिचय कराते हुए कहा था, "ये हैं मेरी पत्नी कल्याणी देवी !" और फिर जब पड़ोस वाली कोठी से लौटकर दीपाली ने ज़ीनत को देखकर छूटते ही कहा था, "ओह ! ज़ीनत तुम यहाँ ! धन्य भाग हमारे !" तो जैसे मीनाक्षी ने मन-ही-मन कल्याणी के नक़ाब के नीचे से ज़ीनत का चेहरा देख लिया।

उन्हें याद था कि जब वे मीनाक्षी की कोठी से इस फ्लैट में आने लगे थे, तो जहाँ दोनों बहनों को इस बात का खेद था कि वे अधिक दिन वहाँ नहीं रह पाये, वहाँ उन्हें इस बात का सन्तोष भी था कि उनकी कोठी और इस फ्लैट का फासला बहुत ही कम है।

मीनाक्षी की कोठी उस सड़क पर थी, जो कनॉट सर्कस से नई दिल्ली रेलवे स्टेशन को जाती थी। कोठी के पिछवाड़े रेलवे लाइन गुजरती थी, और जब भी रेल के पहियों की दनदनाहट ज़ीनत के कानों में पड़ती थी, या जब रेल का इञ्जन ज़ोर से 'विसल' दे रहा होता था, तो मिसिज़ सुनील को लगता कि ज़िन्दगी एक सफ़र है। यहाँ इस फ्लैट में बैठे-बैठे जैसे उसकी कल्पना में उन दिनों की याद तैरने लगती।

सुनील को इस वातावरण में कई नये लोग मिल गये थे। भटनागर, जगमोहन, प्रदीप और अंजना। ये रंग नये थे, लेकिन ज़ीनत का ख्याल था कि ये भटके हुए इन्सान हैं और उन्हें सही रास्ता दिखाने की आवश्यकता है। दीपाली ने यही राय दी कि उन्हें इन कठपुतलियों से दूर ही रहना चाहिए। कनॉट प्लेस के किसी बरामदे में या किसी रेस्तराँ में इन लोगों से अवश्य भेंट हो जाती।

भटनागर बहुत बड़ा चुटकलेबाज़ था—एकदम खुदरा पौधा। उसे सास-ससुर ही प्रिय थे, जिन के पास वह रहता था। कोई नौकरी मिल गई

तो कर छोड़ी, नहीं तो बैठे-बैठे कला और साहित्य की चर्चा शुरू कर देता और जहाँ भी बैठ जाता महफ़िल का रंग उभार देता। लेकिन उसका अध्ययन पिछले दस वर्ष से वहीं-का-वहीं अटक कर रह गया था।

जगमोहन नाटककार था। उसका जन्म जालन्धर में हुआ था जिस का ज़िक्र वह यों करता जैसे बम्बई, कलकत्ता और मद्रास की गाड़ियाँ भी दिल्ली से नहीं जालन्धर से ही चलती हों। उसका विवाह तो हो चुका था, लेकिन पत्नी से बनती न थी। वह बेचारी जालन्धर के किसी स्कूल में अध्यापिका थी, और पतिदेव यहाँ रंगमंच की प्रतिष्ठा बढ़ाने में संलग्न थे। मित्रों का कहना था कि जगमोहन को नाटक लिखने या खेलने से कहीं अधिक मज़ा तो अपने मित्र प्रदीप और उसकी पत्नी अंजना के साथ घूमने में ही आता है। अंजना की हर अदा उसे पसन्द थी। और उसने प्रदीप के दिल में यह बात बिठा रखी थी कि उसके नाटकों में काम करते-करते अंजना एक दिन बहुत बड़ी एक्ट्रेस बन जायगी।

कई बार जीनत इन नये मित्रों की प्रशंसा करने लगती, तो दीपाली जीनत के भोलेपन पर खीझकर यही कहती, "ये लोग अपनी कोई ज़िम्मेवारी महसूस करते नज़र नहीं आते। देश का बँटवारा होने जा रहा है। जो घाव लग चुके हैं, अभी ताज़ा हैं और जो घाव अभी लगने वाले हैं उनकी कल्पना से ही कलेजा मुँह को आने लगता है। लेकिन कभी आप ने इन लोगों के मुँह से भी कोई ऐसी बात सुनी? कला और संस्कृति पर बहस करते-करते ये कॉफी और चाय के टेस्ट पर बातें करने लगते हैं। कभी बस-सर्विस की बद-इन्तज़ामी की बातें, कभी फैशन की तारीफ़ें, जैसे इनकी ज़िन्दगी यहीं तक हो।"

पास से सुनील कहता, "हमें किसी को बुरा कहने का अधिकार नहीं। कहने वाले तो आज गांधी जी को भी नहीं छोड़ते।"

"गांधी जी की आवाज़ तो इन्सानियत की आवाज़ है," दीपाली गम्भीर होकर कहती, "देश-देश की सीमाएँ तो इस आवाज़ को छू भी नहीं गईं। यह तो सब के लिए है।"



५९

यह घोषणा की जा चुकी थी कि चौदह अगस्त की रात को ही कराची में पाकिस्तान की स्थापना हो जायगी और पन्द्रह अगस्त को सवेरे दिल्ली में स्वतन्त्र भारत की नई सरकार स्थापित हो जायगी। कई बार सुनील ज़ीनत से कहता, "देखो तो कितना बड़ा नाटक लिखा जा रहा है। इतिहास का यह नाटककार भी कितना महान् है। उस के सामने तो मैं भी पर नहीं मार सकता।"

आख़िर पन्द्रह अगस्त भी बीत गया और देश की सीमा के इस पार और उस पार जितना ख़ून बहाया गया, जितनी जगह आग लगाई गई, उसकी ख़बरें सुनील के मन में स्वतन्त्रता की कल्पना को कलुषित करती चली गईं। दिल्ली में भी दंगे शुरू हो गये थे। कई दिन तक तो कोई घर से बाहर भी न निकल सका था। यों लगता था कि घृणा का संगीत ही विजयी होगा। गांधी जी नोआखाली में थे और यहाँ दिल्ली में हिन्दू-मुसलमान आपस में होड़ ले रहे थे। वातावरण में एक शब्द उछल रहा था—'शरणार्थी!' पाकिस्तान से खदेड़े हुए लोग यहाँ आकर शरणार्थी बन गये थे। यहाँ आकर वे बदला लेने पर तुल गये थे।

ज़ीनत बहुत-कुछ कहना चाहती थी, लेकिन जैसे किसी ने उसके होंठ सी दिये। किस को बुरा कहे और किस को अच्छा, वह यह फैसला न कर पाई थी। आज़ादी तो आई, लेकिन इन्सानियत का जनाज़ा निकल गया।

भाई पर भाई हाथ उठा रहा है, माँ-बहन की तमीज़ मिट गई। दिल्ली भी लाहौर बन गई। अंग्रेज़ की चाल सफल हुई। ऊपर से भलामानस, अन्दर से काला नाग। अंग्रेज़ की पॉलिसी ने हमें डस लिया—उधर भी, इधर भी। यह सब ज़हर का ही तो प्रभाव है। नफ़रत भी किसी ज़हर से कम नहीं होती। पाकिस्तान में तो हालत बिगड़ी ही थी, हिन्दुस्तान में भी ख़राब हो गई। वहाँ से भागकर यहाँ आये थे, यहाँ से भागकर कहाँ जायँगे ?

सुनील बहुत शर्मिन्दा था, ज़ीनत के सामने सिर न उठा सकता था। अपने इसी फ्लैट से ही तो उन्हों ने नीचे सड़क पर दिन-दहाड़े मुसलमानों को क़तल होते देखा था, बार-बार उनके लिए 'शिकार' का शब्द प्रयोग होते सुना था। जैसे उनकी समस्त मर्यादा और सांस्कृतिक चेतना कछुवे के समान भीतर-ही-भीतर सिकुड़ गई। मुहल्ले-के-मुहल्ले जला दिये गये थे। मोहल्लों से निकलकर लोग कैम्पों में चले गये थे—पाकिस्तान जाने के लिए तैयार ! वे मजबूर थे। लेकिन उधर से इधर आने वाले भी तो कुछ कम मजबूर न थे। आज़ादी तो आई पर हज़ारों-लाखों लोगों को घर से बेघर कर गई—उधर भी, इधर भी।

दिल्ली की हालत कई दिन तक डावाँडोल रही। ज़ीनत सचमुच बहुत घबरा गई थी। कई बार उसे लगता कि गुण्डे उनका दरवाज़ा तोड़कर उनके फ्लैट पर पहुँच रहे हैं और उसे मौत के घाट उतारकर ही दम लेंगे। उस समय उसे अम्मी जान की याद आती। लाहौर से आते समय वह उन्हें मिल भी तो न सकी थी। अब्बा जान की याद आती, जिन्होंने दंगे-फसाद की हालत में भी अपनी बेटी की मदद करने का ख्याल भुलाया नहीं था। कई बार वह सोते-सोते चौंककर कहती—अब्बा जान, तुम्हारी ज़ीनत मारी गई। अम्मी जान अपनी ज़ीनत को बचा लो !···कई बार जैसे उसका हाथ छाती पर आ टिकता और वह एकदम चौंककर कहने लगती—अपनी कल्याणी को बचाओ, सुनील ! भागो दीपाली ! भागो मीनाक्षी ! दौड़कर आओ, अपनी कल्याणी को बचाओ !···

सुनील उसे समझाता कि उसकी ओर कोई आँख उठाकर भी नहीं देख सकता और किसी के फरिश्तों को भी यह पता नहीं चल सकता कि तुम हिन्दू नहीं हो। कई बार अपनी इस दलील को झुठलाने के लिए वह कहता, "मेरे विचार तो तुम जानती ही हो, ज़ीनत ! और तुम्हारे विचार भी मुझ से छिपे हुए नहीं हैं। हम न हिन्दू हैं, न मुसलमान। हम तो इन्सान हैं। पर आज तो इन्सान होना भी मानो संकट को मोल लेना है।"

ज़ीनत हमेशा साड़ी पहने रहती, फिर भी उसे लगता कि साड़ी दब गई है, शलवार-कमीज उभर आई है। कई बार उसे पारुल का ध्यान आता। वह सोचती कि उस पर भी तो कुछ नहीं गुज़र रही होगी।

एक दिन दीपाली उनके यहाँ आई तो ज़ीनत की आँखों में आँसू आ गये। सुनील घर पर नहीं था। दोनों सहेलियाँ देर तक विषाद में डूबी रहीं।

उनके सामने जैसे उन लोगों का खून उभर रहा हो जो दंगों में मौत के घाट उतार दिये गये थे—उधर भी, इधर भी। जैसे वे अपने सामने आज़ादी की देवी को देख रही हों जिसके वस्त्रों पर अभी तक लहू के दाग़ लगे हुए थे।

"मैं तुम्हारे ग़म को समझती हूँ, ज़ीनत !" दीपाली ने कहा, "लाहौर से आते समय तुम अम्मी जान को भी तो न मिल सकीं !"

ज़ीनत कुछ न बोली। आँखों में आँसू उमड़ आये। उसने सँभलकर इतना ही कहा, "अब तो लाहौर की याद फ़िज़ूल है। बहुत पीछे रह गया लाहौर। बाकी रही अम्मी जान की याद, वह तो मरते दम तक मेरे साथ रहेगी।"



१०

गांधी जी नोआखाली से लौट चुके थे, पर दिल्ली अभी तक शान्त नहीं हुई थी। गांधी जी ने कल ही प्रार्थना-सभा में जोर देकर कहा था कि जो लोग आज अपने पड़ोसियों को क़तल करने पर तुले हुए हैं, वे मुसलमानों के यहाँ से चले जाने पर किसे क़तल करेंगे, फिर क्या वे अपने भाइयों को मार डालेंगे ?

दीपाली आज के प्रार्थना-भाषण से एकदम अभिभूत हो उठी थी। आज जीनत की भी अपने साथ लाने में उसने कोई कसर न उठा रखी थी। पर उसे तो मीनाक्षी रीगल में पिक्चर दिखाने खींच ले गई थी। दीपाली ने मन-ही-मन कहा—कितनी भोली है मीनाक्षी आज भी। किन बातों में पड़ी हुई है। आज के वातावरण में भी उसे सिनेमा सूझता है।

प्रार्थना-सभा के बाद जब सब लोग उठने लगे तो पीछे से किसी ने दीपाली का आँचल खींच लिया।

"अरे तेजकौर !" दीपाली मुस्कराई।

"हम भी आ पहुँचे।"

"कहाँ ठहरे हो ?"

"बहुत दूर, किंग्जवे कैम्प में। मामा जी भी आये हैं।"

"कहाँ हैं मामा जी ?"

"उधर पानी पीने गये हैं, आते ही होंगे।"

दीपाली और तेजकौर गले लगाकर मिलीं, जैसे दीपाली को कोई खोई हुई दौलत मिल गई हो, जैसे दोनों सहेलियाँ किसी जादू के प्रभाव से इकट्ठी हो गई हों।

इतने में पीछे से किसी ने आकर कहा, "धन्य वाहगुरू ! सिंघों को बीबी दीपाली दे दर्शन भी हो ही गये !"

दीपाली ने सरदार अर्जुनसिंह का अभिवादन करते हुए कहा, "यह मेरा सौभाग्य है, मामा जी !"

"हमारे सुनील जी कहाँ हैं ? यहाँ तो कहीं नजर नहीं आते।"

"उन से भी मिलायेंगे, मामा जी !"

चारों ओर शोर था। लोग तेज-तेज कदम बढ़ाये बाहर जा रहे थे। वे भी बाहर आ गये। बड़ी मुश्किल से ताँगा मिला।

"पहले हमारे यहाँ चलिए, मामा जी !"

"ओ भोलिए, हमें तो किंग्जवाई पहुँचना है !"

दीपाली ने हँसी रोकते हुए कहा, "किंग्जवाई नहीं, किंग्जवे कहिये, मामा जी ! हमारा घर तो पहले आता है।"

ताँगा चला जा रहा था। सामने की सीट पर सरदार जी बैठे थे, पिछली सीट पर दोनों सहेलियाँ इठला रही थीं। दीपाली ने गम्भीर होकर कहा, "सुख-चैन से तो आये, मामा जी ?"

"हाँ बीबी, सुख-चैन से ही आये। वाहगुरू सिंघों को ले ही आया। कच्चा-पक्का से तो हमें जाँगलियों ने सही-सलामत निकाल दिया था। अपना-अपना सामान लादकर निकला हर कोई। मेरा बेटा जंगसिंह, और उस दी घर वाली, रिसालदारनी, तेजकौर और मैं बड़े ही आराम से छकड़े पर सामान लादकर निकले। दोनों ऊँट भी साथ थे। पर क्या पूछती हो, बीबी ! हमारी जमीन तो कच्चा-पक्का में छूट गई। अच्छा वाहगुरू की मर्जी !"

"तो रास्ते में कोई तकलीफ़ तो नहीं हुई, मामा जी ?"

"सब से लम्बे काफिले दी लीडरी करते हुए आये वाहगुरू दे सिंघ,

बीबी !"

तेजकौर खिलखिलाकर हँस पड़ी। फिर सँभलकर बोली, "मेरी डायरी में पढ़ लेना काफिले का हाल, दीपाली ! लायलपुर से चला था हमारा काफिला।"

"ओ बीबी, तेज दी बातों में न आना। यह तो सिरे से पगली है। मैं तो उस वक्त भी इसे समझाता था कि इस डायरी-वायरी के चक्कर में न पड़। पर यह न मानी, लिखती ही रही। पता नहीं वाहगुरू ने कैसे तेजकौर दी लेखनी में इतनी ताकत भर दी।"

दोनों सहेलियाँ हँस-हँसकर लोट-पोट हुई जा रही थीं। अर्जुनसिंह ने उनका ध्यान खींचते हुए कहा, "उस काफिले दा हाल किसी लिखत में नहीं आ सकता, बीबी ! सारी बात खोलकर बतानी पड़े तो कई दिन और कई रातें चाहिएँ। बड़ा लम्बा किस्सा है। दिल तो बहुत चाहता है— हो न हो, गांधी महात्मा को उस काफिले दा सारा हाल खोल के सुना दिया जाय। पर वाहगुरू दे सिंघ सोचते हैं कि गांधी महात्मा दा कीमती टाइम क्यों खराब किया जाय।"

दीपाली ने जोर देकर कहा, "अगर कोई ऐसी ही जरूरी बात है सुनाने वाली, तो मामा जी, गांधी जी से वक्त तो मिल सकता है। वे तो ऐसी बातों का आदर करते हैं।"

"पर एक बात है न, बीबी ! सिंघाँ दी बात सुन के प्रार्थना में बोल देगा गांधी महात्मा। अब अगर कहीं सिंघाँ दा नाम ले दिया और सिंघाँ ने अपनी कहानी शुरू कर दी, तो वह तो खतम होने में ही नहीं आयेगी और लोग उठ-उठकर चले जायेंगे। इसलिए चुप ही भली है, बीबी !"

ताँगा कोठी के सामने जाकर रुका। दीपाली ने ताँगे पर बैठे-बैठे ताँगे वाले के हाथ में उसकी मजदूरी थमा दी और वे नीचे उतरे।

भीतर जाकर पता चला कि खाना तैयार है। मीनाक्षी के पति सुदर्शन खन्ना ने सरदार जी का खूब स्वागत किया। मीनाक्षी अभी तक पिक्चर से न लौटी थी। खन्ना जी खाने पर बैठे-बैठे बताते रहे, "रेल के नये डिब्बे

बनाने का डिज़ाइन तैयार किया जा रहा है और स्वतन्त्र भारत की सरकार की कुछ गाड़ियों में तो थर्ड क्लास के डिब्बों में भी बिजली के पंखे लगाये जा रहे हैं। आख़िर हमारी सरकार को जनता का पूरा-पूरा ध्यान है।"

"हमारी किंग्जवाई में तो बिजली की पूरी रोशनी भी नहीं दी गई, राय साहब!" अर्जुनसिंह ने गम्भीर होकर कहा, "बिजली दे पंखे तो देर से ही लगेंगे। घर-जैसा आराम तो कहाँ मिलेगा? पर हम सोचते हैं कि हमारी किंग्जवई ही अच्छी है।"

खन्ना जी ने हँसी को रोकते हुए कहा, "किंग्जवाई नहीं किंग्जवे कहिए, सरदार जी! किंग्जवे कैम्प में हर तरह का आराम दिया जायगा। आख़िर आप भी इसी देश के हैं। सरकार भी इसी देश की है। सच पूछो तो मुझे तो यह 'रिफ्यूजी' या 'शरणार्थी' शब्द अच्छा नहीं लगता।"

"रिफ्यूजी या शरणार्थी दा ठप्पा तो हम लोगों पर अब लग ही गया, राय साहब! आज तो वाहगुरू दे सिंघों को किंग्जवाई पहुँचने दी जल्दी है। फिर किसी दिन वक्त मिलने पर सारा हाल खोलकर सुनायेंगे कि किस तरह वाहगुरू दे सिंघ कच्चा-पक्का से लायलपुर होकर सब से बड़े काफिले दे साथ पाकिस्तान दी हद पार करके अमृतसर पहुँचे, और किस तरह अपने बेटे जंगसिंघ और उस दी घर वाली को छकड़े पर लदे हुए सामान दे साथ जालन्धर जिले में अपने गाँव भेजा, और किस तरह सिंघों को बड़ी मुश्किल से दिल्ली दी गाड़ी मिली।"

दीपाली ने बीच में बोलते हुए कहा, "सरदार जी को आप नहीं जानते। इन्होंने तो दो जंगों में वीरता दिखाई, और इन के कौमी विचार होने के कारण ही तो अंग्रेज ने इनकी पेन्शन जब्त कर ली थी।"

खन्ना जी पर सरदार जी के व्यक्तित्व का बहुत प्रभाव पड़ा। वे चाहते थे कि मेहमान आज रात यहीं रह जायँ ताकि मीनाक्षी से भी उनकी भेंट हो सके, पर अर्जुनसिंह ने किसी शर्त्त पर भी रुकना स्वीकार न किया, क्योंकि उन्हें यह डर था कि पीछे रिसालदारनी को तकलीफ़ होगी।

खन्ना जी ने नौकर भेजकर ड्राइवर को बुलवाया और उसे ताकीद

की कि वह सरदार जी को किंग्जवे कैम्प तक पहुँचा आये।

कार आने में देर न हुई। अर्जुनसिंह ने खन्ना जी का धन्यवाद करते हुए कहा, "एक बात तो वाहगुरू दे सिंघ सुनाकर ही जायँगे, राय साहब! जिस दिन सिंघाँ दी गाड़ी दिल्ली पहुँची और सिंघ अपनी रिसालदारनी और भानजी तेजकौर दे साथ मुसाफिरखाने में पहुँचे तो सिंघों ने सोच-सोचकर कहा—अब हम कहाँ जायँगे? दिल ने यही गवाही दी कि गांधी महात्मा दे पास चला जाय। पर रात बहुत चली गई थी और सिंघों ने सोचा कि इतनी रात गये किसी महात्मा दा द्वार खटखटाना तो ठीक नहीं। बस जी, मुसाफ़िरख़ाने से ही दो डबल रोटियाँ लीं और एक सेर दूध, जिसमें आधा सेर तो पानी ही होगा, राय साहब! यह है हमारी सरकार का इन्तज़ाम। पर जी, कच्चा-पक्का जैसा दूध तो दिल्ली में मिल भी कैसे सकता है? वह रात तो कभी नहीं भूलेगी। पहले तो नींद ही नहीं आती थी। फिर सोये घोड़े बेचकर। अगले दिन आठ बजे से पहले आँख ही न खुली। झटपट उठकर तैयार हुए और चाय का गिलास चढ़ाकर गांधी महात्मा दे द्वार पर पहुँच गये। और उन्होंने सीधा किंग्जवाई दा रास्ता दिखा दिया। अच्छा, तो राय साहब, आज इतनी ही कहानी ठीक रहेगी। लम्बा बखान तो अगली मुलाकात पर ही सुनाया जायगा।"

सरदार जी तेजकौर के साथ कार में बैठ गये, तो दीपाली ने पूछा, "फिर कब मिलोगी, तेज?"

तेजकौर ने झोले से अपनी डायरी निकालकर दीपाली के हाथ में थमाते हुए कहा, "पहले इसे तो पढ़ो। मैं जल्दी ही मिलूँगी। सुनील जी से भी तो मिलना है। मैं कल सवेरे ही आ जाऊँगी।"



१

सूर्य की किरणों का काफ़िला जब उस दिन धरती पर उतरा तो इन्सानों के उस असंख्य जन-समूह को चलते देखकर कुछ-कुछ सहमकर रह गया।

सूर्य समझा कि अनादि काल से चलने वाली धरती अपनी चाल छोड़-कर इन लोगों के साथ तेज़-तेज़-डग भरने लगी है और ये इन्सान धरती पर सोने की बजाय धरती को अपने पैरों से नापने के लिए चले जा रहे थे।

जैसे यह काफ़िला एक चलता-फिरता ख़ेमा हो—बेहंगम, बेजोड़, बेताल! जैसे इन इन्सानों को उनकी जन्मभूमि की मिट्टी उनकी अगली मंज़िल पर छोड़ने जा रही हो। छकड़ों के पीछे छकड़े जा रहे थे, घोड़ों के पीछे घोड़े, बैल और गधे, ऊँट और टट्टू, पालतू कुत्ते और पक्षी, सब गर्द-ग़ुबार से अटे हुए। सभी इस यात्रा के लिए ज़िद कर रहे थे। पैदल और सवार, सभी साथ-साथ रहना चाहते थे।

एक महान् चेहरा नज़र आ रहा था। उसका घेरा तो सूर्य से भी कहीं बड़ा था। लाखों आँखें, लाखों कान, लाखों गर्दनें, पर यह तो एक चेहरा था—मटमैला चेहरा, गर्द से अटा हुआ, फिर भी सूर्य से चमकीला।

एक आवाज़ थी—मीलों लम्बी आवाज़, लाखों कण्ठों से उभरती हुई आवाज़। पर यह तो एक आवाज़ थी—एक चलती-फिरती आवाज़, क़दम-क़दम उभरती धरती की आवाज़, वर्षों तक एक साथ रहने वालों की आवाज़।

वे भयभीत तो न थे। वे कमज़ोर तो न थे। वे तो ताज़ादम थे, साहसी थे। उन्हें तो इतनी भी चिन्ता न थी कि यह यात्रा कितनी लम्बी है। यह लशकर विजय करने तो न निकला था, रक्त-पात का इरादा लेकर तो न चला था। वह तो बल्कि रक्तपात से पीठ मोड़कर जा रहा था, एक नई मंज़िल की ओर। जैसे यह लशकर पुकार-पुकारकर कह रहा हो—बस इन खेतों की खातिर ही इतना शोर था ? लो सँभाल लो ये खेत ! यह हमारी हिम्मत थी कि मैदानों में रुके तो उन्हें स्वर्ग बनाया, सहराओं में रुके तो वहाँ नख़्लिस्तान उगाये, वीरानों में रुके तो वहाँ घर आबाद किये।

इतिहास को शिकायत है कि दुश्मन का लशकर जब भी आया, तलवारें चमकाता आया, लूट-मार और क़त्ले-आम का खेल खेलता आया और वह जिधर से भी निकल गया, अपने पीछे बरबादियाँ छोड़ गया, इन्सानियत को मौत की नींद सुला गया, धरती के वासियों को शताब्दियों की पराजय के नीचे अपमानित करके चलता बना, पर आज तो धरती के वासी स्वयं दुश्मन का पीछा करने चल पड़े हैं—घर छोड़कर, खेत छोड़कर।

ये इन्सान मिटने से इन्कार करते हैं। वे छुरों, नेज़ों और भालों के नीचे सोने से इन्कार करते हैं। वे चले जा रहे हैं। उनकी आवाज़ आगे बढ़ रही है। उनके पशु-पक्षी, उनके छकड़े आगे सरक रहे हैं और उनके देश की मिट्टी के अनगिनत ज़र्रे उनके साथ-साथ चलने के लिए ज़िद कर रहे हैं, जैसे धरती उनका साथ छोड़ने के लिए तैयार न हो।

यह तो एक दरिया है। पर यह दरिया रुकने से इन्कार कर रहा है, पीछे पलटकर देखने से इन्कार कर रहा है। न कोई बूढ़ा है, न जवान; न कोई बच्चा है, न औरत—सब एक हैं। एक पहाड़, एक चलता-फिरता पहाड़, क़दम-क़दम तेज़ होता पहाड़ ! देश की मिट्टी उनके चेहरों पर जम गई, देश की मिट्टी उनकी आँखों का सुरमा बन रही है, देश की मिट्टी उन के साथ यात्रा कर रही है।

काफ़िला निरन्तर चला जा रहा है। पर ज्यों-ज्यों यह काफ़िला आगे बढ़ रहा है, कमीनगी छिलके की तरह उतर रही है। बर्बरता साँप की केंचुली की तरह जीर्ण होकर शरीर का साथ छोड़ने पर विवश हो गई। इन्सानियत ने फिर आवाज़ ऊँची की—जनता आ रही है। इन्सान इस ज़मीन को फिर से जन्नत बनाने के लिए नीचे उतर आया है। वह फिर से गेहूँ उगायेगा, गेहूँ—जिस से सौन्दर्य का निर्माण होता है। गेहूँ—जो जीवन का स्तर स्थिर करता है। गेहूँ—जो गायक के गान को और कलाकार की कला को उभारता है।

काफ़िला बेहंगम ही सही, बैलों, गधों और घोड़ों का साथ ही सही, पालतू कुत्तों और बिल्लियों का साथ ही सही, इसका तो अपना अन्दाज़ है। पशु-पक्षियों से तो काफ़िले की रौनक है। इन्सान ने अपने साथियों का साथ तो नहीं छोड़ा। इन्सान के साथी तो इन्सान के साथ चलने की ज़िद कर रहे हैं। देश का गर्द-गुबार इन्सान के साथ साँस लेने के लिए ज़िद कर रहा है।

जीवन गतिशील है। गर्द-गुबार की नाव पर यह लाखों आँखों वाला और लाखों दिमाग़ों वाला हज़रते-नूह हर प्रकार का पशु, हर प्रकार का इन्सान, हर प्रकार की संस्कृति और हर प्रकार की खेती का बीज लेकर आगे-ही-आगे चला जा रहा है। यह काफ़िला, यह लशकर, यह इन्सानियत का मीलों लम्बा सरगम! इसका एक सिरा अतीत की धुँधली परम्पराओं को छू रहा है तो दूसरा भविष्य के आँचल को पा लेना चाहता है।....

—पढ़ते-पढ़ते दीपाली मन्त्रमुग्ध-सी हो गई। उसके मन में तो आया कि अभी कार में बैठकर किंग्जवे कैम्प चली जाय और तेजकौर से गले मिलकर कहे—'तेज, मुझे तो आज पहली बार लगा कि तुम भी सुनील की तरह कलाकार हो।'

उसी समय मीनाक्षी ने आकर कहा, "दीदी, क्या पढ़ रही हो? क्या यही है वह डायरी जो रात वाली लड़की छोड़ गई थी? तुम ने तो

कहा था कि वह अभी आने वाली है। सचमुच मुझे उस से मिलकर बड़ी खुशी होगी।"

दोनों बहनें देर तक तेज की बाट जोहती रहीं, पर तेज न आई। दीपाली ने डायरी परे रखते हुए कहा, "कैसे बताऊँ कि मुझे इस डायरी में क्या मिला, मीना! मैंने तो कभी नहीं सोचा था कि एक साधारण-सी लड़की इतना अच्छा लिख सकती है। सब से बड़ा काफ़िला लायलपुर से चलकर हमारे देश में पहुँचा था। यह उसी काफ़िले की तस्वीर है।"

"लेकिन तुम तो कह रही थीं दीदी, कि यह लड़की अपने मामा जी के साथ उसी काफ़िले में आई थी। उस ने कैसे उस काफ़िले की इतनी अच्छी तस्वीर खींच दी, क्योंकि तस्वीर के विषय और तस्वीर खींचने वाले के बीच थोड़ा अन्तर रहना तो आवश्यक है।"

"अरे यहीं तो तेज ने कमाल कर दिखाया है, मीना! लो तुम स्वयं पढ़कर देखो।" दीपाली ने डायरी उसके सामने रख दी।



६१

ज़ीनत को अपना कनाट प्लेस वाला फ्लैट जितना पसन्द था, उसका नया नाम कल्याणी भी उसे उतना ही गुदगुदाता था। कई बार वह सोचती कि यह फ्लैट तो वैसा ही है जैसा लाहौर में अब्बा जान का माल रोड वाला फ्लैट था। इसके लिए वह बाज़ार से नये रेशमी पर्दे लेती आई थी। जिस दिन वह पर्दे लेने गई थी, दीपाली भी उसके साथ थी।

दीपाली की राय तो नीले पर्दों के हक़ में थी। उसे याद था कि नीले रंग की प्रशंसा करते हुए उसने उसे कल्याणी कहकर सम्बोधित किया था।

उसे लगता कि तस्वीर तो ज़ीनत की है और फ्रेम कल्याणी का। नई परिस्थितियों का यही तकाज़ा था कि तस्वीर पर फ्रेम ही भारी रहे। अब तो सुनील भी उसे कल्याणी कहकर ही पुकारता था।

वह इस नाम से पूरी तरह भीग न सकी थी, पर उसे लगता कि काश वह कल्याणी के रूप में अजन्ता प्रकाशन के मैनेजर की पत्नी होने के बजाय एक कलाकार की ही पत्नी होती।

जिस दिन दीपाली तेजकौर को लेकर उस से मिलने आई और बार-बार ज़ीनत के स्थान पर कल्याणी का नाम गूँज उठा, तो पहले तो तेजकौर बहुत हैरान हुई, फिर जैसे तेजकौर को लगा कि ज़ीनत मज़े से कल्याणी का रोल अदा कर रही है और नाटक का भी यही तकाज़ा है कि वह इस मेक-अप को बनाये रखे।

सुनील ने एक प्रकाशक के यहाँ काम शुरू कर दिया था। कई बार प्रकाशक महोदय कल्याणी की प्रशंसा करते हुए कहते, "इतनी सुघड़ पत्नी तो किसी विरले को ही मिलती है।"

एक-दो बार तो प्रकाशक महोदय सुनील को सपत्नीक खाने पर बुला चुके थे। इन अवसरों पर जीनत ने कल्याणी का रोल अच्छी तरह निभाया था।

सुनील का बस चलता तो इस काम को तिलांजलि दे देता, क्योंकि वक्त-बेवक्त मालिक को चापलूसी करने के बिना तो यहाँ एक दिन के लिए भी गुज़र नहीं हो सकती थी। प्रूफ़ पढ़ने का बहुत सा काम उसे ही भुगताना पड़ता था। घर की स्थिति यह थी कि जीनत अब्बा जान से मिले हुए रुपये का अधिकांश भाग फ्लैट को सजाने और घर का सामान जुटाने में उड़ा चुकी थी। अब तो रोज़ कुआँ खोदने और रोज़ पानी पीने की समस्या थी।



६३

सुनील को दीपाली के द्वारा तेजकौर की डायरी प्राप्त हुई, तो वह यह देखकर चकित रह गया कि तेजकौर भी एक कलाकार है। 'अजन्ता प्रकाशन' के मालिक से भी वह कई बार इस डायरी की प्रशंसा कर चुका था और ज़ोर देकर कह चुका था, "इसे प्रकाशित किया जाय तो भले ही यह साधारण उपन्यासों की तरह तेज़ी से न बिके, पर इस से संस्था का नाम बहुत ऊँचा उठ सकता है।"

कभी सरदार अर्जुनसिंह मिलने चले आते तो यही पूछते, "यह तो बताओ सुनील जी, कि तेजकौर दी डायरी छपने से हमारा हाथ भी गरम हो सकता है या नहीं ?"

प्रकाशक महोदय ऊपर से आकर यही कहते, "सरदार साहब, आप क्या पीयेंगे ?" इस से पहले कि सरदार साहब कुछ उत्तर दें शिकंजबीन का गिलास उनके सामने आ जाता। सरदार साहब कहते, "सेठ जी, बीबी तेज ने अपनी डायरी विच सच्ची बातें लिखी हैं। बहुत लम्बा काफिला था, सेठ जी ! वाहगुरू दे सिंघ तो यही सोचते हैं कि बीबी तेज दी लेखनी वाहगुरू ने अपने हाथ से चलाई है, नहीं तो सेठ जी, बीबी तेज दी अकल जितनी है, वह मुझ से भूली हुई नहीं है।"

सेठ जी कहते, "चिन्ता की तो कोई बात नहीं, सरदार साहब ! डायरी तो हम छाप ही देंगे। घर का प्रेस है। अच्छी-से-अच्छी स्याही लगायेंगे,

अच्छे-से-अच्छा काग़ज़ । एक बार तो दुनिया मान जायगी कि बीबी तेज-कौर भी कोई लेखिका है। अजी, हमारे मैनेजर साहब ही 'अजन्ता प्रकाशन' के कर्ता-धर्ता हैं। यहाँ सब निर्णय इन्हीं की राय से किया जाता है।"

"देखो जी, वाहगुरू दे सिंघ ज्यादा नहीं माँगते !" सरदार साहब गम्भीर होकर कहते, "बीबी तेज दी शादी दा खर्चा निकल आये, यही हमारी इच्छा है। हम हैं रिफ्यूजी, किस्तबाई में पड़े हैं। किसी तरह टुक्कर तो चल रहा है, पर बीबी तेज दी शादी दा खर्चा तो पहाड़ नज़र आता है, सेठ जी ! सो वाहगुरू दे सिंघाँ दी यही अरदास है कि आप जी ने मदद करनी है।"

"जरूर, जरूर !" सेठ जी सिर हिलाकर कहते, "मैं ने कहा न, सरदार जी, कि चिन्ता की तो कोई बात नहीं। पर अभी तो मैटर भी देखना होगा, देखकर ही तो निर्णय किया जा सकता है। आखिर यह काम ऐसा-वैसा तो नहीं है। आप तो खुद समझदार हैं। आपका मैनुस्क्रिप्ट मिल जाने पर हम जल्दी ही फैसला कर लेंगे।" सेठ जी की वाणी में उदारता तैरने लगती।

एक दिन सरदार साहब बीबी तेज और जीनत को लेकर 'अजन्ता प्रकाशन' के दफ्तर में आये। सेठ जी ने झट शिकंजबीन के पाँच गिलास मंगवाये, और उन्होंने फूल की तरह खिलकर तेजकौर की ओर संकेत करते हुए कहा, "आप ही हैं 'काफिले की डायरी' की लेखिका ?"

सुनील ने बीच में बोलते हुए कहा, "यह ऐसी डायरी है सेठ जी, जिस में लाखों इन्सानों का दिल धड़क रहा है। इसे पढ़ते-पढ़ते तो मेरी आँखों में आँसू आ जाते हैं। हमारे देश के इतिहास में शायद यह पहला ही अवसर था जब इतना बड़ा काफ़िला घर-बार छोड़कर इतने लम्बे सफर पर चल निकला था और यह उसी काफ़िले की सच्ची दास्तान है।"

तेजकौर सामने से मुस्कराती रही। उसकी आँखों में उसकी प्रथम विजय झलक उठी।

ज़ीनत ने मुसकराकर कहा, "मेरा तो ख़्याल नहीं सेठ जी, कि इस में मेरी सिफ़ारिश की भी कोई ज़रूरत है।"

सेठ जी बोले, "आपका कहना सिर-माथे पर, कल्याणी देवी! हम इस पर पूरा विचार करेंगे। और जो सेवा हम से बन पड़ेगी, हम ज़रूर करेंगे।"

इतने में गली से किसी ने आकर कहा, "बाहर एक बंगाली बाबू सुनील को बुला रहे हैं।"

सुनील ने बाहर निकलकर देखा कि विमल बाबू हाथ में झोला उठाये खड़े हैं। वही उलझे हुए घुँघरीले बाल, अस्त-व्यस्त-सी धोती-कमीज़।

दोनों मित्र गले लगकर मिले।



१४

सुनील दिल्ली में न होता तो विमल बाबू अपनी पुरानी शिष्या मीनाक्षी के यहाँ ही ठहरते। जिस दिन वे सवेरे की गाड़ी से दिल्ली स्टेशन पर उतरे, सीधे मीनाक्षी के यहाँ ही पहुँचे थे। वहाँ दीपाली भी मौजूद थी और उसकी जबानी यह पता चलते देर नहीं लगी थी कि सुनील भी यहीं है। दोपहर का खाना खाने के बाद ही वे सुनील का पता पूछकर ढूँढते-ढूँढते दरियागंज में 'अजन्ता प्रकाशन' जा पहुँचे थे।

वहाँ जीनत से भी मुलाकात हो जायगी, यह कौन जानता था। सरदार अर्जुनसिंह और उसकी भानजी तेजकौर से मिलकर तो उन्हें लगा था कि वे दिल्ली में नहीं, लाहौर में बैठे हैं। पर लाहौर कहाँ था, यह तो दिल्ली थी—स्वतन्त्र भारत की राजधानी दिल्ली। वहाँ बैठे-बैठे बार-बार उन्हें नोआखाली का ध्यान आ रहा था—नोआखाली, जो उनकी जन्मभूमि थी, जहाँ उनकी माँ रहती थी। नोआखाली, जो अब पाकिस्तान में चली गई थी और जहाँ से उनकी माँ ने हिलने से साफ़ इन्कार कर दिया था। उन्हें रह-रहकर माँ के शब्द याद आ रहे थे, माँ की आँखों में डबडबाये हुए आँसू याद आ रहे थे। माँ को तो नोआखाली का वही रूप प्रिय था जो सदा से चला आया था। जैसे राजनीतिक चौखटा बदल जाने के बावजूद नोआखाली जरा भी न बदली हो।

'अजन्ता प्रकाशन' से लौटते समय मिसेज़ सुनील और सुनील ताँगे में

पिछली सीट पर बैठे थे, अगली सीट पर थे विमल बाबू। सरदार अर्जुन-सिंह और तेजकौर वापस किंग्जवे कैम्प चले गये थे। ताँगा कनॉट सरकस की तरफ़ चला जा रहा था।

सुनील 'अजन्ता प्रकाशन' के मालिक पर व्यंग्य कसता रहा। विमल बाबू सोच रहे थे कि कहाँ नोआखाली और कहाँ दिल्ली। बनारस तो कभी का छूट गया था। मीनाक्षी के विवाह के बाद जब उसके पति सुदर्शन खन्ना की बदली मुग़लसराय से दिल्ली की हुई तो विमल बाबू मीनाक्षी के आग्रह से दिल्ली चले आये थे। उन्हीं दिनों वे एक बार लाहौर गये थे जहाँ जीनत से उनकी भेंट हुई थी। मिसेज़ सुनील के रूप में तो उन्हों ने दीपाली की ही कल्पना की थी, पर परिस्थितियों को तो कुछ और ही मन्ज़ूर था। एक आँधी चलती है जो मनुष्यों को तिनकों के समान उड़ाये फिरती है। छोटे-छोटे भूकम्प आते हैं, जब लोग एक-दूसरे के समीप सरक आते हैं या एक-दूसरे से परे चले जाते हैं। सहसा दीपाली का चेहरा विमल बाबू की कल्पना में उभरा, जैसे दीपाली कह रही हो—विमल बाबू, यदि तुमने मेरी कल्पना मिसेज़ सुनील के रूप में की थी तो तुम मुझे बिलकुल नहीं समझ सके थे। मैं तो अपने पथ पर अडोल हूँ। मुझे तो अपना आदर्श प्रिय है।···ताँगे वाला घोड़े को पुचकार रहा था और घोड़ा ताँगे को दौड़ाये लिए जा रहा था।

"विमल बाबू, देखा समय का फेर!" सुनील ने गर्दन घुमाकर कहा, "लाहौर में कितने मज़े से बैठे थे हम लोग! अब यहाँ आ पड़े। फिर भी यह हमारी श्रीमती जी की हिम्मत है कि इन्होंने हमें इन्सान बना रखा है।"

"बाबा, ई तो हम नहीं मानने सकता। इन्सान तो हमारा सुनील उस समय भी था, जब वह नाटक लिखता था और नई-नई हीरोइन की कल्पना करता था।"

"आप ठीक कह रहे हैं, विमल बाबू!" मिसेज़ सुनील ने गम्भीर होकर कहा, "इनकी तो यही आदत है। हर किसी को बनाने लगते हैं।

खैर, आप से तो इनकी आदत छिपी हुई नहीं। बाकी रही इन्सान बनाने की बात। मैं सच कहती हूँ, वह तो मेरे बस का रोग नहीं है।"

"देखते जाओ, विमल बाबू!" सुनील ने हँसकर कहा, "शादी के बाद इन्सान को अपनी श्रीमती जी से बहुत-कुछ सुनना पड़ता है। खैर आप तो इस मामले में खुश-किस्मत हैं, या फिर हमारी दीपाली खुश-किस्मत है।"

"दीपाली का नाम लेकर मुझे चिढ़ाने की कोशिश कर रहे हैं आप?" मिसेज़ सुनील ने सामने से वार को रोका।

ताँगा चला जा रहा था। ताँगे वाला कभी घोड़े को पुचकारता, कभी चाबुक दिखाता। सुनील और मिसेज़ सुनील खामोश हो गये थे। विमल बाबू की कल्पना में कभी बनारस की गलियाँ घूम जातीं, तो कभी नोआखाली का समीपवर्ती दृश्यपट उभरता जो उसके चित्रों का प्रिय विषय रहा था।

एक झटके के साथ ताँगा रुका, तो पहले विमल नीचे उतरा, फिर मिसेज़ सुनील और सुनील नीचे उतर गये। ताँगे वाले को मज़दूरी देकर चलता कर दिया गया।

सुनील का फ्लैट विमल बाबू को बहुत पसन्द आया।

"यह सब मिसेज़ सुनील की बदौलत है!" सुनील ने ड्राइंग-रूम की सजधज की ओर संकेत करते हुए कहा, "पर दिल्ली में आकर भी लाहौर नहीं भूलता, विमल बाबू!"

खाना तैयार था। रात उतर आई थी। नौकर ने संकेत पाते ही झट खाना लगा दिया। खाने पर बैठे-बैठे मिसेज़ सुनील ने गम्भीर होकर कहा, "मीनाक्षी तो कह रही थी कि विमल बाबू अपनी माँ को लेकर ही आयेंगे।"

"हम तो बहुत बोला कि माँ दिल्ली चलना ही उचित। पर माँ बोला—बेटा विमल, आमार प्राण तो नोआखाली में ही देह-त्याग करना माँगता। हम बहुत बोला, बहुत बोला, पर हमारा माँ बोला—बेटा विमल, पाकिस्तान आमार सोनार पाकिस्तान! पाकिस्तानेर नोआखाली सोनार नोआखाली। सोनार नोआखाली आमार स्वप्नेर नोआखाली!"

मिसेज़ सुनील की आँखों में गुड़िया और लोरी की हीरोइन घूम गई। उसने गम्भीर होकर कहा, "विमल बाबू, मुझे बंगला तो नहीं आती। लेकिन मैं समझ गई कि आपकी माँ को नोआखाली कितनी प्यारी है। काश, 'गुड़िया और लोरी' की हीरोइन को भी अपना लाहौर इतना ही प्यारा हो सकता! शायद इन्होंने आपको अपने नाटक के बारे में ज़रूर लिखा होगा। लाहौर की स्टेज पर मैंने ही 'गुड़िया और लोरी' की हीरोइन का पार्ट किया था। लेकिन अफ़सोस, जब मेरे अपने इम्तहान का वक्त आया तो मैं खुद पूरी न उतर सकी।"

सुनील खामोशी से विमल बाबू और मिसेज़ सुनील की बातें सुन रहा था। अब उससे न रहा गया, "मिसेज़ सुनील से कोई कहे कि उसे यों आँसू बहाने की तो ज़रूरत नहीं। अगर वहाँ नोआखाली में विमल बाबू की बुढ़िया माँ ने किसी भी शर्त पर नोआखाली छोड़ने से इन्कार कर दिया, तो मैं तो कहूँगा कि उसने वहाँ 'गुड़िया और लोरी' की थीम को ही उजागर किया।"

मिसेज़ सुनील कुछ न बोली। उसकी आँखों में लाहौर घूम गया—लाहौर, जहाँ उसकी अम्मी जान थीं, जहाँ उसके अब्बा जान थे। लाहौर, जहाँ वह पैदा हुई, खेली-कूदी और पढ़-लिखकर बड़ी हुई। लाहौर, जहाँ की एक अदालत में सुनील से उसकी सिविल मैरेज हुई।

खाने से फारिग़ होकर वे ड्राइङ्ग-रूम में आ गये। मिसेज़ सुनील ने मीनाक्षी के यहाँ कहलवा भेजा कि विमल बाबू हमारे यहाँ ठहरेंगे।



६५

एक दिन सुनील टेबल लैम्प के प्रकाश में अपने नये नाटक 'जंगल रोता है' की पाण्डुलिपि निकालकर बैठ गया। मिसिज़ सुनील बोली, "इसे आज रहने दो। आज तो वह डायरी निकालो!"

"हाँ हाँ," विमल बाबू ने उत्सुकता से कहा, "तेजकौर का डायरी का चमत्कार तो हम भी अवश्य देखना माँगता!"

सुनील डायरी खोलकर एक जगह से पढ़ने लगा :

इस काफ़िले में चलते-फिरते शहर आबाद थे। सब से आगे लायलपुर वाले थे, जिनका विचार था कि वे ही मानवता की इस अथाह धारा के पथ-प्रदर्शक हैं।

स्थान-स्थान पर छोटे-छोटे काफ़िले उस बड़े काफ़िले में सम्मिलित हो रहे थे। आसपास के गाँवों से मुसलमान नम्बरदार अपने-अपने गाँव से बचाये हुए हिन्दुओं और सिक्खों को काफ़िले में यों छोड़ने आते जैसे कोई भक्त बहती जलधारा में किसी पूले पर रखकर जलते दीये को छोड़ दे।

दिन की रोशनी में कहीं-कहीं मुसलमान जाँगली गीली आँखों से काफ़िले को गुज़रते देखते और आकाश की ओर हाथ उठाकर अल्लाह से दुआ माँगते। कहीं ऐसा भी होता कि पास से ढोल की आवाज़ सुनाई दे जाती और काफ़िले वाले यह सोचकर डर जाते कि उन पर आक्रमण होने वाला है।

चले चलो, चले चलो !—यही इस काफ़िले का नारा था। जो चलते-चलते गिर पड़ते और चलने में असमर्थ नज़र आते, उन्हें फौजी ट्रकों और लारियों में स्थान दे दिया जाता। मार्ग में रात को जहाँ भी पड़ाव डाला जाता, सबको आटा और चावल बाँटा जाता।

तारों की छाया में चूल्हे जलाये जाते। गेहूँ की रोटी के साथ-साथ काफ़िले वालों की आशाएँ भी सिंकती नज़र आतीं। ताज़ा रोटी के समान उनका भविष्य उनके साथ था। यह भी प्रबन्ध था कि जहाँ भी पड़ाव डाला जाय, सैनिक लोग झठ पानी निकालकर कैनवस के हौज़ में भर दें और सबको ताज़ा और साफ़ पानी मिलना आरम्भ हो जाय। कुएँ से पानी खींचने वाले इंजन की आवाज़ भी यही कहती प्रतीत होती—चले चलो, चले चलो !

काफ़िले के साथ-साथ चलने वाले ट्रकों पर सैनिक बैठे नज़र आते—कन्धों पर राइफलें और स्टेनगनें उठाये हुए। कभी वे मजे में आकर हवा में गोलियाँ छोड़कर अपनी वीरता जताने लगते। काफ़िले से आती हुई भाँति-भाँति की आवाज़ें एक आर्केस्ट्रा का रूप धारण कर लेतीं। सुबह-सवेरे जब काफ़िला निर्जन पथ से गुज़र रहा होता, तो वन के पशु-पक्षी भयभीत होकर भाँति-भाँति की आवाज़ें निकालते। काफिले का एक ही स्वर था—बढ़े चलो, बढ़े चलो !

काफ़िले वालों के सिर पर अक्तूबर का सूरज एक प्रिय और हितैषी मित्र के समान अपनी सुमधुर धूप बरसाता, जैसे अक्तूबर का सूरज पूछ रहा हो—थक तो नहीं गये, काफ़िले वालो ?

जब यह काफ़िला जड़ाँवाला के पास से गुजरा तो कारख़ानों की चिमनियों ने काफ़िले का स्वागत किया। जैसे मन्दिरों के कलश और मस्जिदों के गुम्बद तथा मीनार भी कह रहे हों—अच्छा तो तुम जा रहे हो, काफ़िले वालो ? थोड़ा रुक क्यों नहीं जाते ? थोड़ा आराम क्यों नहीं कर लेते ? लेकिन इस मीलों लम्बे काफ़िले का तो एक ही आदर्श था—चले चलो, चले चलो !

मन्दिरों और मस्जिदों वाले ख़ुदा से जैसे उन का विश्वास उठ गया हो। काफ़िले वाले तो केवल उस धरती की ओर देख रहे थे जो उनके सामने दूर तक चली गई थी।

काफ़िले का हर पड़ाव आशा का पड़ाव प्रतीत होता था। तारों की छाया में आराम करने के पश्चात् काफ़िला फिर चल पड़ता और जब सूरज अपना मुँह निकालकर इन लोगों की ओर देखता तो जैसे मुसकराकर पूछता—अच्छा तो तुम बिलकुल ताज़ा-दम हो? इन्सानों और पशुओं की आवाज़ें जैसे सूरज का धन्यवाद करतीं, धरती भी जैसे मुसकरा उठती और हर मोड़ पर अपना ममता-भरा आँचल फैलाकर कहती—मैं तुम्हारे साथ हूँ, मेरे बेटो!

कहीं सड़क के दोनों ओर काफ़िले वालों के लिए बाज़ार लग जाता। कहीं लोग अपने-अपने गाँव से रोटियाँ पकवाकर लाते, और बच्चों और बूढ़ों को रोटियाँ बाँटकर आकाश की ओर देखते और इन लोगों के लिए दुआएँ माँगते जो घर से बेघर होकर भी ख़ुश नज़र आते थे और जिन के हौसले बुलन्द थे।

कहीं कोई पशु दम तोड़ देता तो उसे घसीटकर एक तरफ़ छोड़ दिया जाता। कहीं कोई बीमार या कमज़ोर गिरते हुए कहता—अच्छा तो भगवान् के हवाले। हम जा रहे हैं! सूरज देख रहा हो चाहे तारे झाँक रहे हों, गिरने वाले भी जैसे हँसते-हँसते गिरते।

कहीं किसी पशु की लाश पर गिद्ध झपटते नज़र आते, कहीं किसी लाश पर कुत्ते मुँह मारते दिखाई देते, लेकिन काफ़िले का तो एक ही आदर्श था—चले चलो, चले चलो!

अनगिनत कदम उठते चले जाते—इन्सानों और पशुओं के कदम और छकड़ों के पहिये। यह आम हिदायत थी कि किसी पुल पर से गुज़रते हुए काफ़िले वाले बिलकुल न रुकें। पड़ाव डाला जाता तो लोग अपने साथियों को ऊँची आवाज़ें दे-देकर बुलाते। नीचे दीये टिमटिमाते, ऊपर तारे जगमगाते। कोई वारिस शाह की हीर छेड़ देता, कोई ढोलक और सारंगी

पर अपनी भावनाओं का गान अलापता। सफ़र की तकलीफ़ों की ओर किसी का ध्यान न जाता। कठिन को सहज बनाना ही इस काफ़िले का उद्देश्य था।

जब यह काफ़िला रावी के पुल पर पहुँचा, तो पुल की रक्षा करने वाली बलोच सेना के सिपाही एक ओर हट गये और काफ़िला पुल पर से गुज़रने लगा। छत्तीस घण्टे तक काफ़िले वाले निरन्तर इस पुल पर से गुज़रते रहे। ऊपर काफ़िले का शोर, नीचे पानी का जोर। सिर पर फीका नीला आकाश था। चारों तरफ़ हरी-भरी ज़मीन थी। सड़क के दोनों ओर सरकण्डे अपना चँवर झुला रहे थे।

हिन्दुस्तानी सैनिक काफ़िले वालों का साहस बढ़ाते हुए कह रहे थे—दो दिन का सफ़र और रह गया, बहादुरो! अब तो समझो मैदान मार लिया!

कहीं रास्ते में हथियारों से सजी हुई पाकिस्तानी पुलिस नज़र आ जाती। लेकिन काफ़िले वालों को इतनी फ़ुरसत कहाँ थी कि यह देखते फिरें कि पाकिस्तानी पुलिस क्या सोच रही है।

काफ़िले वालों को तो चलने से ही फ़ुरसत न थी। काफ़िले में किसी तरह की भगदड़ नज़र न आती थी। एक रख-रखाव था जिसने काफ़िले वालों के मानसिक सन्तुलन को कायम रखा। किसी को किसी पर क्रोध न आता था, किसी को किसी से शिकायत न थी। पीछे छोड़ी हुई चीजों की बजाय आगे आने वाली वस्तुओं का ध्यान था। यह काफ़िला तो बस जल्दी-से-जल्दी आज़ाद हिन्दुस्तान की ज़मीन पर पहुँच जाना चाहता था।

कभी काफ़िला जरनैली सड़क पर चलता, तो कभी कच्चे रास्ते की ओर हो लेता। सेना के ट्रक बार-बार घोषणा कर रहे थे—आगे ही आगे, चले चलो, चले चलो!

जब यह काफ़िला रायविण्ड में से गुज़रा तो मानो शहर में कब्रिस्तान की-सी खामोशी को लाखों ज़बानें प्राप्त हो गईं। फिर जब काफ़िला आगे बढ़कर राजाजंग में से गुजरा तो ये अफ़वाहें ग़लत सिद्ध हुईं

कि वहाँ फ़िसादियों के आक्रमण का भय है। सूरज डूब रहा था और काफ़िला पड़ाव की प्रतीक्षा में आगे बढ़ रहा था।

अगले दिन उस पड़ाव से काफ़िला चला, तो सैनिकों ने चिल्ला-चिल्लाकर कहना शुरू किया—माना कि रास्ता कठिन है, दलदल में धँसकर चलना पड़ रहा है, पर अब इस सड़क से कसूर आध मील रह गया है।

कसूर के बाहर-बाहर सरकारी बाग़ की बगल वाली सड़क पर काफ़िला आगे बढ़ रहा था, जहाँ ज़मीन बहुत ऊँची थी। एक तरफ़ नदी बह रही थी। नदी के उस पार ऊँचे टीले से कोई दो फ़रलाँग हटकर सड़क के किनारे पूरबी पंजाब से आये हुए काफ़िले ने पड़ाव डाल रखा था। दोनों काफिले एक-दूसरे को देख रहे थे। वे भी बदनसीब थे, ये भी बदनसीब थे।

क़ाफ़िला आगे ही आगे बढ़ रहा था। हिन्दुस्तानी सैनिक बार-बार ये आवाज़ें लगाने लगते—आज हम लोग हर हालत में सीमा पार कर लेंगे। यह आख़िरी सफ़र है। अब तो मैदान मार लिया। माना कि रास्ता कठिन है, पर यह ख़ुशी क्या कम है कि आज हम अपने देश में पहुँच जायँगे।

जब क़ाफ़िला सीमा पर पहुँचा तो 'हिन्दुस्तान ज़िन्दाबाद' के नारों से आकाश गूँज उठा। छत्तीस घण्टे तक काफ़िला सीमा पार करता रहा।

'हिन्दुस्तान ज़िन्दाबाद' के नारे काफ़िले के शोर के आरकेस्ट्रा पर उभरते रहे। कुछ लोग ज़िन्दाबाद के नारों पर हड़बड़ाकर अपने कानों में अंगुली ठोंस लेते, जैसे ये नारे उन्हें नापसन्द हों जो उन्हें अपना घर-बार लुटाकर प्राप्त हुए थे।

हमारे मामा जी ने ही सब से पहले सीमा पार की। हमारा छकड़ा उनके पीछे-पीछे चला जा रहा था। छकड़े पर बैठी थीं मेरी मामी जी और मामा जी के लड़के की बहू। मैं भी उनके पास ही बैठी थी। मैं नीचे कूद गई। मामा जी का लड़का जंगसिंह छकड़े के ऊपर आ गया। मैंने मामा जी को कच्चा-पक्का के सेठ चन्दूशाह के कन्धे पर हाथ रखकर यह

कहते सुना—इतनी खुशी तो अंग्रेज को जंग जीतकर भी न हुई होगी जितनी हमें यहाँ पहुँचकर हुई है।

"रिसालदार जी, नारा तो लगा ही छोड़ो!" शाह जी हँसकर कह उठे।

'ज़िन्दाबाद!' मामा जी ने नारा लगाया। कौन ज़िन्दाबाद, यह उन्होंने नहीं कहा। फिर भी जैसे यह नारा तीन-चार मील पीछे से चले आ रहे नारे से गले मिल गया हो। अभी तो और लोग आ रहे थे—कदम-कदम, नारे लगाते हुए। और फिर जैसे नारों की एक लम्बी शृङ्खला हिन्दुस्तान की ओर बढ़ती गई···

"ई डायरी तो एकेवारे चमत्कार!" विमल बाबू ने जैसे सुख का साँस लिया, "ई डायरी का प्रकाशन तो नितान्त आवश्यक, बाबा!"

"यही तो मेरा भी विचार है, विमल बाबू!" सुनील ने विश्वासपूर्वक कहा, "पर हमारे सेठ जी तो इसे वैसे ही हथिया लेना चाहते हैं।"



६६

'काफ़िले की डायरी' प्रकाशित होने में दो महीने लग गये। सुनील की कोशिश तो यही थी कि यह दिसम्बर के दूसरे हफ़्ते में ही निकल जाय, लेकिन बीस दिसम्बर से पहले यह सम्भव न हो सका।

सुनील के आग्रह से अजन्ता प्रकाशन के मालिक ने नया टाइप भरवाया था। हफ़्ता-दस दिन तो शॉर्ट पूरे होने में ही लग गये। वह तो ख़ैरियत हुई कि टाइप फाउंडरी की हड़ताल ख़तम हो गई, नहीं तो बीस दिसम्बर तक तो टाइप की दिक्कत भी न सुलझ पाती।

जब तेजकौर स्वयं दीपाली को 'काफ़िले की डायरी' की प्रति भेंट करने पहुँची, तो दीपाली अपने ड्राइंग-रूम में बैठी एक पुस्तक पढ़ रही थी।

"आओ तेज, आओ!" दीपाली ने पुस्तक से दृष्टि हटाकर कहा, "सीधी यहीं आ रही हो?"

"मीनाक्षी के यहाँ से होकर आ रही हूँ," तेज ने कुरसी पर बैठते हुए कहा, "कितनी प्यारी धूप है। मुझे तो दिसम्बर के अन्तिम दिनों की यह धूप देखकर कच्चा-पक्का की याद आ रही है।"

"कच्चा-पक्का का ख्याल तो अब तुम भूल जाओ।" दीपाली मुसकराई और उसने नौकर को पास बुलाकर चाय लाने को कहा।

फिर उसने फोन उठाकर मीनाक्षी का नम्बर मिलाया और विमल बाबू से कहा, "हो सके तो आप आध घण्टा पहले ही पहुँचने की कोशिश कीजिए।"

"मैं तो खुश हूँ दीपाली, कि तुमने भी नौकरी कर ली और तुम्हें रहने के लिए इतना अच्छा मकान भी मिल गया!" तेजकौर ने 'काफ़िले की डायरी' खोलकर उस पर दीपाली के लिए समर्पण के दो शब्द लिखते हुए कहा, "आखिर मेरी हविस भी पूरी हो गई। ऐसी ख़ास बात तो क्या है इस डायरी में, अपना ही रोना है!"

"धन्यवाद!" दीपाली ने पुस्तक लेते हुए नम्रता से कहा, "काश मैं भी ऐसी चीज़ लिख सकती! ख़ैर कहीं-कहीं से तो मैं छपने से पहले ही पढ़ चुकी हूँ। सुनील तो इस पर लट्टू हो गया। सचमुच इसे छपवाने के लिए उसने रात-दिन एक कर डाला। लेकिन आजकल कलाकार को तो कोई कुछ भी देना नहीं चाहता।"

"मामा जी तो बहुत खुश हुए जब 'अजन्ता प्रकाशन' वालों ने दो सौ रुपये देकर ही सौदा तय कर लिया और साथ ही यह आश्वासन दिया कि वे मेरे विवाह पर जितना भी सहयोग हो सकेगा देंगे।"

"ख़ैर यह सब तो कहने की बातें हैं। ज़माना बहुत ख़राब है। दो सौ रुपये में कापी राइट बेचकर कलाकार क्या खायेगा, क्या पहनेगा?"

"मुझे तो कोई दो सौ रुपये भी न देता, खाली मेरी डायरी छाप देता, मुझे तो इतने से ही बहुत खुशी होती।"

"तुम कितनी भोली हो, तेज़! अरे, कापी राइट बिक जाने पर फिर कुछ नहीं मिलता!" दीपाली ने झुँझलाहट के स्वर में कहा, "कापी राइट बेचना तो मानो कलाकार की आत्मा बेचना है। ख़ैर छोड़ो, 'काफ़िले की डायरी' का कापी राइट तो अब तुम्हें वापस मिलने से रहा।"

दोनों सहेलियाँ देर तक बातें करती रहीं। दीपाली ने विस्तारपूर्वक शिशु-निकेतन का इतिहास बताया और समझाया कि यह संस्था कितना काम कर रही है।

"मैं शिशु-निकेतन वालों का आग्रह टाल न सकी!" दीपाली ने गम्भीर होकर कहा, "मीनाक्षी तो अन्तिम क्षणों तक कहती रही कि बहन, तुम्हें

नौकरी की क्या पड़ी है। लेकिन तुम तो जानती हो तेज, कि अपना बोझ कोई कब तक किसी पर डाल सकता है। मीनाक्षी ने बनारस में पिता जी को लिख दिया कि दीपाली नौकरी करने जा रही है। उसका ख्याल था कि पिता जी मना करेंगे, पर पिता जी ने यही लिखा—दीपाली स्वतन्त्र है, वह जो भी करेगी, ठीक करेगी।"

"शिशु-निकेतन में प्रिंसिपल की नौकरी कोई ऐसी-वैसी नौकरी तो नहीं है दीपाली, कि कोई इस में बुरा मनाये। फिर शिशु-निकेतन के अहाते में ही इतना अच्छा मकान!" तेज की आँखों में चमक थी। "मैं तो प्रिंसिपल साहिबा से यही कहूँगी कि इस खुशी में मुझे अच्छी-सी दावत दें।"

इतने में नौकर ने चाय की ट्रे सामने ला रखी, "अच्छा तो बनाओ चाय!" दीपाली मुसकराई।

तेज ने कप में चाय उँडेलते हुए कहा, "चाय का रंग तो देखो, लिपटन की चाय मालूम होती है।"

अभी दोनों सहेलियों ने पहले कप भी ख़तम न किये थे कि विमल बाबू आ पहुँचे। उन के साथ केवल चौधरी भी थे।

"आप प्रिंसिपल हो गईं और हमें इसकी भनक आज ही मिली, जब मैं बस में चढ़ रहा था और विमल बाबू उतर रहे थे। ये मुझे अपने साथ यहाँ खींच लाये।" केवल मुसकराया।

"खैर मैं तो प्रिंसिपल बनी, जैसी न बनी!" दीपाली ने गम्भीर होकर कहा, "मेरे पास आप लोगों के लिए इस से भी बड़ी खबर है।"

"क्या?" केवल ने उत्सुकता से कहा।

दीपाली ने 'काफ़िले की डायरी' उठाकर केवल के हाथ में देते हुए कहा, "यह एक ताज़ा दम पुस्तक है, जैसे अभी-अभी तवे से उतरी हुई रोटी!" और फिर उसने तेजकौर की ओर संकेत करते हुए व्यंग्यपूर्वक कहा, "इन से तो परिचय है न?"

"याद आ रहा है, इन्हें कहीं देखा तो है।" केवल ने सामने से

आते हुए वार को रोका।

तेज ने सकुचाकर आँखें नीचे कर लीं।

"अजी, मेरा मतलब है कि नये रूप में भी इन से परिचय कर लीजिए—'काफ़िले की डायरी' की लेखिका के रूप में! एक काम तो आप को यह करना ही होगा कि स्टेट्समैन के सण्डे मैगज़ीन में इस डायरी का रिव्यू निकलवा दीजिए।"

तेजकौर को दीपाली पर गुस्सा आ रहा था—ख्वाह-म-ख्वाह मुझे काँटों में घसीट रही है। दम होगा तो खुद उभरेगी मेरी डायरी। मिन्नत-समाजत से कराये हुए रिव्यू से क्या होता है?

"अच्छा, तो यह लेखिका बन गईं और हम रह गये वैसे-के-वैसे! लाहौर में 'सिविल एण्ड मिलिट्री' का चक्कर था और यहाँ 'स्टेट्समैन' का।" केवल चौधरी ने पेट पर हाथ फेरते हुए कहा, "भई, सब पेट कराता है।"

पास से विमल बाबू भी जैसे स्वयं ही अपनी लम्बी खामोशी पर चकित होकर बोल उठे, "ई डायरी तो बेश भालो। हम बोलता हमरा पेट चाय खाना माँगता।"

दीपाली ने मुसकराकर कहा, "चाय अभी आ रही है, विमल बाबू!

"ई, डायरी का कोनो-कोनो पन्ना तो हम ने भी सुना था सुनील के मुख से।" विमल बाबू ने अजब मस्ती से सिर घुमाते हुए कहा, "ई डायरी बेश भालो डायरी।"

"डायरी बेश भालो या डायरी की लेखिका बेश भालो!" केवल ने कनखियों से तेजकौर की ओर देखा।

तेजकौर पैर के अँगूठे से ड्राइंग-रूम के कालीन को कुरेदती रही। वह मानो जमीन में गड़ी जा रही थी। वह बड़ी कठिनाई से अपने-आप को सँभाल सकी।

"जाओ ज़रा चाय की खबर-सार भी लो!" दीपाली ने तेजकौर को सम्बोधित करते हुए कहा, "सूखी बातों से तो पेट नहीं भरता!"

तेजकौर उठकर अन्दर चली गई। पीछे से केवल ने चिल्लाकर कहा, "अरे भई, साथ में कुछ नमकीन भी आना चाहिए !"

विमल बाबू ने भी व्यंग्य-सा कसते हुए कहा, "हम बोलता ई तो आप ने बहुत अच्छा किया कि शिशु-निकेतन का भार सँभाल लिया, दीपाली देवी ! वेतन कमती है या अधिक, ई कथा तो कोनो महान् नाहीं। महान् कथा तो एई कि ई कार्य महान्। और देखो बाबा, तेज को भी शिशु-निकेतन में ले लो और इसे भी स्वतन्त्र-वृत्ति सिखाओ।"

इस से पहले कि दीपाली कुछ कहे, केवल कह उठा, "तेज कभी दीपाली की कार्बन कापी बनना पसन्द नहीं करेगी—यह मुझ से पूछ लो !"



६७

सरदार अर्जुनसिंह का विचार था कि 'अजन्ता प्रकाशन' के सेठ जी सचमुच तेज कौर के विवाह पर अच्छी-खासी रकम खर्च करेंगे। 'काफ़िले की डायरी' से मिले हुए रुपये खर्च होते देर न लगी और अब वे 'अजन्ता प्रकाशन' के सेठ जी से कुछ कहने की बजाय सुनील से ही बार-बार आग्रह करते कि इस हिसाब में अधिक नहीं तो सौ रुपये तो दिलवा ही दे।

'अजन्ता प्रकाशन' के प्रोप्राइटर उलटे यह शिकायत करने लगते कि डायरी छापकर उन्होंने कोयले की दलाली के सिवा और कुछ नहीं किया, हालाँकि कम-से-कम पाँच-छः सौ प्रतियाँ तो पुस्तक छपते ही निकल गई थीं और बाहर से धड़ाधड़ ऑर्डर आ रहे थे। जब भी अर्जुनसिंह आकर बैठता सेठ जी काम का बहाना करके उठ जाते।

सुनील सब-कुछ जानते हुए भी सच्ची बात कहने से सकुचाता और इधर-उधर की बातें शुरू कर देता। जब सरदार जी पूछते कि क्या पुस्तक की ग्यारह सौ प्रतियाँ ही छपी हैं, तो सुनील सीधा उत्तर देने की बजाय बात को घुमाकर कहता, "अब यह तो सेठ जी की इच्छा पर निर्भर था। रायल्टी का मामला होता तो और बात थी। आप तो 'कापी राइट' बेच चुके।"

"सच्चे पादशाह दे सिंघ पूछ रहे हैं तो बताने में क्या हर्ज है, सुनील जी?" सरदार जी ज़ोर देकर कहते।

"अब सेठ जी ने जो बताया है, ठीक ही बताया है।" सुनील जैसे

मैनेजर की कुरसी की लाज रखते हुए कहता, "सेठ जी तो सब बात पहले ही तय कर लेते हैं, सरदार जी! जो बात उनकी समझ में नहीं आती, उस में तो वे हाथ ही नहीं डालते।"

कभी सेठ जी ऊपर से आ जाते तो यह देखकर बुरा मनाते कि सरदार जी अभी तक डटे हुए हैं। कभी-कभी उन्हें सुनील पर सन्देह होने लगता कि कहीं वही तो सरदार जी को शह नहीं दे रहा है।

"सरदार जी, क्षमा करना!" सेठ जी कृत्रिम सहानुभूति से कहते, "हमें आपका पूरा ख्याल है। और देखिये हमने यह पुस्तक न भी छापी होती तब भी हम आप जैसे महानुभावों की सेवा में उपस्थित रहते। आखिर पैसा होता किस लिए है? बाकी रही पुस्तक की बात, सो आप जानते ही हैं कि उस पर रुपया पानी की तरह बहाया जा रहा है। आपके रुपये तो पहले ही दे दिये, इस विचार से कि आप लोगों का कुछ कष्ट तो दूर हो। काग़ज़ भी मँहगे-से-मँहगा लिया गया, छपाई का खर्च अलग। चाहे प्रेस अपना है, पर ये कम्पोज़ीटर तो मज़दूरी लिये बिना नहीं मानते। विज्ञापन पर अलग खर्च हो रहा है। यह समझिए कि हमारा तो ख़र्च भी मुश्किल से ही पूरा होगा। फिर आप ही सोचिए कि इतना ढोल बजाने का सब से बड़ा लाभ लेखिका को ही होगा, उसकी दूसरी पुस्तक अधिक मूल्य पर हाथों-हाथ बिक जायगी! कठिनाई तो शुरू करने वालों को ही होती है, सरदार जी! हमने सोचा कि आपकी सेवा अवश्य की जाय।"

अर्जुनसिंह को कोई उत्तर न सूझता। सेठ जी बात का रुख़ बदलकर कहते, "बीबी तेज के लिए कोई लड़का मिला?"

"वाहगुरु दे प्रताप से मिल ही जायगा, सेठ जी!" सरदार जी खिन्न-से होकर कहते, "आप जी दी सहायता दे बिना तो यह काम नहीं हो सकता। जो रुपये आप ने दिये वे तो हम खा बैठे हैं।"

"तो जल्दी कीजिए सरदार जी," सेठ जी मुसकराकर कहते, "इन कामों में ढील अच्छी नहीं होती।"

"किंग्ज़वाई की दाल-रोटी पर ही रहना मुश्किल है, सेठ जी! जो-कुछ

पास था, वह पहले ही उड़ चुका था। अब बीबी तेज दे हाथ पीले करें तो कैसे ?"

सेठ जी इसका कुछ उत्तर न दे पाते, और बात का रुख बदलकर सुनील से कहते, "ये बातें तो होती ही रहेंगी। अजी मैनेजर साहब, सरदार जी की सेवा भी तो करनी चाहिए। सरदार जी के लिए आज चाय ही मँगवाओ—गरम-गरम चाय, उस कोने वाली दुकान से, तीन गिलास, हम भी लेंगे एक गिलास चाय।"

सुनील नौकर को पैसे देकर कहता, "लाला जी की दुकान से चाय लाओ, मुण्डू ! तीन गिलास।"

चाय आते देर न लगती। सरदार जी न चाय छोड़ सकते, न पी सकते। जाते-जाते यही कहते, "सेठ जी, तेज आप जी दी बीबी है। उस दा काम आप जी ने ही करना है।"

सरदार जी के चले जाने पर सेठ जी दूसरी ही बात कहते, "डायरी क्या ली, एक आफ़त मोल ले ली। इतना रुपया किसी और पुस्तक में ख़र्च किया होता तो इतनी सिरदर्दी न होती। आप से तो कुछ छिपा हुआ नहीं, सुनील जी ! तीन रुपये की पुस्तक है। बारह आने कमीशन के निकल जाते हैं। बाकी रहे सवा दो। बचता ही क्या है ? सरदार जी को आप क्यों नहीं समझा देते सारी बात ? और फिर हम ने इसका दूसरा एडीशन तो छाप नहीं लिया। जब दूसरा एडीशन आयेगा, तब क्या विचार नहीं किया जा सकता ?"

सुनील कुछ कहना अवश्य चाहता, पर मन मसोसकर रह जाता। उसे लगता कि इस में तो वह भी अपराधी है। आखिर वह सेठ जी से साफ़-साफ़ क्यों नहीं कह देता कि सरदार जी को भले ही बनाते रहिये, मुझे क्यों बना रहे हैं। प्रेस की खड़खड़ जैसे उसके मन पर हथोड़े की चोट करने लगती। कितना कपट, कितना छल ! भीतर कुछ, बाहर कुछ। इस समाज में आज ऐसे ही लोग भरे पड़े हैं। रंगे सियार। परोपकार के दावेदार, जैसे सत्य का झण्डा इन्हीं के हाथ में आ गया हो। लोहे

को लोहा काटता है। माया से माया मिलती है। बिना छाने पानी नहीं पियेंगे, किन्तु रक्त को तो छानने की आवश्यकता है। समाज का यह रंग-ढंग कब तक बना रहेगा? समाज को बदलने वाला कलाकार कब तक ऐसे लोगों के हाथ की कठपुतली बना रहेगा? इस शोषण का कब अन्त होगा? हाथ-पर-हाथ धरे बैठे रहने से तो इसका अन्त होने से रहा। क्या यह नौकरी छोड़ देनी होगी—अपने सिद्धान्त की रक्षा के लिए, अपने पथ से विचलित न होने के लिए? पर फिर क्या होगा? आगे की डगर पर कैसे चलना होगा? पहले ही कुछ कम बेकारी नहीं है। उधर से उजड़कर आने वाले इधर रोटी के दो टुकड़ों के लिए जूझ रहे हैं। खोखे खड़े किये जा रहे हैं—दूकानें-ही-दूकानें, जैसे गाहकों से अधिक दूकानदारों की आवश्यकता हो। हर कोई तो दूकान करने से रहा।···

सहसा उसे लाहौर की याद हो आई, जहाँ उसने नारंग प्रेस में प्रूफ़ रीडर का काम शुरू किया, जहाँ उसकी 'मिट्टी की मूरत' कौड़ियों के दाम लुट गई। फिर उसे 'गुड़िया और लोरी' का ध्यान आया जिसे उस ने स्वयं प्रकाशित किया था और जो पंजाब यूनिवर्सिटी में पाठ्य-पुस्तक के रूप में चुन ली गई थी।

यहाँ आकर उस ने 'गुड़िया और लोरी' की बिक्री की व्यवस्था 'अजन्ता-प्रकाशन' को सौप दी थी, और सेठ जी उसका हिसाब उसी तरह चुकाते थे जैसे बकरी मेंगनें डालकर दूध देती है।

'जंगल रोता है' के प्रकाशन के लिए उस के पास पैसे ही कहाँ थे। इसे सेठ जी ने दस प्रतिशत रायल्टी पर प्रकाशित कर दिया था। अब यह उसका दुर्भाग्य था कि यह नाटक इतना भी तो न चल सका कि महीने में पाँच-दस कापियाँ बिकने की ही औसत पड़ जाय। सेठ जी ने भी तो जैसे उस नाटक को मन से बिसार दिया था। अब इस अवस्था में कलाकार नौकरी न करे तो खाये कहाँ से?



१८

नहा-धोकर मिसिज़ सुनील ने नई साड़ी पहनी और आइने के सामने खड़े होकर बालों में कंघी की, जूड़ा बाँधा—वही ढलका-ढलका-सा जूड़ा, जो सुनील को बेहद पसन्द था। उसे लगा कि सुनील को भी यहाँ होना चाहिए था। अकेले में उसका मन जैसे भिंचा जा रहा हो। उसके जी में तो आया कि दीपाली के यहाँ हो आये या मीनाक्षी के यहाँ जाकर टेलीफोन पर ही दीपाली से दो बातें कर आये। इधर दीपाली कुछ खिंची-खिंची-सी रहने लगी है। अभी उस दिन वह सुनील से इस बात पर उलझ पड़ी थी कि वह किधर का कलाकार है जबकि उसने दिल्ली आकर रंगमंच से ही नहीं, एक प्रकार से लेखनी से भी मुँह मोड़ लिया है।

रविवार का दिन था। सुनील नाश्ता करने के बाद किसी मित्र से मिलने चला गया। जाते-जाते वह कह गया था, "कल्याणी, तुम्हें समय मिले तो 'काफ़िले की डायरी' ही पढ़ लेना। वैसे दोपहर का खाना हम इकट्ठे ही खायेंगे।"

मिसेज़ सुनील को अपने नये नाम से भी इधर कुछ-कुछ लगाव होने लगा था। नये वातावरण के अनुरूप उसका हिन्दी-साहित्य में भी काफी प्रवेश हो चुका था। लाहौर में रहते हुए यदि वह चाहती तो दीपाली के सम्पर्क में हिन्दी का काफ़ी ज्ञान प्राप्त कर सकती थी, पर वहाँ का वातावरण कुछ दूसरा ही था। यहाँ आकर तो जैसे इस नई भाषा का द्वार उसके

लिए खुलता चला गया। अक्षर-ज्ञान में तो कुछ कठिनाई अवश्य हुई थी, पर शब्द तो काफ़ी जाने-पहचाने लगने लगे, जैसे वह सदैव इन शब्दों के समीप रही हो। और फिर विमल बाबू के सम्पर्क से तो उसे कुछ-कुछ बंगला का ज्ञान भी होने लगा था। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के एक गीत का बोल तो उसे कण्ठस्थ हो गया था :

नाई नाई भय हबे हबे जय खुले जावे एई द्वार
जानी जानी तोर बन्धन डोर, छिड़े जावे बारेबार[1]

यह बोल तो वह बार-बार गुनगुनाया करती थी। बार-बार उसे लगता कि सचमुच उसके लिए इस नये वातावरण में कोई भय नहीं है। उसकी जय होकर रहेगी। उसकी प्रत्येक समस्या का द्वार खुलकर रहेगा, उसके प्रत्येक बन्धन की डोर टूटकर रहेगी।

अम्मी जान की याद बार-बार सिर उठाती, लाहौर भुलाये न भूलता। अब्बा जान कैसे हैं, किस रंग में हैं, यह जान सकना सहज न था। कई बार उसे पारुल की याद आती। न जाने जावेद के साथ उसकी कैसी गुज़रती होगी। नये वातावरण में पारुल ने भी अपने को ढाल ही लिया होगा। पारुल शायद शबनम बन गई हो। नाम तो बुलाने के लिए होता है। फिर उसे लगा कि बन्धन की डोर अभी टूटी नहीं, समस्या का द्वार अभी खुला नहीं।

उसे लगा कि जो-कुछ भी हुआ, अच्छा नहीं हुआ। इतना क़त्ले-आम, इतना खून-खराबा, इतना जुल्म, यह तो कभी न देखा था, न सुना था। उधर वाले इधर आकर शरणार्थी हो गये, इधर वाले उधर जाकर महाजरीन बन गये। इस से क्या हाथ आया? हम अब भी सँभल जायँ तो अच्छा है। गांधी जी भी तो यही कहते हैं।

दो-तीन दिन से वह गांधी जी की प्रार्थना-सभा में नहीं जा सकी थी। उसे लगा कि उस से बड़ा अपराध हो गया। मन-ही-मन उस ने फ़ैसला

---

१. नहीं है, भय नहीं है। जय तो होकर रहेगी। खुलकर रहेगा यह द्वार। जानता हूँ, मैं जानता हूँ। तेरे बन्धन की डोर टूटकर रहेगी बार-बार।

किया कि आज तो वह अवश्य वहाँ जायगी और हो सका तो प्रार्थना के बाद गांधी जी से एक-आध बात भी अवश्य करेगी।

ड्राइंग-रूम में आकर वह अनमने भाव से टहलने लगी और फिर उसकी नज़र अचानक बुक-शेल्फ़ के कोने में रखी लाल डस्ट कॅवर वाली पुस्तक पर पड़ी। उस ने झट यह पुस्तक निकाल ली और पढ़ना शुरू कर दिया :

बरगद का विशालकाय वृक्ष उसी तरह खड़ा था, उसी तरह जटाएँ लटक रही थीं। यह वृक्ष तो इस सड़क से गुज़रते हुए बहुत-से काफ़िले देख चुका था। धावा बोलने वाले लशकर, जीतकर या हारकर आई हुई सेनाएँ, जंग में जूझने वाले हमलावर और हारी हुई प्रजा—जो भी यहाँ से गुज़रा, शायद बरगद के सीने पर उसी का चित्र अंकित हो गया।

एक काफ़िला आ चुका था, एक काफ़िला जा रहा था। आने वाले काफ़िले के लोग छिन्न-भिन्न होकर अपने-अपने गाँवों को या करनाल, रोहतक और दिल्ली की ओर रवाना हो चुके थे। बरगद के नीचे खड़े होकर मैं इस काफ़िले को ध्यान से देख रही थी जो पूर्वी पंजाब से आ रहा था। जिस तरह हिन्दुस्तान आने वाले हिन्दुओं और सिक्खों के काफ़िले को डोगरा और गोरखा सेना निकालकर लाई थी, पूर्वी पंजाब से जाने वालों को बलोच मिलिट्री निकालकर ले जा रही थी। थके-थके-से, सहमे-सहमे-से, डरे-डरे-से—इस काफ़िले के लोग भी उतने ही बेगुनाह और अभागे थे, जितने पाकिस्तान से हिन्दुस्तान आने वाले काफ़िले के लोग। पाकिस्तान जाने वाले काफ़िले में भी स्त्रियाँ, पुरुष और बच्चे थे, जवान और बूढ़े थे।

मेरे पास ही खड़े थे मेरे मामा जी। अचानक उन्होंने मेरा कन्धा झँझोड़कर कहा, "देखो, देखो, वह लड़की तो बिल्कुल तेरे-जैसी मालूम हो रही है। उसका अल्लाह उसी तरह उसे पाकिस्तान दी मिट्टी पर पहुँचायेगा, जैसे तेरे वाहगुरु ने तुझे हिन्दुस्तान दी मिट्टी पर पहुँचा दिया।"

पास से मेरी मामी जी बोल उठीं, "वाहगुरु और अल्लाह में क्या कुछ अन्तर है, सरदार जी! और फिर गुरुवाणी का प्रसंग भी है—करन

करावन आपे हार, मानुष के कछु नाहीं हाथ ! मैं पूछती हूँ जितना जुल्म उधर हुआ और जितना जुल्म इधर हो रहा है, क्या इसे भी करन करावन आपे हार कहकर समझा लिया जाय कि अल्लाह या वाहगुरु ने ही लोगों को इसके लिए उकसाया ?"

मामा जी ने अपनी दाढ़ी पर हाथ फेरते हुए कहा, "ओ भोलिए, इतनी-सी बात लड़ बाँध ले कि उधर भी नेक आदमियों ने जुल्म दे बीचों-बीच नेकी दा पुल बाँधकर दिखाया, और इधर भी नेक बन्दे जरूर नेकी करने से नहीं चूके होंगे। उस पार दी नेकी और इस पार दी नेकी पर अल्लाह और वाहगुरु दी एक-जैसी छाप लगी हुई है, भोलिए !"

काफ़िला गुजर रहा था—स्त्रियाँ, पुरुष और बच्चे, बूढ़े और जवान, बे-घर और बे-वतन। मूँछ वालों की मूँछें नीचे को गिरी हुई थीं। दाढ़ी वालों की दाढ़ियाँ बुरी तरह उलझी हुई थीं। वे जल्दी-से-जल्दी अपने सपनों के देश में पहुँच जाना चाहते थे।

"कई दिन से चले होंगे यह भी हमारी तरह, मामा जी !" मैंने कहा, "अब तो इनकी मंजिल समीप है और इन में कुछ तो हमारे जाँगलियों से मिलते-जुलते हैं।"

मामा जी कुछ न बोले। मामी जी भी उदास नजरों से काफ़िले को देखती रहीं। इस काफ़िले की स्त्रियाँ और लड़कियाँ भी अपनी इज्जत-आबरू के लिए उसी तरह परेशान थीं। इन्हें भी अपने खाविन्दों और बच्चों से प्यार था। इन के मन में भी भाइयों का दुलार था। इन की खुराक भी गेहूँ की रोटी थी। इन की भी वही जबान थी, वही दबी-दबी सरगोशियाँ, वही इशारे, वही किस्सा-ए-खूने-जिगर, वही यादें, वही लौ देते घाव, वही मचलता खून, वही ख्वाहिशों का शोर, वही हसरतों की सिलवटें, वही रक्से-हुसन, वही इश्के-जनूँ खेज, वही जंजीरें, वही हदबन्दियाँ, वही दर्द की सौगात, वही स्याही में रोशनी की लकीर, वही वारिस शाह की हीर, वही बुल्ले शाह की काफ़ियाँ, वही ईद का चाँद, वही ढोल, शहनाइयाँ और अलगोजे ! वही हल, वही चरखे और करघे, वही जरी के जूते, वही पचरंगे

पायों वाले पलंग ! वही तहज़ीब, वही इन्सानियत, वही शाने-करीनी—सभी कुछ वही···

पढ़ते-पढ़ते मिसेज़ सुनील को रोमांच हो आया। उसे लाहौर की याद हो आई। तो यह सब क्यों हुआ ? इस डोर को कौन खींच रहा था ? इतने लोग कैसे किसी के इशारों पर नाचने लगे थे ? अब क्या होगा ? एक से दो देश बन गये और फिर दोनों के बीच में इतनी बड़ी खाई ! क्या कभी इस खाई को पाटना सम्भव हो सकेगा ?···और उसकी नज़रें फिर डायरी पर जम गईं :

दोपहर के साये ढलकर शाम के गले मिल रहे थे। काफ़िला कभी का जा चुका था। मामी जी आग जला रही थीं। मैं आटा गूँध रही थी। मामा जी का लड़का जंगसिंह गोभी और आलू काट रहा था। मामा जी दरी बिछाकर लेट गये। मामी जी आटा लेकर रोटी पकाने बैठ गईं। मामा जी ने जंगसिंह को पास बुलाकर कहा, "हमें अमृतसर तो ले आया हमारा वाहगुरु। गुरु दी नगरी में आकर हरमन्दिर साहब विच स्नान करना भी तो ज़रूरी है। आज जाकर स्नान कर आते हैं, कल छकड़ा और माल-मवेशी लेकर बहू समेत तुम गाँव चले जाना। तुम्हारी माँ, तेजकौर और मैं दिल्ली जायँगे। सब वाहगुरु दा खेल है, बेटा ! दाने-दाने पर मोहर है।"

अगले दिन जंगसिंह भाभी समेत गाँव की ओर चलने लगा, तो मामा जी ने उसे पास बुलाकर समझाया, "गाँव में पहुँचते ही सबको मेरी तरफ़ से सत सिरी अकाल कहना ! सब को फ़तह बुलाकर सब दा हाल पूछना। दिल्ली पहुँचकर मैं चिट्ठी लिखूँगा। जवाब देने में सुस्ती न करना।"

मामा जी ने बारी-बारी बैलों को पुचकारा, घोड़े की पीठ पर थपकी दी और फिर साँड़नी की मुहार पकड़कर उसकी आँखों में झाँकते हुए कहा, "जंग सिंघ तुम्हें किसी तरह दी तकलीफ़ नहीं होने देगा। वह भी तो दसम पादशाह दा सच्चा सिघ है !"···

इतने में दरवाज़े पर दस्तक हुई। उसने उठकर दरवाज़ा खोला। सुनील के साथ केवल भी अन्दर आया। "क्या पढ़ा जा रहा है, कल्याणी

देवी !" केवल ने छूटते ही कहा।

"यही ज़रा 'काफ़िले की डायरी' देख रही थी।"

"खाने में क्या देर है ?" सुनील ने कहा, "क्या पकाया है ? केवल को ज़बरदस्ती उठाकर लाया हूँ, आ ही नहीं रहा था।"

"जो-कुछ पका होगा, सामने आ जायगा।" मिसेज़ सुनील मुस्कराई और नौकर को आवाज़ देकर कहा कि खाना जल्दी लगाये।

खाना आने में थोड़ी देर थी। सुनील बोला, "तुम्हारे लिए एक खुश-खबरी है, कल्याणी !"

"क्या ?"

"केवल ने सरदार जी की समस्या हल कर दी।"

"मतलब ?"

"अरे भई, समझा भी करो। 'काफ़िले की डायरी' की लेखिका की शादी के लिए अब सरदार जी को 'काफ़िले की डायरी' के प्रकाशक के सामने गिड़गिड़ाने की आवश्यकता न होगी।"

"आज तो आप पहेलियाँ डाल रहे हैं !"

"भई, सौ की एक बात सुन लो। वह दिन दूर नहीं, जब केवल को इस बात का गर्व होगा कि वह एक लेखिका का पति है।"

"सच !" मिसेज़ सुनील ने गद्‌गद कण्ठ से कहा, "कमाल हो गया, केवल से मुझे यही आशा थी।"

"केवल ने सरदार जी से साफ़-साफ़ कह दिया कि मुझे तेज चाहिए, दहेज-वहेज नहीं।"

"अरे भई अब कुछ खिलाओगे भी !" केवल ने बात का रुख बदलते हुए कहा, "दीपाली का बस चलता तो मुझे भी विमल बनाकर छोड़ती, पर मुझे तो सुनील का रास्ता ही पसन्द था।"



६९

'अजन्ता प्रकाशन' की नौकरी से इस्तीफ़ा देते समय सुनील ने न तो मिसेज़ सुनील से सलाह ली, न दीपाली से ही इसका ज़िक्र किया। यह कहना तो सहज था कि 'काफ़िले की डायरी' के सम्बन्ध में सरदार अर्जुनसिंह के साथ सेठ जी का विश्वासघात ही इसका एकमात्र कारण था।

केवल के साथ तेज का विवाह हो चुका था। दहेज लेना तो दूर रहा, केवल ने तो दावत पर भी अपनी गिरह से ही खर्च कर दिया था। तेज खुश थी कि उसे इतना अच्छा पति मिला। वह केवल के साथ टेगोर लेन में जाकर रहने लगी थी, जहाँ केवल ने किसी मित्र से एक कमरा ले रखा था।

विवाह के बाद तेजकौर अपने पति के साथ एक-दो बार सेठ जी से मिलने आई, तो उनके साथ उसकी कहा-सुनी हो गई। लेकिन इतना तो स्पष्ट था कि कानून की दृष्टि से सेठ जी का पक्ष ही भारी था। तेज ने एक-दो पत्रों में अपने साथ हुए अन्याय की चर्चा भी की। सेठ जी टस-से-मस न हुए। सेठ जी तो उलटा सुनील पर ही झपटते, जैसे इस के पीछे सुनील का हाथ हो।

सुनील को लगा कि वह उस गाड़ी की तरह है जो अपनी पटरी से उतर गई है। फिर से पटरी पर आने के लिए ही उस ने इस्तीफ़ा दिया था। लेकिन उसके मस्तिष्क पर निराशा की ऐसी चट्टान गिरी थी कि इसके नीचे से उठ सकना उसके लिए बहुत कठिन हो रहा था।

कई बार उसे दीपाली का ध्यान आ जाता और वह इसी परिणाम पर पहुँचता कि दीपाली ही उसकी सब से बड़ी समानधर्मा है, विवाह के चक्कर में न पड़कर उसे अपने व्यक्तित्व को विकसित करना चाहिए।

कल्याणी है कि उसे तो हरदम गांधी जी की प्रार्थना-सभा का ही ध्यान रहता है। मुझ से लिखने को वह अवश्य कहती है, लेकिन इस काम में मेरा हाथ तो दीपाली ही बटा सकती थी जिसने अब अपना अलग मार्ग चुन लिया है। फिर उसे लगता कि दीपाली का मार्ग कौनसा सही है। अंग्रेजी ड्रामा पर डाक्ट्रेट करने चली थी, वह काम बीच में ही छूट गया। वह रंगमंच में नई प्राण-प्रतिष्ठा का स्वप्न देखती थी। पर अब वह सब कहाँ है? परिस्थितियाँ मनुष्य को क्या-से-क्या बना डालती हैं।

फिर उसे ध्यान आता कि दीपाली तो पहले भी अध्यापिका थी, और अब भी अध्यापिका है। पहले वह 'मिट्टी की मूरत' और 'गुड़िया और लोरी' के कलाकार का पथ-प्रदर्शन करती थी, अब 'शिशु-निकेतन' के शिशुओं पर अपना नियन्त्रण रखती है। इतिहास का वह पृष्ठ एकाएक उसकी दृष्टि में घूम जाता जिस पर बन्दीगृह में पड़े हुए सम्राट् शाहजहाँ का चित्र प्रस्तुत किया गया था। शाहजहाँ ने कितने भोलेपन से अपने बेटे को लिखा था कि वह किसी प्रकार उसके पास कुछ बच्चों को पढ़ने के लिए भेजने का प्रबन्ध कर दे। इसके उत्तर में बेटे ने लिख भेजा था—अच्छा तो यह बात है अब्बा जान! आपके दिमाग़ से हुकूमत की बू अभी तक नहीं गई!···सुनील को लगता कि दीपाली में भी शुरू से यही प्रवृत्ति काम करती है। इस प्रवृत्ति के कारण ही तो उसने एकाकी जीवन बिताने का निर्णय कर रखा है।

कल्याणी कई बार कहती, "चलिए, अब 'अजन्ता प्रकाशन' से छुट्टी पाकर ही सही, कुछ तो लिखिए।"

इसके उत्तर में सुनील कुछ न कहता, जैसे उसे अपना मार्ग न सूझ रहा हो, जैसे प्रेरणा का अभाव उसे बुरी तरह खटक रहा हो।

कई बार वह गांधी जी की प्रार्थना-सभा में भी गया, जहाँ दीपाली से

भी उसकी भेंट हो जाती। एक-आध बार दीपाली उनके यहाँ भी आई, पर जैसे वह कुछ खिंची-खिंची-सी रहने लगी थी।

दिल्ली के रंगमंच-प्रिय हलकों में जगमोहन और अंजना की धूम थी और सुनील निस्संकोच उनके नाटक देखने चला जाता था। तो क्या दीपाली इसी से रुष्ट है? वह बैठा सोचता रहता और इसी परिणाम पर पहुँचता कि दीपाली इतनी-सी बात पर रुष्ट है तो हुआ करे। साथ ही यह भी सत्य था कि न उसे जगमोहन के किसी नाटक में रस आया था, न अंजना के अभिनय में इतनी शालीनता और सरसता नजर आई थी, जिसके लिए दीपाली लाहौर के हलकों में इतनी प्रसिद्ध थी।

कल्याणी ने दीपाली का ध्यान आकर्षित करते हुए कहा, "क्यों न हम लोग भी दिल्ली में 'रंगभूमि' की स्थापना करें और एक बार तो दुनिया को दिखा दें कि सिनेमा के मुकाबले में ड्रामा कहीं अधिक जिन्दा चीज है। फिर एक बार उसने यहाँ तक कह डाला था, "और नहीं तो हमें जगमोहन के 'नाटक-समाज' में ही शामिल हो जाना चाहिए। नाम में क्या रखा है। मतलब तो काम से है। 'नाटक-समाज' का ठेका जगमोहन और अंजना ने तो नहीं ही ले रखा। जो भी ज़्यादा काम करेगा उसी का असर पड़ेगा।" लेकिन दीपाली को तो 'शिशु-निकेतन' से ही फुरसत न थी और कल्याणी भी अब एक्ट्रेस के रूप में नहीं आना चाहती थी।

सुनील की आँखों में बार-बार उसका अतीत घूम जाता। किस तरह वह बचपन में ही घर से भाग निकला था, किस तरह बम्बई में होटल में प्लेटें साफ कीं और लारी क्लीनर का काम किया। फिर होटल में बैरा बनने का भी मज़ा लिया, फिल्म कम्पनी में क्लर्की की, बम्बई छोड़कर गुजरात में रासधारियों के साथ गाँव-गाँव घूमा-फिरा, फिर लाहौर, और लाहौर से दिल्ली। अतीत के संस्मरणों में उसे एक अन्तर्दृष्टि प्राप्त हो जाती, अनुभव की रेखाएँ सजग हो उठतीं। उसका संघर्ष काफी लम्बा था। इसी संघर्ष ने उसे लाकर इस बिन्दु पर खड़ा कर दिया था। कई बार वह कल्याणी से कहता, "मैंने क्या सोचा था, क्या हो गया! शायद मैं कोई ठोस कार्य

नहीं कर सका। जालन्धर से 'मिट्टी की मूरत' का दूसरा संस्करण न्यूज़ प्रिंट पर छपकर आया है। उस में बेशुमार गलतियाँ हैं। प्रिंटिंग बहुत रद्दी है। लेकिन कापी राइट तो नारंग साहब के पास है। मैं क्या बोल सकता हूँ ?"

"यही हश्र एक दिन 'काफिले की डायरी' का भी होगा !" मिसेज़ सुनील बढ़ावा देती, "कलाकार की यहाँ किसे परवाह है ?"

"तो फिर किस के लिए लिखूँ ?" सुनील का मानसिक द्वन्द्व जैसे और भी अधिक प्रबल हो उठता। "ले-देकर 'गुड़िया और लोरी' का ही सहारा रह गया है। कोर्स में न लगी होती तो 'गुड़िया और लोरी' को भी कौन पूछता ? जो हाल 'जंगल रोता है' का हुआ, वही इसका भी होता। कौन जानता है कि हम 'मिट्टी की मूरत' की तरह उसका भी कापी राइट बेचने पर विवश हो जाते।"

"फिर भी हौसला छोड़ना तो ठीक नहीं !" मिसेज़ सुनील आश्वासन के स्वर में कहती, "कलाकार को तो अपनी कला-साधना से मुँह न मोड़ना चाहिए।"

तेज की भी यही राय थी। केवल अलग ज़ोर डालता। लेकिन सुनील की लेखनी को अपनी डगर नज़र ही नहीं आ रही थी। बार-बार उसे ध्यान आता कि उसका जन्म रंगमंच का स्तर ऊँचा करने के लिए हुआ है। लेकिन मालूम होता था कि बाज़ी जगमोहन के हाथ में है। जगमोहन की अंजना उसी के समीप थी, पर सुनील था कि उसकी अंजना 'शिशु-निकेतन' की बागडोर सँभालने में ही अपने जीवन की इतिश्री समझ बैठी थी। इस अन्धकार में उसे आशा की किरन नज़र नहीं आ रही थी।



७०

उस दिन मीनाक्षी का जन्मदिन था। दावत खतम हो चुकी थी और मेहमान अब कठपुतली का तमाशा देखने को उत्सुक बैठे थे। खन्ना जी ने मुसकराते हुए कहा, "सुनील जी, आप को शायद कठपुतली का तमाशा बिलकुल अच्छा न लगे। मीनाक्षी भी इस के हक़ में न थी। लेकिन दीपाली ने ज़ोर दिया तो हमें मानना पड़ा।"

दीपाली ने गम्भीर होकर कहा, "सिनेमा की बाढ़ में हमारा नाटक तो बह ही गया। एक दिन बेचारे कठपुतली वाले भी तिनकों की तरह बह जायँगे। आप देखिये तो सही। सुनील जी, आप भी सहमत होंगे!"

"नाटक को तो बचाना ही होगा।" सुनील ने गम्भीर होकर कहा, "हो सके तो कठपुतली के तमाशे को भी ज़रूर बचाना चाहिए।"

"शेक्सपीयर की बात सोचें तो लगता है ड्रामा बच जायगा।" मिसेज़ सुनील ने ज़ोर देकर कहा, "मैं अभी अगले ही रोज़ एक जगह पढ़ रही थी कि सोवियत रूस के रंगमंच पर शेक्सपीयर इंगलैण्ड से भी कहीं अधिक लोकप्रिय है। शेक्सपीयर का हैमलेट तो अमर है। बादशाह के दरबार में ड्रामा स्टेज करने वाले एक्टरों से इस ड्रामा के हीरो ने ठीक ही तो कहा था—देखो स्टेज पर बोलते वक्त यह ख्याल रखो कि सुनने वाले को तुम्हारी तक़रीर का मज़ा आ जाय। यह नहीं कि चीख़-चीख़कर उनके कानों के पर्दे फाड़ डालो। और देखो कुल्हाड़े की तरह हाथ मार-मारकर हवा को

मत चीरो। एक्टर के लिए यह भी जरूरी है कि वह अपने जज़बात को काबू में रखे। कितना ही नाटकीय दृश्य हो, चाहे उसके सीने में जज़बात के तूफ़ान उठ रहे हों। जो इस बात को नहीं समझते, उन्हें चौराहे पर खड़ा करके कोड़े मारने चाहिएँ।"

दीपाली मुसकराई और उसने छूटते ही कहा, "बात तो ख़ैर प्रसंग से थोड़ा हट गई। लेकिन शेक्सपीयर का यह पात्र नाटक खेलने वालों से यह भी तो कहता है—'और देखो, ढीले मत पड़ जाना। अपनी समझ-बूझ को अपना गुरु बनाओ, और उसी के अनुसार चलो। अपनी भाव-भंगियों को अपने शब्दों के अनुसार, और अपने शब्दों को अपनी भाव-भंगियों के अनुसार बनाओ। इस बात का बराबर ध्यान रखो कि यथार्थ से कभी विमुख न हों। अगर कहीं अतिशयोक्ति से काम लिया तो नाटक का उद्देश्य ही समाप्त हो जायगा। याद रखो कि नाटक का उद्देश्य सदा यही रहा है और रहेगा कि यथार्थ के सम्मुख आइना पेश किया जाय जिस से अच्छाई या बुराई अपना चेहरा देख सके, बल्कि समाज और युग के उतार-चढ़ाव भी इस आइने में साफ़-साफ़ नज़र आयें।' कहीं आप शेक्सपीयर के इस भाषण से ऊब तो नहीं गये, सुनील जी? कहीं यह तो नहीं सोच रहे कि साढ़े तीन सौ बरस पुरानी बात आज क्यों दोहराई जा रही है?"

लान में सब मेहमान कुरसियों पर बैठे थे। सुनील और मिसिज़ सुनील के बीच में बैठी थी दीपाली। मिसिज़ सुनील के परली तरफ़ खन्ना जी बैठे थे। तेज और केवल के बीच में बैठी थी मीनाक्षी।

खन्ना जी ने तेज से पूछा, "तुम्हारे मामा जी क्यों नहीं आये?"

"सरदार जी आये होते तो हम उन से 'घुग्गी दन्द बेटरा' वाला गीत ज़रूर सुनते, और यकीन कीजिए वह गीत शायद कठपुतली के तमाशे से भी ज्यादा दिलचस्प रहता।" केवल ने खन्ना जी को अपनी ओर आकर्षित करते हुए कहा।

मीनाक्षी ने केवल की बात अनसुनी करते हुए कहा, "अब तक तो कठपुतली वाले को आ जाना चाहिए था।"

"दस मिनट और इन्तज़ार कर लेते हैं," केवल ने हसकर कहा, "लेकिन मैं सोचता हूँ अब क्या आयेगा कठपुतली वाला।"

"आयेगा कैसे नहीं?" दीपाली ने ज़ोर देकर कहा, "वह ज़रूर आयेगा।"

इतने में कठपुतली वाला अपनी पत्नी के साथ आ पहुँचा। उसके लिए पहले से एक चारपाई का प्रबन्ध कर दिया गया था। कठपुतली वाले ने चारपाई को आड़े रुख खड़ा करके अपनी स्टेज तैयार की।

"अब देखिएगा कि कठपुतली वाले की पत्नी किस तरह कहानी को आगे बढ़ाती है," दीपाली ने मिसिज़ सुनील को सम्बोधित करते हुए कहा, "वह ढोलक बजाती जायगी और कहानी कहती जायगी।"

"अब सब सामने आ जायगा," मिसिज़ सुनील ने चुटकी ली, "तशरीह की तो ज़रूरत ही नहीं पड़ेगी।"

खेल शुरू हुआ तो कठपुतली वाले की पत्नी ने ढोलक पर थाप लगा कर कहना शुरू किया :

"शुक्र सिरजनहार का! नर्तकी आइने में अपना रूप देख रही है। अरी मान लिया हम ने कि तेरा रूप बुरा नहीं। लेकिन महाराज को तो तेरा नाच चाहिए, रूप नहीं। अब जल्दी कर, देर न लगा, राजनर्तकी!"

देखते-ही-देखते दृश्य बदल गया। यह राज दरबार का दृश्य था। दूसरी ओर से नर्तकी आ निकली। वह नाच-नाचकर महाराज को रिझाने लगी। राजा ने चेहरा घुमाकर वज़ीरों की ओर देखा। नर्तकी नाचती रही।

फिर दृश्य बदल गया। ढोलक वाली ने थाप लगाकर घोषणा की :

"राजा रानी से पूछ रहा है कि बता रानी, मैं राजनर्तकी से ब्याह करा लूँ तो तू नाराज़ तो न होगी? वह देखो रानी उदास हो गई। रानी राजा को दूसरे ब्याह की आज्ञा नहीं दे सकती। राजा भी उदास हो गया। राजा दूसरा ब्याह कराना चाहता है।"

अगला दृश्य। राजा और राजनर्तकी एक साथ। ढोलक वाली ने थाप लगाकर कहा :

"राजा का दूसरा ब्याह होकर रहेगा।"

उधर से दरबारी मसख़रा आ निकला। उसने पास आकर राजा के कान में कुछ कहा।

ढोलक वाली ने थाप लगाई :

"मसख़रा कह रहा है कि राजा साहब इस चुड़ैल से बचकर रहिए।"

राजनर्तकी रूठ गई। महाराजा उसे मना रहे हैं। नर्तकी मसख़रे की ओर संकेत कर रही है।

ढोलक वाली ने थाप लगाई :

"राजनर्तकी कह रही है कि मसख़रे को बाहर निकालो।"

अगला दृश्य। राजा का दूसरा ब्याह हो रहा है। नर्तकी दुलहन बनी बैठी है।

दृश्य फिर बदल गया। राजा और वज़ीर पास-पास बैठे हैं। ढोलक वाली ने थाप लगाई :

"राजा को तीसरा ब्याह कराना पड़ेगा।"

अगला दृश्य। वज़ीर और उसकी बेटी। ढोलक वाली ने थाप लगाई :

"वज़ीर अपनी बेटी के सामने राजा की तारीफ़ करते हुए बता रहा है कि इस जन्म में उसे ऐसा दूल्हा कहाँ मिलेगा।"

अगला दृश्य। राजा और वज़ीर। फिर मसख़रा भी चला आया। ढोलक वाली ने थाप लगाई :

"वज़ीर राजा के कान में कुछ कह रहा है। क्या कह रहा है वज़ीर? वज़ीर कह रहा है कि उसकी बेटी जैसी सुन्दरी कहीं नहीं मिलेगी, उसकी बेटी तो चन्द्रमुखी और मृगनयनी है।"

अगला दृश्य। चन्द्रमुखी मृगनयनी से राजा का ब्याह हो रहा है। मेहमानों ने तालियाँ बजाकर तमाशे की दाद दी।

अगला दृश्य। राजनर्तकी, जो पटरानी बनी बैठी है, क्रोध में भुनी जा रही है। वह चन्द्रमुखी मृगनयनी को महल से निकलवा देती है।

अगला दृश्य। राजा और वज़ीर। इशारों में बहस का दृश्य।

अगला दृश्य। राजनर्तकी, जो अब पटरानी बनी बैठी है, वज़ीर को देशनिकाले का हुक्म दिलवा देती है।

अगला दृश्य। वज़ीर गाँव में जाकर लोगों को पट्टी पढ़ा रहा है। ढोलक वाली ने थाप लगाई :

"देखो, देखो! लोग किस तरह महाराज के विरुद्ध लड़ने को तैयार हो रहे हैं।"

मेहमानों ने फिर तालियाँ बजाईं।

अगले दृश्य में राजा को युद्धवीर के रूप में प्रस्तुत किया गया। वज़ीर मारा गया। राजा निर्दोष निकला। प्रजा खुश थी।

अगला दृश्य। राजा का दरबार लगा है। कोई शिकायत करने को आगे नहीं बढ़ता। दरबारी मसख़रा आ निकला। वह राजा के सामने झुक-झुककर प्रणाम कर रहा है। ढोलक वाली ने थाप लगाई :

"मसख़रा कह रहा है—लाओ मुझे क्या देते हो, महाराज! सब पेट का धन्धा है!"

ढोलक वाली ने पास पड़ी थाली उठा ली जिस में घी का दीया जल रहा था। वह थाली उठाकर बारी-बारी हर मेहमान के सामने आई और पैसे जमा करने लगी। लोग पैसे डालते चले गये। उधर कठपुतली की स्टेज पर मसख़रा झुक-झुककर प्रणाम करता रहा।

खेल ख़तम हो चुका था। खन्ना जी बोले, "सचमुच यह कठपुतली का खेल तो बहुत पुराना होते हुए भी नया है। वैसे तो यह सब पेट का धन्धा है, चाहे यह मेरे जैसे एक रेलवे इंजीनियर का मामला हो, चाहे किसी कठपुतली वाले का!"

"इस तमाशे की कहानी एकदम नये ज़माने की कहानी भी तो हो सकती है, खन्ना जी!" सुनील ने गम्भीर होकर कहा, "वैसे तो यह पुरानी कहानी भी बहुत कुछ बताती है। पर मैं आपका मतलब नहीं समझ सका। क्या हम सब लोग अपनी-अपनी जगह कठपुतलियाँ बने जा

रहे हैं, खन्ना जी ?"

इस से पहले कि खन्ना जी उत्तर दें, दोपाली ने हास्य और व्यंग्य का सम्मिश्रण करते हुए कहा, "हम सब कठपुतलियाँ ही तो बने जा रहे हैं !" पर आश्चर्य तो यही है कि बात इतनी साफ़ होते हुए भी हमारी समझ में नहीं आ रही।"

"तो क्या यही समझाने के लिए कठपुतली वाले को बुलवाया था, दीदी ?" मीनाक्षी मुसकराई, "तो क्या इसके लिए मेरे जन्मदिन से अच्छा अवसर नहीं मिल सकता था ?"



७१

तेज कौर को यह सोचकर दुःख होता था कि उसके मामा जी अभी तक किंग्जवे कैम्प में कष्ट के दिन गुज़ार रहे हैं, और जब कभी उसे यह ख़्याल आता कि किस तरह उसके माँ-बाप बाग़वानपुरा में मारे गये तो उसके दिल के घाव ताज़ा हो जाते। मिसिज़ सुनील की ज़बानी वह उस दुखद घटना का वृत्तान्त सुन चुकी थी। लेकिन मिसिज़ सुनील के सम्पर्क से वह भी हर रोज़ गाँधी जी की प्रार्थना-सभा में जाने लगी थी।

गांधी जी के व्यक्तित्व की छाप दोनों पर एक जैसी थी। जब गांधी जी ने नोआखाली से लौटने के बाद देखा कि दिल्ली से एक-एक मुसलमान को निकालने के मनसूबे बाँधे जा रहे हैं, तो उन्होंने लोगों का हृदय परिवर्तन करने की दृष्टि से मरण-व्रत रखा। नेताओं ने बड़ी समझदारी से काम लेकर गांधी जी को आश्वासन दिया तो तेजकौर और मिसिज़ सुनील भी मौके पर मौजूद थीं। उन्होंने अपनी आँखों से गांधी जी को लोगों के अनुरोध पर अपना मरण-व्रत तोड़ते देखा था।

एक दिन तेज कौर टेगोर लेन से प्रार्थना-सभा के लिए चलने लगी, तो उस ने साथ वाले क्वार्टर में काम करने वाली एक शरणार्थी बुढ़िया को बड़ी दर्दीली आवाज़ से एक गीत गाते सुना। उस ने उस बुढ़िया के पास जाकर यह गीत लिखवाने की प्रार्थना की और इसे एक काग़ज़ पर ज्यों-का-त्यों लिख लिया :

तूँ साडे पिण्ड कदी वी न आया, भला मैनूँ तेरी सौंह, तेरी सौंह
तूँ देश आज़ाद कराया, भला मैनूँ तेरी सौंह, तेरी सौंह
वीराँ तों भैणाँ खोह लइयाँ, भला मैनूँ तेरी सौंह, तेरी सौंह
मावाँ तो धीयाँ खोह लइयाँ, भला मैनूँ तेरी सौंह, तेरी सौंह
तैनूँ अजे वी तरस न आया, भला मैनूँ तेरी सौंह, तेरी सौंह
तूँ देश आज़ाद कराया, भला मैनूँ तेरी सौंह, तेरी सौंह
इस पिण्ड दे लोक नादान, भला मैनूँ तेरी सौंह, तेरी सौंह
इस पिण्ड दे घर वीरान, भला मैनूँ तेरी सौंह, तेरी सौंह
इत्थे गिलझाँ झुरमुट पाया, भला मैनूँ तेरी सौंह, तेरी सौंह
तूँ देस आज़ाद कराया, भला मैनूँ तेरी सौंह, तेरी सौंह
अज्ज भोंदी हिक्क ते रत्त दिसे, भला मैनूँ तेरी सौंह, तेरी सौंह
अज्ज घावाँ विच्चों पाक रिसे, भला मैनूँ तेरी सौंह, तेरी सौंह
रब्ब डाढे कहर कमाया, भला मैनूँ तेरी सौंह, तेरी सौंह
तूँ देस आज़ाद कराया, भला मैनूँ तेरी सौंह, तेरी सौंह[1]

शरणार्थी बुढ़िया का गीत लिखते-लिखते तेजकौर की आँखों में वे सब

---

१. तुम हमारे गाँव में कभी न आये, भला मुझे तुम्हारी सौगन्द, तुम्हारी सौगन्द। तुम ने देश को आज़ाद कराया, भला मुझे तुम्हारी सौगन्द, तुम्हारी सौगन्द। भाइयों से बहनों को छीन लिया गया, भला मुझे तुम्हारी सौगन्द, तुम्हारी सौगन्द। माताओं से पुत्रियों को छीन लिया गया, भला मुझे तुम्हारी सौगन्द, तुम्हारी सौगन्द। तुम्हें अब भी तरस न आया, भला मुझे तुम्हारी सौगन्द, तुम्हारी सौगन्द। तुम ने देश को आज़ाद कराया, भला मुझे तुम्हारी सौगन्द, तुम्हारी सौगन्द। इस गाँव के लोग कितने नादान हैं, भला मुझे तुम्हारी सौगन्द, तुम्हारी सौगन्द। इस गाँव के घर वीरान हैं, भला मुझे तुम्हारी सौगन्द, तुम्हारी सौगन्द। यहाँ गिद्धों ने झुरमुट लगा रखा है, भला मुझे तुम्हारी सौगन्द, तुम्हारी सौगन्द। तुम ने देश को आज़ाद कराया, भला मुझे तुम्हारी सौगन्द, तुम्हारी सौगन्द। आज धरती के सीने पर रक्त नज़र आ रहा है, भला मुझे तुम्हारी सौगन्द, तुम्हारी सौगन्द। आज घावों से पीप रिस रही है, भला मुझे तुम्हारी सौगन्द, तुम्हारी सौगन्द। निठुर भगवान ने कितना जुल्म कमाया, भला मुझे तुम्हारी सौगन्द, तुम्हारी सौगन्द। तुमने देश को आज़ाद कराया, भला मुझे तुम्हारी सौगन्द, तुम्हारी सौगन्द!

फ़िसाद घूम गये जो आज़ादी से पहले और बाद में हुए थे और जिन के कारण धरती लहू-लुहान हो गई थी। उसके कल्पना-पट पर उसके माँ-बाप की हत्या भी तो उभरी। आख़िर उन बेचारों का क्या अपराध था ? यही कि वे सिक्ख थे ! यह तो कोई अपराध न था। आख़िर वे इन्सान थे, और जिन्होंने उन्हें मौत के घाट उतारा, वे भी तो इन्सान थे।

यह तो स्पष्ट था कि इस गीत में गांधी जी को सम्बोधित किया गया था। इस गीत ने तेज कौर को अपनी डोर में बाँध लिया। वह देर तक गीत के बोल गुनगुनाती रही।

बुढ़िया के गीत की पुकार उसकी मानसिक भावभूमि से टकराती रही। इस में गांधी जी को जो श्रद्धांजलि भेंट की गई थी, यह तो स्पष्ट था ही, पर इस गीत में गांधी जो द्वारा चलाये गये स्वतन्त्रता-आन्दोलन पर करारा व्यंग्य भी तो कसा गया था। बुढ़िया ने स्वयं ही यह गीत रचा होगा। उसकी यह शिकायत कितनी दर्दीली थी कि गांधी जी उसके गाँव में आज तक क्यों नहीं जा पाये। अब तो उसका गाँव बहुत पीछे रह गया था। वह वहाँ से चली आई थी। लेकिन उस ने अपने गाँव की तबाही का जो चित्र अंकित किया था, वह कितना करुण था। जहाँ भाइयों से उनकी बहनें छीन ली गईं, जहाँ माताओं से उनकी पुत्रियाँ छीन ली गईं, जहाँ धरती लहू-लुहान हो गई, जहाँ गिद्ध मँडरा रहे हैं, उस गाँव की कल्पना बुढ़िया के गीत में सजीव हो उठी थी। धरती पर बहता हुआ रक्त, घावों से रिसती हुई पीप ! अच्छी आज़ादी आई !

उसे लगा कि 'काफ़िले की डायरी' में स्वयं उस ने अपनी लेखनी से जो चित्र प्रस्तुत किया है, वह भी इतना संवेदनशील नहीं है। जैसे 'काफ़िले की डायरी' बिलकुल एकांगी वस्तु होकर रह गई हो।



७१

"यह गीत तो तुम्हें खूब मिला तेज !" सुनील ने गम्भीर होकर कहा, "यह गीत तो तुम्हें गांधी जी तक पहुँचाना चाहिए !"

"ख़ैर यह ख्याल तो नहीं आया था मुझे !" तेज कौर ने सँभलकर कहा, "वह गीत मैंने जरूर लिख लिया था।"

सुनील ने इस गीत को दोबारा बड़े ध्यान से पढ़ा और कहा, "बहुत बढ़िया गीत है। 'काफ़िले की डायरी' की लेखिका से मिला हुआ यह उपहार पाकर मैं तो धन्य हो उठा हूँ।"

इतने में दरवाजे पर दस्तक हुई। तेज ने उठकर दरवाजा खोला। दुहरे शरीर के एक नवयुवक ने पूछा, "सुनील जी हैं ?"

"आइए, भटनागर साहब !" सुनील ने आवाज पहचानकर कहा। और ज्यों ही भटनागर भीतर आया, सुनील ने तेज का परिचय कराते हुए कहा, "आप हैं मिसिज केवल।" और फिर भटनागर की ओर संकेत करके तेज को बताया, "आप भटनागर जी, बड़े अच्छे एक्टर हैं लेकिन इधर इन्हें शरणार्थियों के इण्टरव्यू लेने का ख़ब्त हो गया है।"

भटनागर ने अपने अनुभव बताने शुरू कर दिये। पास वाली कुरसी पर तेज बैठी थी, वह चुपचाप सुनती रही। भटनागर ने एक एक्टर की भाव-भंगिमा से कहना शुरू किया, "किंग्जवे कैम्प क्या है, साहब ! खेमे ही खेमे ! जैसे किसी लशकर ने पड़ाव डाल रखा हो। शरणार्थियों के इस

लशकर में लोग ज़रा-ज़रा सहूलियत के लिए आपस में लड़ते हैं, जैसे उन्हें इतना भी ख्याल न रहता हो कि वे तो एक जैसे मुसीबत के मारे हैं। कोई चाहे तो इस कैम्प पर पूरा उपन्यास लिख सकता है।"

"तो यही काम कर डालो, भटनागर !" सुनील मुसकराया।

तेज खामोश बैठी रही।

"इस कैम्प का अनुभव करने के लिए मैं वहाँ कई रातें गुज़ार चुका हूँ। वहाँ सोने का मैंने कैसे प्रबन्ध किया, यह भी लम्बा किस्सा है। खैर मैं अपने कानों से सुन चुका हूँ कि किस तरह कुछ लोग नींद में बड़बड़ाते हुए यही कहते हैं—मुझे मत मारो। मुझे छोड़ दो। मेरा खून इतना सस्ता मत करो ! आप को यकीन न आये तो मैं साथ ले जाकर यह बोल सुनवा सकता हूँ।"

तेज खामोश थी।

"एक दिन तो मैंने एक जवान लड़की को नींद में बड़बड़ाते सुना," भटनागर ने कहना शुरू किया, "वह कह रही थी—मेरी बोटियाँ मत काटो। मुझे मुसलमान बना लो। फिर एक दिन मैंने एक और लड़की को नींद में बड़बड़ाते सुना—मुझे मछली की तरह तल लो, मैं मुसलमान तो बनने से रही !"

"उफ़ ! ये बातें तो सुनी भी नहीं जातीं।" सुनील ने आह भरकर कहा, "मैंने तो इन बातों पर सोचते-सोचते लेखनी रख दी है और अब शायद मैं कभी लेखनी न उठाऊँ।"

तेजकौर अब भी कुछ न बोली।

"यह बात तो ग़लत है कि लेखक अपनी लेखनी ही रख दे।" भटनागर ने कहा, "खैर छोड़िए, एक कप चाय की हाजत को तो बन्दा छिपाकर नहीं रख सकता।

मिसिज़ सुनील गांधी जी की प्रार्थना-सभा में चली गई थी। नौकर बाज़ार से कुछ लाने गया था। तेजकौर सुनील का संकेत पाकर रसोई की तरफ़ चली गई।

"मिसिज़ केवल ने तो तुम्हारी बातों की हामी नहीं भरी, भटनागर !" सुनील ने सँभलकर कहा, "वे किंग्जवे कैम्प में रह चुकी हैं।"

"तो पहले क्यों न बताया ? और मै कौनसी गप हाँक रहा था ? अच्छा तो उन्हें चाय लेकर आने दो !"

चाय आई तो पहले कप के बाद ही भटनागर का स्वर पहले से कहीं उदात्त हो गया। किंग्जवे कैम्प की दर्दीली कहानी छेड़ते हुए उस ने कहा, "मैंने तीन-तीन आदमियों को एक ही कम्बल में रात काटते देखा है। ऐसे लोगों को भी देखा है जिनका दिमाग़ फेल होते-होते बचा, जो सुनाते हैं कि किस तरह उनकी आँखों के सामने उनकी जवान लड़कियाँ छिन गईं या किस तरह उनके सामान के साथ उन के सोने के ज़ेवर लुट गये।"

तेज ख़ामोश बैठी रही।

भटनागर ने दूसरा कप चढ़ा जाने के बाद कहना शुरू किया, "हाँ तो शरणार्थियों की कई किस्में हैं। एक किस्म का हाल तो मैं सुना ही चुका हूँ। दूसरी किस्म के हाई क्लास शरणार्थी वे हैं जिनकी स्त्रियाँ अच्छी-से-अच्छी शलवार-कमीज़ पहनकर कनॉट प्लेस में घूमने निकलती हैं तो दिल्ली वाले यही समझते हैं कि ये शरणार्थी नहीं, टूरिस्ट हैं। ये अमीर किस्म के शरणार्थी जब पहले-पहल दिल्ली में आये, तो मुझे याद है कि किस तरह वे जिस भी रेस्तोराँ में घुस जाते थे हर चीज़ ख़त्म कर डालते थे। फिर भी उनके पेट ख़ाली-के-ख़ाली रहते थे। इनकी स्त्रियाँ और लड़कियाँ आज भी किसी चाट वाले की दुकान पर आ खड़ी होती हैं तो सारी चाट चट्टम कर जाती हैं।"

तेजकौर ने भटनागर की इस आलोचना में भी दिलचस्पी न ली।

भटनागर की बातें अब शरणार्थियों तक ही सीमित न रहीं। वह देर तक सुनील से आग्रह करता रहा कि उसे कोई ऐसा ड्रामा लिखना चाहिए कि एक बार तो दिल्ली के नाटक-प्रेमी हलकों में उसकी धूम मच जाय, और सुनील अन्त तक यही कहता रहा कि उसकी प्रेरणा ही कहीं लुप्त हो गई है।

इतने में मिसिज सुनील प्रार्थना-सभा से लौट आईं। उसने आते ही जैसे, प्रार्थना-सभा का रिकार्ड लगा दिया। फिर उसने तेजकौर से शिकायत के लहजे में कहा, "तेज, आज भी तुम समय पर नहीं पहुँचीं।"

तेजकौर ने अपनी स्थिति स्पष्ट करते हुए कहा, "भई, क्या पूछती हो, मैं तो एक शरणार्थी बुढ़िया के गीत पर इतनी मुग्ध हो गई थी कि कुछ सुध-बुध ही न रही। उस दर्द-भरे गीत में गांधी जी को ही सम्बोधित किया गया था—भले ही उनका नाम लेकर नहीं। काश, तुम भी वहाँ होतीं।"

मिसिज सुनील ने सिर घुमाकर कहा, "खूब! तो वह गीत हमें कब सुनवाओगी?"

"वह गीत तो हम भी सुनेंगे।" भटनागर भी झूम उठा।

सुनील ने कागज तेज के हाथ में देते हुए कहा, "हाँ तो सुना दो न यह गीत!"

तेज ने जैसे अपने जीवन की समस्त करुणा को समोते हुए वह गीत गा सुनाया, तो तीनों श्रोता अभिभूत हो गये। तेज की आँखों में आँसू थे, जैसे उसके सामने उसके मृत मां-बाप के चेहरे घूम गये हों।



७३

सुनील काम छोड़कर घर में बैठ गया था, कुछ भी लिखने को उसका मन नहीं होता था। इस स्थिति में दीपाली ने यही सलाह दी कि मिसिज़ सुनील शिशु-निकेतन में आकर कुछ क्लासें ले लिया करे। आख़िर वह प्रिंसिपल थी और यह प्रबन्ध होते देर न लगी। घर का खर्च चलाने के लिए किसी को तो काम करना ही चाहिए। सुनील ख़ामोश रहा।

मिसिज़ सुनील का ख्याल था कि कुछ दिन विश्राम करने के बाद सुनील अवश्य लेखनी उठाएगा और कला-साधना में ही उसे वास्तविक सन्तोष प्राप्त होगा।

दीपाली और तेज दोनों ही समान रूप से मिसिज़ सुनील की प्रशंसक थीं। एक कलाकार के लिए उसकी पत्नी से जिस सेवा-भाव की अपेक्षा की जाती है, उसकी साकार मूर्ति ही तो थी मिसिज़ सुनील। लेकिन सुनील कब लिखना शुरू करेगा, कब उसे प्रेरणा मिलेगी, इसका तो कुछ ठीक न था।

इधर सुनील को जगमोहन से मिले भी कई दिन हो गये थे। जगमोहन के साथ-साथ तितली के समान उड़ने वाली अंजना से तो उसे घृणा हो गई थी। जगमोहन के सम्पर्क में आने से उसे एक लाभ अवश्य हुआ, वह यही कि भटनागर से परिचय हो गया। अब भटनागर ही उसका सब से बड़ा मित्र था।

विमल बाबू भी सुनील से परे चले गये थे। नोआखाली से लौटने

के बाद महीना-डेढ़ महीना तो उन्होंने न ब्रुश को हाथ लगाया न रंग खोलकर देखे। लेकिन इधर तो वे मीनाक्षी की कोठी से बाहर ही नहीं निकलते थे। एक चित्र ख़तम न होता, दूसरा चित्र शुरू हो जाता। चित्र-पर-चित्र।

कई बार सुनील उसके आग्रह से विमल बाबू के नये चित्र देखने अवश्य चला जाता। लेकिन ये चित्र उसे निष्प्राण-से प्रतीत होते। वैसे न विमल बाबू सुनील की राय पूछते, न सुनील अपनी राय ज़ाहिर करता।

भटनागर को इनमें से बहुत से चित्र पसन्द थे, विशेष रूप से वह चित्र जिस में गांधी जी को नोआखाली में एक पुल पार करते दिखाया गया था—चतुर्दिक् अन्धकार, पीछे-पीछे भक्तगण, आगे-आगे एक गाँव के मुसलमान हाथों में मशालें लिये हुए, बीच में वह शान्ति का अग्रदूत। अब सब से बड़ा आश्चर्य तो यही था कि सुनील को यह चित्र एकदम कृत्रिम मालूम हो रहा था, एकदम कमर्शल टाइप का पोस्टर सरीखा चित्र। और भटनागर था कि बात-बात में उस चित्र से अभिभूत नज़र आता था।

आख़िर भटनागर पुराना एक्टर था और खिलन्दड़ापन उसकी तबियत में कूट-कूटकर भरा था। एक दिन सुनील के फ्लैट में बैठे-बैठे उस ने सहसा विमल बाबू के उस चित्र की चर्चा करते हुए कहा, "सुनील जी, बन्दा कोई कला-पारखी तो नहीं है कि आप उसकी बातों को बहुत अहमियत दें, लेकिन एक बात अवश्य कहूँगा कि विमल बाबू के 'नोआखाली में गांधी जी' वाले चित्र में रंग बड़े प्यारे मालूम होते हैं। जैसे नीले, पीले, लाल और हरे रंग गले मिल रहे हों, जैसे एक रंग दूसरे रंग की चादर ओढ़ रहा हो, जैसे एक रंग दूसरे रंग की ठोड़ी उठाकर उसे हँसाने का यत्न कर रहा हो। कोई और आर्टिस्ट होता तो उसके चित्र में लाल रंग यों एण्ट्री लेता, जैसे पारसी स्टेज पर मजनू की एण्ट्री होती थी।"

सुनील कुछ न बोला। वह जानता था कि यह तो भटनागर की आदत में शामिल है कि जिसको चाहे बाँस पर चढ़ा दे, जिसको चाहे ठेंगा दिखा दे।



७४

जनवरी के अन्तिम दिन थे। मौसम ऐसा था कि अलाव तापने में ही सब से ज़्यादा मज़ा आये। सुनील के फ्लैट में अंगीठी में आग जलाते समय भी भटनागर पूरी एक्टिंग करने से बाज न आया। आग तापते-तापते उसने भक्तिरस की बात छेड़ दी और मोह-ममता के विरुद्ध अपना वोट डालते हुए अपने गुरु महाराज के सत्संग में सुनी हुई वाणी का बोल अलापा—हंस अकेला जाय! फिर उसने 'हंस अकेला जाय' की व्याख्या करते हुए कहा, "अजी सुनील जी, ये कोठियाँ, ये फ्लैट, ये महल-अटारियाँ सब यहीं रह जायँगी। सब रिश्तेदार, सब यार-दोस्त यहीं रह जायँगे—हंस अकेला जाय!" और सुनील ने देखा कि भटनागर एक कामयाब एक्टर है।

फिर वह उस अख़बार के दफ्तर की बातें ले बैठा जिसके मैगज़ीन सैक्शन का काम करने के लिए उसे हफ्ते में तीन दिन दफ्तर जाना पड़ता था। फिर देर तक कॉफ़ी हाउस का ज़िक्र करता रहा, जहाँ वह कॉफ़ी पीने से कहीं अधिक शोर का आरकेस्ट्रा सुनने के लिए ही जाता था, फिर अपने ससुर के शान्त स्वभाव की विरुदावली प्रस्तुत कर दी जिनके यहाँ उसे हर तरह का आराम हासिल था।

जब ये प्रसंग ख़त्म होते नज़र आये, तो भटनागर ने ज़ोर का क़हक़हा लगाया और हिलते-डोलते बादवान की तरह बाज़ू हवा में उछालकर कहा, "सुनील जी, कुछ लिखिए या फिर कलम तोड़ दीजिए! यह ज़माना ख़ाली

बैठने का नहीं है। जगमोहन को ही लो। अपनी डेढ़ ईंट की मस्जिद चुन ही लेता है। हालाँकि मैं जानता हूँ कि आपके सामने उसकी बिसात ही क्या है। वह तो ले-देकर अंजना के बल-बूते पर ही उड़ता है। आप भी तो उड़ सकते हैं।"

भटनागर की आँखों के कोनों में सारी शरारत जमा हो गई। सुनील समझ गया कि भटनागर का संकेत दीपाली की तरफ़ है और वह कहना चाहता है कि वैसे तो मिसिज़ सुनील भी माशा अल्लाह रंगरूप में दीपाली से दो रत्ती बढ़कर ही है।

अँगीठी में आग बुझ चुकी थी। भटनागर ने लकड़ी डालकर फिर से आग तेज़ करते हुए कहना शुरू किया, "मुझे जगमोहन के निकट सम्पर्क में रहने का मौका मिला है, सुनील जी! अंजना उसकी छोटी साली है। उसकी पत्नी तो तंग आकर मायके में चली गई है और वहीं रहने लगी है। अंजना और उसका पति प्रदीप हमेशा जगमोहन के यहाँ डटे रहते हैं। मुझे मालूम है कि प्रदीप किसी ज़माने में जालन्धर में एक इन्श्योरेंस कम्पनी का मैनेजर था। जगमोहन की बातों में आकर उसे विश्वास हो गया कि वह जालन्धर में अपना और अपनी पत्नी का जीवन नष्ट कर रहा है। चुनाचे वे दिल्ली आकर जगमोहन के मेहमान हो गये, मेहमान भी दायमी मेहमान। ऐसे में मिसिज़ जगमोहन के लिए इस घर में रहना कठिन हो गया और वह बेचारी दुम दबाकर भाग निकली।"

"अच्छा तो यह बात है!"

"अजी सुनिये तो! मिसिज़ जगमोहन को यह बर्दाश्त न हुआ कि जगमोहन खुल्लमखुल्ला अंजना को अपने साथ लेकर घूमे, चाहे प्रदीप साथ हो चाहे न हो, या यह कि जगमोहन हर वक्त अंजना की तारीफ़ों के पुल बाँधा करे। कभी अंजना की आँखों की तारीफ़ में हिरनी को याद किया जा रहा है, कभी उसकी आवाज़ सुरैया से भी अच्छी बताई जा रही है, या यह कि प्रदीप को सम्बोन्धित करते हुए यह कहा जा रहा है—अंजना के बिना हमारी कीमत एक अधेला भी नहीं है, प्रदीप जी! अंजना उन

सुन्दरियों में से है जिनको दूर से देखकर ही इन्सान यह कहने पर मजबूर होता है—बा अदब बा मुलाहिज़ा होशियार ! अरे मियाँ, अंजना का पति होना कोई मामूली बात नहीं है। तुम खुश-किस्मत हो। अंजना के बिना तो तुम निरे बौने नज़र आते हो ! और जब अंजना तुम्हारे साथ कन्धा मिलाकर खड़ी हो जाती है तो तुम्हारा कद कितना ऊँचा उठ जाता है। अंजना के बिना तुम किसी रेस्तोराँ में घुस जाओ, तो तुम्हें बैरा समझकर कई लोग कह उठेंगे—कॉफ़ी लाओ ! हाँ, मेरे भाई, अंजना तुम्हें आसमान में उड़ जाने से ही नहीं ज़मीन में धँस जाने से भी रोकती है !····खैर छोड़िए !"

सुनील ने नौकर को बुलाकर कहा, "देखो, भटनागर जी दोपहर का खाना यहीं खायेंगे।"

"खैर यहीं सही," भटनागर ने हँसकर कहा, "आपका प्रेम सिर माथे पर ! और यह भी सच है कि अब तो मेरी बीबी जान मेरी तबियत से वाकिफ़ हो गई हैं। मैं लाख यह कहकर घर से निकलूँ कि दोपहर का खाना घर पर ही खाऊँगा, लेकिन वह जानती हैं कि हमारी तो हिसाबे दोस्ताँ वाली बात है, बैठ गये सो बैठ ही गये जमकर !"

"वैसे यह आदत अच्छी रहती है," सुनील ने भटनागर का मन रखना आवश्यक समझा।

"हाँ, तो मैं जगमोहन की बात कर रहा था।" भटनागर ने सिगरेट का कश लगाते हुए कहा, "उसका ड्रामा महज़ अंजना के सिर पर ही चल निकलता हो, यह बात तो नहीं। लेकिन वह हमेशा यही ज़ाहिर करता है। मैंने बारहा उसे अंजना से यह कहते सुना है—अजी देखिए अंजना जी, जब भी कोई आदमी तुम्हारे पार्ट की तारीफ़ करने की बजाय तुम्हारे डायलाग का ज़िक्र करते हुए मेरी क़लम की तारीफ़ करने लगता है तो मैं तो यही कहता हूँ कि मेरी भाषा को खूबसूरत बनाने की मूजब थी अंजना की मुसकान !"

"अंजना इतना तो समझती होगी कि इस तारीफ़ में कितनी सचाई है ?"



७५

अंजना का बखान करते-करते भटनागर मन्त्रमुग्ध-सा हो जाता। एक दिन उस ने गम्भीर होकर कहा, "अंजना भी जगमोहन को भालू की तरह नचाना सीख गई है!"

"अच्छा, यह बात है?" सुनील ने किसी कदर कृत्रिम आश्चर्य से कहा, जैसे वह समझ गया हो कि भटनागर को तो अंजना की बात को उछालने में ही मजा आता है।

"हाँ, याद आ गया!" भटनागर ने सिगरेट के धुएँ के छल्ले छोड़ते हुए कहा, "बड़ा मजेदार किस्सा है। एक बार जगमोहन साहब कलकत्ता तशरीफ़ ले गये। एक-एक करके उसके चार तार आये कि वह फलाँ दिन आ रहा है, लेकिन हर बार उसका प्रोग्राम बदल जाता। पाँचवाँ तार आया तो अंजना बहुत बिगड़ी। अगले दिन सवेरे की गाड़ी से उसके आने की बात थी। अंजना न स्वयं गई और न उसने प्रदीप को ही स्टेशन पर जाने दिया। मैं उस दिन उनके यहाँ जा पहुँचा। अंजना कह रही थी—एक दर्जन तो खत आ चुके हैं, यह पाँचवाँ तार भी बेकार ही समझो। जगमोहन दूसरों के जजबात के साथ खेलना खूब जानता है, वह मूड के मुताबिक मशीनी तौर पर खत लिखता है, तार भी दे डालता है, और फिर भूल जाता है कि किस को क्या लिखा। इसके उत्तर में प्रदीप मुसकराता रहा। मैं वैसे ही अंजना की हाँ-में-हाँ मिलाने पर मजबूर था। अब साहब,

ग़ज़ब हो गया।"

"क्या ?" सुनील के सामने जैसे एक वातायन खुल गया।

"मेरे वहाँ बैठे-बैठे जगमोहन आ पहुँचा," भटनागर ने नया सिगरेट सुलगाते हुए कहा, "पहले उस ने प्रदीप को अपनी बाँहों में भींच लिया, फिर उस ने मेरे साथ हाथ मिलाया। अंजना ने मुँह फेरकर कहा—बाहर जाकर तुम्हें पिछला ख्याल तो भूल ही जाता है। जगमोहन बड़ी मासूमियत से बोला—तुम लोग वाकई इतने उदास हो जाओगे, यह तो मैंने सोचा ही न था। प्रदीप ने कहा—तुम नहाकर ताज़ा-दम तो हो लो ! इस पर जगमोहन बोला—जब तक अंजना जी नहीं कहेंगी, हम तौलिया उठाकर बाथ-रूम की तरफ़ कदम नहीं उठाएँगे। अंजना ख़ामोश थी। जगमोहन ने बच्चे की तरह मचलकर अंजना के समीप होने की कोशिश में कहा—कलकत्ता से चलते वक्त मैंने सोचा था। हाँ तो क्या सोचा था ? मैंने सोचा था कि अंजना बुलबुल की तरह चहचहायेगी। कुरसी पर बैठे-बैठे मैंने सोचा था कि दुनिया-भर की खुशी सिमटकर हमारे ड्राइंग रूम में आ बैठेगी। इस पर भी अंजना ख़ामोश रही। जगमोहन ने जैसे जादू की छड़ी घुमाते हुए कहा—आज तो घर की हर चीज चमक रही है। कमाल की सफ़ाई है। तो गोया आप लोगों को यकीन था कि मैं आज आ रहा हूँ। इस पर प्रदीप बोला—अरे भई, यह गरम मसाला तो बहुत हो गया, तुम नहाकर आओ। जगमोहन बोला—अंजना जी नहीं बोलेंगी, तो हम भी गुसल हड़ताल कर देंगे।"

"इतने लम्बे सफ़र से आकर जगमोहन को गुसल हड़ताल करनी पड़ी थी ?" सुनील ने अधिक स्पष्टीकरण चाहा।

"अजी सुनिये तो। एक तरफ़ हटकर जगमोहन टाई उतारने लगा। फिर उसने जेब से कुछ कागजात निकाले, उनमें करेंसी नोट भी थे। मुझ से ख़ामोश न रहा गया। मैंने कहा—आज तो खूब जेब गरम है, हुजूर ! ये करेंसी नोट बहुत जल्द अंजना के सामने जा पहुँचे। अंजना ने दिलासा देते हुए कहा—अच्छा तो तुम नहाकर आओ, दो दफ़ा साबुन लगाना

बालों को ! इतने में मैं चाय का इन्तज़ाम करती हूँ। जगमोहन तौलिया उठाकर गुसलखाने की तरफ़ चला। फिर रास्ते से ही लौट आया। अंजना बोली—अब गरम पानी का तकाज़ा तो मैं सुनने से रही। इस पर जगमोहन बोला—गरम पानी कौन माँगता है? लेकिन मैं पूछता हूँ, चाय अच्छी रहेगी या कॉफ़ी? अंजना ने अपने माथे पर ढलकी हुई लट को हटाते हुए कहा—जो तुम कहो वही बनाऊँ? इस पर जगमोहन ने अंजना के कन्धे दोनों हाथों से झँझोड़कर कहा—तो गोया तुम्हें अभी तक पता नहीं चल सका कि चाय और कॉफ़ी में कौनसी चीज़ बढ़िया है। चाय?—कॉफ़ी? कॉफ़ी?—चाय? अच्छा तो चाय ही ठीक है। खैर साहब, जगमोहन खुदा-खुदा करके नहाने गया।"

"अभी और कितना रहता है यह किस्सा?" सुनील उकता चला था।

"मज़ेदार हिस्सा तो अब शुरू होता है।" भटनागर ने नया सिगरेट सुलगाया। "हाँ तो साहब, जगमोहन नहाकर आया तो बोला—अंजना जी, नहाते-नहाते मुझे नये ड्रामे की थीम सूझ गई। अंजना के सामने खड़े होकर उसने कहना शुरू किया—हाँ तो थीम यह है कि औरत का मन बहुत ही छोटा होता है। जब कभी ग़ैर मामूली तौर पर औरत का मन बड़ा हो जाता है, तो मर्द उसे अपनी सीमा में बाँधकर नहीं रख सकता। फिर चाहे मर्द समुद्र भी क्यों न लेता आये औरत के दरवाज़े पर, हिमालय को भी क्यों न ले आये उसके घर के आँगन में। औरत तो उसी वक्त तक रीझ सकती है जब तक मर्द उस पर छाया रहता है!···हाँ, तो कहिये अंजना जी, कैसी रहेगी यह थीम? जगमोहन तौलिये से बाल पोंछता रहा। अंजना ने कुछ उत्तर न दिया। मेज़ पर चाय आ गई थी। चाय मज़ेदार थी। मुझे लग रहा था कि जगमोहन मुझे देखकर भी नहीं देख रहा, पर मैं तो बैठे रहने पर मजबूर था, क्योंकि अंजना पहले ही मुझे दोपहर के खाने के लिए कह चुकी थी। खैर साहब, चाय के बाद जगमोहन ढेर-की-ढेर चिट्ठियाँ देखने बैठ गया जिनमें से बहुत-सी तो उसकी अपनी लिखी हुई थीं।"

"खूब !" सुनील के लिए मुसकराने के सिवा कोई उपाय न था।

"हाँ तो जगमोहन चिट्ठियाँ खोल-खोलकर देखता जाता था। कुछ चिट्ठियाँ उसने फाड़ डालीं, कुछ को दोबारा पढ़ा। बार-बार वह अंजना की तरफ़ मुसकान उछालता, जैसे अंजना औरत न हो, फूलदान हो। दोपहर के खाने के बाद प्रदीप तो यह कहकर लेट गया कि उसके सिर में दर्द हो रहा है। जगमोहन फिर से चिट्ठियों में उलझ गया। मैंने बातों-बातों में अंजना से कहा—आज का नाटककार न शेक्सपीयर है न इब्सन! वह हँसकर बोली—वह कैसे? मैंने कहा—वह ऐसे कि आज के नाटककार को तो हर तीसरे महीने नया नाटक लिखने की चिन्ता रहती है। शेक्सपीयर का कोई दूर के रिश्ते का पोता-पड़पोता अज भी बड़े गर्व से कह सकता है कि उसके बाबा जान शेक्सपीयर बहुत बड़े नाटककार थे, लेकिन आज का नाटककार तो अपनी शोहरत को बरकरार रखने के लिए बाथ रूम में नहाते-नहाते नई थीम ढूँढ निकालने के लिए मजबूर है। बस साहब, मेरी इस बात पर जगमोहन बिगड़ उठा।"

"उसका बिगड़ उठना तो स्वाभाविक था।" सुनील मुसकराया।

"लेकिन साहब, मैंने भी झट से कह दिया कि मैं कोई लेखक नहीं हूँ। हाँ, उस सफ़ से जरूर ताल्लुक रखता हूँ जो तुम्हारी किताबें ख़रीदती है। एक अख़बार के सण्डे एडीशन की एडीटरी कर छोड़ता हूँ, वैसे मेरा पेशा वह भी नहीं। मेरा पेशा है एक्टिंग, और उसकी बाज़ार में कदर नहीं। इस पर हमारी तू-तू मैं-मैं और बढ़ी। अंजना जरा भी तो न घबराई, बैठी मुसकराती रही, जैसे दो बटेरों को एक-दूसरे पर ठूँगे मारते देखकर उसे मज़ा आ रहा हो। प्रदीप की आँख खुल गई। मैंने कहा—जगमोहन, मुझे तो बस चौथी पास समझो, तुम्हारी तरह ग्रेजुएट नहीं हूँ। प्रदीप ने पास आकर कहा—तुम चौथी पास हो भटनागर, तो इस हिसाब से मैं तो तीसरी पास ही हूँ।"

"तो गोया अच्छी-खासी बकबक हो गई?" सुनील मुसकराया।

"अजी सुनिये तो!" भटनागर ने नया सिगरेट सुलगाते हुए कहा,

"मैंने झट पैंतरा बदला। पहले तो प्रदीप से क्षमा माँगी कि मैंने उसकी नींद में बाधा डाली, फिर मैंने जगमोहन को सम्बोधित करते हुए कहना शुरू किया—भाई जान, मैं तो सिर्फ़ यही अर्ज़ कर रहा था कि क्या हुआ अगर मैं लेखक नहीं हूँ। पढ़ने वाले की हैसियत से मैं लिखने वाले से घाटे में नहीं हूँ। और यह भी याद रहे कि लिखने वाले की हैसियत मेरे नज़दीक खोमचे वाले से ज़्यादा नहीं है। इस पर अंजना ने कहकहा लगाकर मुझ से कहा—अब यह तो आपकी ज़्यादती है। जगमोहन ख़ामोश हो गया। उसे बहुत क्रोध आ रहा था। मैंने गरम लोहा देखकर हथौड़े की करारी चोट की—जगमोहन तो ख़्वाह-म-ख़्वाह नाराज़ हो गया। मैं तो यही कहने जा रहा था कि मेरे नज़दीक लिखने वाले की हैसियत एक खोमचे वाले से बढ़कर नहीं है और ख़रीदार की हैसियत से मुझे यह हक़ पहुँचता है कि मैं खोमचे वाले को बुलाकर पूछूँ—बताओ तुम्हारे खोमचे में क्या कुछ है? ताज़ा चीज़ क्या-क्या है? खोमचे वाला मुझे हर चीज़ आँखें मूँदकर ख़रीदने के लिए मजबूर नहीं कर सकता। ख़ैर साहब, प्रदीप को न जाने क्या सूझ गई। बोला—भटनागर जी, सुना है आपकी श्रीमती जी अच्छा गाती हैं। मैंने कहा—अजी हमारी श्रीमती जी तो इतना अच्छा गाती हैं कि उनका गाना सुनकर बुलबुलें भी उड़ जाती हैं। और सुनिये, उन्हें नाचने का भी शौक है, उन्हें नाचते देखकर तो भरत नाट्यम् की बड़ी-से-बड़ी नर्तकी भी हार मान ले। और देखिए साहब, हमारी श्रीमती जी ने हमें हर तरह की छुट्टी दे रखी है, लेकिन शर्त यही है कि हम हर रोज़ रात के आठ बजे तक ज़रूर घर पहुँच जायँ। इस पर अंजना ने उछलकर कहा—तब तो आप अपनी श्रीमती जी के हाथ की कठपुतली हैं। मैंने कहा—जी हाँ, आपको आज मालूम हुआ? अब तो जगमोहन को भी हँसी आ गई। अंजना बोली—जगमोहन, तुम भी बस वही हो! अरे यह हमारे भटनागर साहब तो भाँड़ हैं भाँड़! जो इनकी बात का गुस्सा करे उस जैसा मूर्ख दूसरा नहीं होगा।"

"तो आप ने वह बात मान ली?" सुनील मुसकराया।

"जी हाँ। सुनिये तो। फिर तो जगमोहन मुझ से लिपट गया। शाम

तक मुझे उठने ही न दिया। प्रदीप के सिर में दर्द हो रहा था। वह लेट गया। उसने कह दिया कि वह सैर के लिए नहीं जा सकेगा। अंजना बन-ठनकर तैयार हो गई थी। फ़ाख्तई साटन के ग़रारे पर अरग़वानी साटन की कमीज और सफेद नैनून का दोपट्टा। ऊपर को उठा हुआ जूड़ा, मन्दिर के कलश की तरह नुकीला। जगमोहन ने बन्दर की तरह उछलकर बुक-शैल्फ़ से एक किताब निकालकर प्रदीप के हाथ में दी, और कहा—इसे पढ़िये, हम घूमकर आते हैं। प्रदीप ने कृत्रिम मुसकान बिखेरते हुए कहा—आप जाइए; मैं यह किताब जरूर पढ़ूँगा, अगर सिर-दर्द से पनाह मिली। जगमोहन अपने मेज की दराज में से नये ड्रामे का मसविदा उठा लाया। बोला—किताब में दिल न लगे तो यह मसविदा पढ़िये। अजना ने अस्प्रो की टिकिया वाला लिफाफा लाकर दिया—दर्द बढ़ जाय तो अस्प्रो खा लीजिए। प्रदीप ने हँसने का यत्न करते हुए कहा—क्या तुम्हारे पास नींद लाने वाली गोलियाँ भी हैं ?"

"बहुत खूब !" सुनील ने क़हक़हा लगाया।

"अजी सुनिये तो। अस्प्रो से ही काम चल जायगा—यह कहते हुए जगमोहन ने अंजना को बाहर निकलने का संकेत किया और मुड़कर प्रदीप से कहा—मेरा मसविदा जरूर देखिए। मैं थोड़ी दूर तक उन के साथ चला। पर जब मैंने देखा कि मुझ से तो वे अपने प्रोग्राम के बारे में बात भी नहीं कर रहे हैं, मैंने उनका साथ छोड़ दिया।"

मालूम होता था कि भटनागर का रिकार्ड बन्द हो गया। वह बैठा सिगरेट के धुएँ के छल्ले उड़ाता रहा। सुनील कहना चाहता था कि अस्प्रो की जरूरत तो आज उसे भी पड़ गई।

अंगीठी में आग बुझकर राख हो चुकी थी। सुनील को लगा कि उस की प्रेरणा भी बुझ चुकी है। एक नाटककार के बारे में एक एक्टर की राय से वह अभी-अभी परिचित हुआ था। उसे लगा कि कोई बहाना करके भटनागर से छुट्टी ले ली जाय।

भटनागर खामोशी से बैठा रहा, जैसे उसे ख्याल आ गया हो कि

आज तो वह जरूरत से कहीं अधिक बोलता चला गया, जैसे सुनील से पहले स्वयं उसे ही अस्प्रो की जरूरत पड़ गई हो।

"अब आपका क्या प्रोग्राम है ?" सुनील ने बड़ी मासूमियत से पूछा, "आप को छोड़ने को तो मन नहीं चाहता। लेकिन मेरी मजबूरी है। मुझे 'शिशु-निकेतन' तक जाना है।"

"लेकिन मेरा तो ख्याल था कि आप जगमोहन के यहाँ चलेंगे मेरे साथ !" भटनागर ने चुटकी ली, "अच्छा साहब, आप 'शिशु-निकेतन' हो आइए। हम ठहरे जगमोहन साहब के शिशु ! वहाँ एक लाभ यह भी रहता है कि अगर कहीं शिशु की नाटककार से झड़प हो जाय, तो अंजना जी बीच-बचाव कर छोड़ती हैं, और हमारे प्रदीप जी तो ठहरे अल्ला मियाँ की गाय। कल जगमोहन कह रहा था कि उस ने नये ड्रामा में मेरे लिए बड़ी अच्छी रोल रखी है। अच्छा तो खुदा हाफ़िज, हम चलते हैं !" और भटनागर सुनील के उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही बाहर निकल गया।



७६

दीपाली, मिसिज़ सुनील और मिसिज़ केवल फिर से एक-दूसरे के बहुत समीप आ गईं। गांधी जी की प्रार्थना-सभा में भी वे मिलकर ही जातीं। तीनों को बराबर लाहौर की याद आती। दिल्ली में सब कुछ था, फिर भी उन्हें लगता कि लाहौर वाली बात नहीं है। लाहौर में पारुल थी, लेकिन उसके साथ तो किसी प्रकार का सम्बन्ध ही नहीं रह गया था। जावेद ने उसे इतना तो क्या बदल डाला होगा! जावेद के पहले पते पर उन्होंने शुरू-शुरू में पत्र भी लिखे थे, कोई उत्तर न आने के कारण उनका दिल टूट गया। इधर जैसे फिर से पारुल की याद ज़ोर मार रही थी।

मिसिज़ सुनील को अम्मी जान का पत्र तो बराबर मिलता था, लेकिन पारुल के सम्बन्ध में अम्मी जान हमेशा चुप साधे रहतीं। पारुल ज़िन्दा भी थी या नहीं, ज़िन्दा थी तो कहाँ थी, इस बारे में मिसिज़ सुनील को कुछ पता नहीं चल सका था। लाहौर में जो उथल-पुथल हुई, वहाँ जो तूफ़ान आया उसमें कितने तिनके बहकर कहाँ-से-कहाँ जा पहुँचे, यह अनुमान लगाना सहज न था।

मिसिज़ सुनील के जी में तो आया कि फिर से अम्मी जान को लिख कर पारुल का पता पूछे। अगर पारुल का पता मिल जाय, और पारुल के साथ पत्र-व्यवहार की कोई सूरत निकल आए, तो लाहौर और दिल्ली के बीच मित्रता का एक पुल बन जायगा, यह विचार बार-बार मिसिज़ सुनील को

गुदगुदाता और बार-बार वह अपनी सहेलियों से इसकी चर्चा करती।

'शिशु-निकेतन' में पढ़ाने में मिसिज़ सुनील का मन लगने लगा था। यह काम बहुत दिलचस्प था। दीपाली प्रिंसिपल थी, उसके व्यवहार पर वह जी-जान से न्योछावर थी। एक ही बात उसे खटकती थी, वह यही कि सुनील के पास इतना समय है, पर वह अभी तक लिखने की ओर से इतना उदासीन क्यों है। कई बार वह चाहती कि खुलकर दीपाली से कहे कि सुनील की प्रेरणा मैं नहीं तुम हो, पर संकोचवश उसकी ज़बान बन्द रहती।

इधर कुछ दिनों से मिसिज़ केवल भी तो 'शिशु-निकेतन' में पढ़ाने लगी थी। रिसेस में तीनों सहेलियाँ प्रिंसिपल के कमरे में इकट्ठी होतीं। मिसिज़ सुनील को हमेशा यही प्रतीक्षा रहती कि कभी तो दीपाली अपने मुँह से सुनील के बारे में कुछ पूछे और खुलकर नहीं तो संकेत से ही बात-बात में उसे वह प्रेरणा वाला प्रसंग छेड़ने का अवसर मिल जाय, पर दीपाली तो एकदम उदासीन थी। मिसिज़ केवल भी तो इतनी साहसी न थी कि दीपाली के सामने सुनील का मामूली-सा ज़िक्र भी कर सके, हालाँकि मिसिज़ सुनील जानती थी कि मिसिज़ केवल आज भी सुनील के कलाकार रूप की उतनी ही प्रशंसक है जितनी लाहौर में थी, बल्कि शायद उस से भी ज़्यादा।

शाम को 'शिशु-निकेतन' से तीनों सहेलियाँ गांधी जी की प्रार्थना-सभा में जातीं तो वहाँ से लौटकर दीपाली तो सीधी 'शिशु-निकेतन' में स्थित अपने क्वार्टर में चली जाती और मिसिज़ केवल हर रोज़ अपने यहाँ जाने से पहले मिसिज़ सुनील के साथ उसके फ्लैट में ज़रूर आती, और अगर सुनील से भेंट हो जाती तो अपने को धन्य समझती, और अगर कभी सुनील घर पर न होता और नौकर बताता कि वे तो दोपहर से ही ग़ायब हैं तो मिसिज़ केवल के चेहरे पर उदासी की लहर दौड़ जाती।

एक दिन जब वे प्रार्थना-सभा से लौटीं तो सुनील घर पर न था। मीनाक्षी के यहाँ नौकर को भेजकर विमल बाबू से पुछवाया गया, तो पता चला कि उन से मिले तो सुनील को तीन सप्ताह होने को आये।

मिसिज़ केवल ने काग़ज़ का एक टुकड़ा अपनी जेब से निकालकर मिसिज़ सुनील के हाथ में थमा दिया और वह प्यालों में चाय डालने लगी।

चाय की चुस्की भरते हुए मिसिज़ सुनील ने कहा, "यह गीत भी उसी बुढ़िया का बनाया हुआ मालूम होता है!"

"तुमने कैसे भाँप लिया?" मिसिज़ केवल ने हँसकर कहा, "हमारे केवल जी तो इस हिसाब से बहुत भोले हैं। मैं उन्हें भी दिखा चुकी थी पहला गीत, और जब यह दूसरा गीत उन्हें दिखाया तो वे बिलकुल न समझ सके कि यह भी उसी बुढ़िया का गीत है।"

"गाकर सुनाओ तो मज़ा आ जाय!" मिसिज़ सुनील मुसकराई।

मिसिज़ केवल काग़ज़ का वह टुकड़ा सामने रखकर गाने लगी :

साडे वेहड़े सूरज चढ़िया, सूरज चढ़िया
सूरज वेखण आ, ओ गांधी, आ ओ गांधी
तूँ वी ताँ इक्क सूरज एँ, सूरज एँ
सूरज वेखण आ, ओ गांधी, आ ओ गांधी
किक्कुण आवाँ भोलीए
मैंनूँ कम्म हज़ार, कम्म हज़ार
मेरे चरखे चों निकलया
अज्ज लम्म सुलम्मा तार
अंग्रेज़ कहे, मैं जा रिहा, मैं जा रिहा
गांधी आखे, बेलीया तूँ छेती जा, छेती जा
अंग्रेज़ कहे, मेरे करडा खुम्भा, करडा खुम्भा
गांधी आखे बेलीया दस्स कित्थे खुम्भा, कित्थे खुम्भा
गांधी करडा खिच्च लया, खिच्च लया
अंग्रेज़ पया अज्ज लम्मड़े राह, लम्मड़े राह
लोकीं भैड़े लड़ रहे, गांधी दा की दोष
हट के बैठो भैड़यो, वे कर वेखो कुज्झ होश
सूरज रिशमाँ छड्डीयाँ, अज्ज चमके धरती

गांधी मत्था टेकया, अज्ज खुश ए धरती
साडे वेहड़े सूरज चढ़िया, सूरज चढ़िया
सूरज वेखण आ, ओ गांधी, आ ओ गांधी [1]

मिसिज़ सुनील बोली, "गीत बुरा नहीं। यह और बात है कि कुछ लोगों का तो अब तक यही ख्याल है कि अंग्रेज़ की जड़ें हमारे मुल्क में और भी गहरी हो गई हैं। ख़ैर गीत बनाने वाली बुढ़िया इतनी गहराई में तो कैसे जा सकती थी ?"

इतने में दरवाज़े पर दस्तक हुई। मिसिज़ सुनील ने दरवाज़ा खोला, तो विमल बाबू ने भीतर आकर कहा, "अब तक नहीं आया सुनील ?"

"नहीं तो, विमल बाबू !" मिसिज़ सुनील ने विमल बाबू को कुरसी पर बैठने का संकेत किया।

"आप सुनील बाबू को कुछ लिखने के लिए क्यों नहीं कहते, विमल बाबू?" मिसिज़ केवल मुसकराई।

"सुनील का चाबी तो आमार हाथ में नहीं होने सकता !"

"तो किसके हाथ में होने सकता सुनील का चाबी?" मिसिज़ केवल ने

१. हमारे आंगन में सूर्य उदय हुआ है, सूर्य उदय हुआ है। सूर्य देखने के लिए आ, ओ गांधी, सूर्य देखने के लिए आ, ओ गांधी ! तुम भी तो सूर्य हो, एक सूर्य हो। सूर्य देखने के लिए आ, ओ गांधी, आ ओ गांधी ! मैं कैसे आऊं, ओ भोली ? मुझे तो हज़ार काम हैं, हज़ार काम हैं। मेरे चरखे से आज बहुत लम्बा तार निकला। अंग्रेज़ कहता है—मैं जा रहा हूं, जा रहा हूं ! गांधी कहता है—ओ मित्र, जल्दी जा जल्दी जा। अंग्रेज़ कहता है—मेरे कांटा चुभ गया, कांटा चुभ गया ! गांधी कहता है—ओ मित्र, बता कहां लगा है कांटा, कहां लगा है कांटा ? गांधी ने कांटा खींच लिया, खींच लिया ! आज लम्बे रास्ते पर चल पडा अंग्रेज़। बुरे लोग लड़ रहे हैं, गांधी का क्या दोष है ? हट के बैठो, ओ बुरे लोगो ! अरे कुछ तो होश कर देखो। सूर्य ने रश्मियां छोड़ी, आज धरती चमक रही है। गांधी ने प्रणाम किया, आज धरती खुश है। हमारे आंगन में सूर्य उदय हुआ है, सूर्य देखने के लिए आ ओ गांधी, आ ओ गांधी !

व्यंगपूर्वक कहा।

विमल बाबू ने गम्भीर होकर कहा, "ई बात तो हम नाहीं बोलने सकता। पर हम इतना तो बोलने सकता कि एक दिन सुनील अवश्य अपनी कला-साधना में फिर से लगने सकता। अभी तो उसका मन विचलित दृष्टिगोचर होता। कलाकार के जीवन में ऐसा भी समय आता। आमार जौवन में भी आया। वह समय आमार जीवन में न रहा, तो सुनील के जीवन में भी नहीं रहने सकता।"

"तो भगवान् से प्रार्थना कीजिए न विमल बाबू!" मिसिज़ केवल मुसकराई, "कि सुनील की लेखनी भी वैसे ही चले जैसे आपकी तूलिका चलती है।"

"ई तो होगा, अवश्य होगा।" विमल बाबू ने आश्वासन दिया।



७७

भटनागर के आग्रह से सुनील उसके साथ हो लिया। कोई विशेष प्रोग्राम तो न था, लेकिन इधर कई दिन से भटनागर जामा मस्जिद के कबाड़ियों की बहुत प्रशंसा करने लगा था। किस प्रकार महँगी और अप्राप्त पुस्तकें कौड़ियों के मोल मिल जाती हैं, ये किस्से भटनागर कुछ इस तरह नमक-मिर्च लगाकर सुनाता कि किसी भी कलाकार के मुँह में पानी आ जाना स्वाभाविक था।

जीने से नीचे उतरकर उन्होंने ताँगा लिया और ताँगा जामा मस्जिद की ओर चल पड़ा। ताँगे वाले ने घोड़े को पुचकारते हुए कहा, "अरे बेटा, आज तो बाबू लोगों को खुश कर दे।"

भटनागर ने छूटते ही कहा, "क्यों मियाँ ताँगे वाले, कब से चलाते हो ताँगा ?"

"अजी सात पुश्तों का कोचवान हूँ !" ताँगे वाले ने चेहरा घुमाकर बड़े गर्व से कहा, "हमारे कई भाई-बन्द तो डरकर भाग गये, लेकिन हम तो साहब, इसी मिट्टी से पैदा हुए और यहीं मरेंगे।"

"डरने की तो कोई बात नहीं, मियाँ जी !" सुनील ने गम्भीर होकर कहा, "दंगा-फ़िसाद कराने वाले तो अपना ही उल्लू सीधा करते हैं, लेकिन सच पूछा जाय तो इन्सान का खून बहुत मँहगा है।"

"अरे बेटा, कान खोलकर सुन ले !" ताँगे वाले ने हर्ष-विभोर होकर

अपने घोड़े को सम्बोधित करते हुए कहा, "ऐसी फ़रिश्ता-सीरत सवारियाँ तो अल्लाह हर रोज दे !" और ताँगे वाले ने घोड़े को दौड़ाना शुरू कर दिया।

भटनागर ने बात का रुख़ बदलते हुए कहा, "देखिए सुनील जी, मैं हूँ एक्टर और मेरी सब से बड़ी बदक़िस्मती यही रही कि मुझे आज तक कोई काम का डायरेक्टर ही नहीं मिला।"

"जगमोहन की तारीफ़ करते तो थकते नहीं थे," सुनील ने चुटकी ली, "आज एकाएक रंग कैसे बदल लिया ? और फिर यह तो आप भी मानेंगे कि डायरेक्टर को तो अपना ही दृष्टिकोण रखना पड़ता है। किसी एक्टर के हाथ की कठपुतली बनकर तो उसकी गुज़र नहीं हो सकती।"

ताँगा चला जा रहा था। भटनागर ने अगली सीट से पीछे की तरफ़ घूमकर जैसे सुनील की आँखों में झाँककर देखते हुए मुसकराकर कहना शुरू किया, "आप ठीक फ़रमा रहे हैं। डायरेक्टर के सामने तो पूरी कास्ट शतरंज के मोहरों की तरह होती है और समझदार डायरेक्टर वही गिना जाता है जो हर मोहरे को अपनी ही चाल चलने दे और किसी को भी यह मौका न दे कि अपनी चाल छोड़कर ख़्वाह-म-ख़्वाह दूसरों की चाल चलने लगे। मेरा मतलब आप समझ गये होंगे। अजी समझेंगे कैसे नहीं। आप तो खुद नाटककार और डायरेक्टर हैं और भगवान की दया से जगमोहन से कहीं बढ़कर। यह और बात है कि आप अभी खुलकर दिल्ली की स्टेज पर नहीं उतरे।"

"ख़ैर, जितनी प्रशंसा आप कर गये, उसका तो मैं अधिकारी नहीं हूँ।" सुनील ने चबा-चबाकर कहना शुरू किया, "लेकिन एक बात तो स्पष्ट है कि स्टेज का स्टेण्डर्ड हमें ऊँचा उठाने के लिए अभी बहुत कुछ करना है। आप मुझ से सहमत होंगे कि डायरेक्टर को हर प्रकार की रू-रियायत से ऊँचा उठना होगा, नाटक का मसविदा चुनते समय बड़ी कड़ाई से काम लेना होगा। फिर कास्ट का चुनाव भी वाजिब होना चाहिए। रिहर्सल करते समय डायलॉग की ठीक-ठीक अदायगी पर जोर देते हुए खेल का रूप उभारना होगा। और सच तो यह है कि यह काम मिथ्या अहं के बल-

बूते पर तो किया ही नहीं जा सकता।"

"लेकिन एक बात है, सुनील जी!" भटनागर ने जैसे नाटक की दुनिया के किसी पुराने पापी की तरह सिर हिलाकर कहा, "एक्टर का भी तो अपना नज़रिया होता है। वह भी अपनी राय रखता है। एक्टिंग से एक ज़ोम पैदा होता है, झिझक मिटती है, ढिठाई आती है। और साहब, ज़ोम और ढिठाई की बदौलत ही तो एक एक्टर, जिसे सुबह का नाश्ता भी नसीब न हुआ हो, स्टेज पर आकर एक मुग़ल शहनशाह का पार्ट कर सकता है, जब उसकी पाटदार आवाज़ गूँज उठती है—मा बदौलत हुक्म देते हैं कि इस शख्स को मौत के घाट उतार दिया जाय!"

सुनील चुपचाप सुनता रहा। भटनागर भला गर्म लोहे पर चोट लगाने की बात कैसे भूल सकता था, "सुनील जी, आपके अनुभव को तो ख़ैर हम इस उमर में पहुँच ही नहीं सकते, आप ठहरे नाटककार और डायरेक्टर, और हम एक मामूली एक्टर। लेकिन एक बात है कि ज़माना बड़ी तेज़ी से बदल रहा है और बागडोर जगमोहन-जैसे फैशनेबल किस्म के डायरेक्टरों के हाथ से निकल रही है। अब मैं जगमोहन से यह तो कहने से रहा कि डायरेक्टरी का घर बहुत दूर है। अजी सुनील जी, क्या बताऊँ यहाँ तो वह बात है कि लड़े फौज नाम सरदार का। मैंने कई बार देखा कि जगमोहन का ड्रामा मेरे ही पार्ट की बदौलत चल निकला। फिर भी क्या मजाल कि जगमोहन किसी आर्ट क्रिटिक से अपनी तारीफ़ लिखवाने के लिए दावत देते समय कभी भूले से हमारी सिफारिश भी कर दे।"

एकाएक ताँगा रुक गया। सामने जामा मस्जिद नज़र आ रही थी। ताँगे से उतरकर वे कबाड़ियों की दुकानों की तरफ़ चल पड़े। बाज़ार में उतनी रौनक न थी। बहुत कम लोग आ-जा रहे थे। वातावरण में घुटन-सी थी। पास-पास चलने वाले जैसे एक-दूसरे को सन्देह की दृष्टि से देख रहे हों। सुनील को लगा कि वह व्यर्थ ही यहाँ आया।

सहसा सुनील को लाहौर की याद आई। कभी वहाँ भी यही वातावरण था। मन-ही-मन वह सोचने लगा कि ऐसा क्यों होता है। आपसदारी और

मित्रता की भावना इतनी क्यों दब जाती है।

भटनागर ने सुनील का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करते हुए कहा, "अजी कुछ न पूछिए, सुनील जी! एक बार मेरे साथ बुरी हुई। बड़ी अच्छी किताब हाथ से निकल गई। मामला तो बारह आने पर तय हो गया था, लेकिन जेब में हाथ डाला तो सिर्फ चवन्नी मिली। बाकी दस आने कहाँ ग़ायब हुए, मैं समझ ही न सका। श्रीमती जी से एक रुपया का नोट लेकर चला था। घर से ओडियन तक तो पैदल दौड़ मारी। ओडियन से काज़ी हौज तक दुवन्नी ताँगे की। काज़ी हौज से जामा मस्जिद का तो फासला ही क्या है। सोचा था, दुवन्नी काज़ी हौज से ओडियन तक और बारह आने इस नायाब किताब पर खर्च कर डालते हैं। लेकिन दस आनों पर किस मोज़ी ने हाथ साफ किया और कैसे, यह बात आज तक मेरी समझ में नहीं आ सकी। आप भी ज़रा जेब का ख्याल रखिए, सुनील जी! यह बाज़ार कुछ ऐसा-वैसा ही है।"

"तो वह किताब आप को नहीं मिल सकी थी? कैसी किताब थी?"

"वह तो अपने ही मतलब की थी। यही ड्रामे और एक्टिंग पर। खैर, वह किताब खरीदी तो न जा सकी थी, पर मैंने वहीं बैठे-बैठे उसका सारा निचोड़ ले लिया। मेरा एक हाथ जेब में था और दूसरे हाथ से मैं ज़मीन पर पड़ी किताब के पन्ने पलट रहा था और कबाड़िये पर मैं यही ज़ाहिर कर रहा था कि यह किताब तो अब मैं लेने ही वाला हूँ, और पैसे निकालकर उसके हाथ पर रखते अब मैं अधिक देर नहीं लगाऊँगा। शायद वह किताब आज कहीं नज़र आ जाये।"

लेकिन उन्होंने एक-एक दुकान छान मारी, लाख तलाश करने पर भी वह किताब कहीं नज़र न आई।



७८

ट्राम की लाइन के साथ-साथ वे चाँदनी चौक की ओर हो लिये। भटनागर बोला, "उस दिन जामा मस्जिद के कबाड़ी बाज़ार में उस किताब में बड़ी मज़ेदार बातें पढ़ने को मिल गई थीं। एक जगह इस बात पर रोशनी डाली गई थी कि ख़ालिस मर्दों की मण्डली में डायरेक्टर किसी एक्टर को कितना भी टोक दे, तो वह बिलकुल बुरा नहीं मनायेगा, लेकिन अगर इस मण्डली में लड़कियाँ भी मौजूद हैं, तो डायरेक्टर को यह जान लेना चाहिए कि अगर वह रिहर्सल के बीच में मुलायम-से-मुलायम लहजे में भी किसी एक्टर को टोक देगा तो उसके मर्दाना वक़ार को ठेस लगेगी!"

सुनील अनमने मन से सुनता रहा। भटनागर ने सोचा कि सुनील पर उसके अध्ययन की छाप लग गई। उस ने मानो एक क़दम बढ़ाकर कहना शुरू किया, "अजी सुनील जी, उस किताब की एक बात तो बहुत ही मज़ेदार थी। रेडियो के एक डायरेक्टर साहब का किस्सा यों बयान किया गया था—आँ जनाब यूरोप का दौरा भी कर आये थे। एक्टरों को एक ख़ास अन्दाज़ में डायलाग रटाने का ख़ब्त उन पर बुरी तरह सवार था। बीस-बीस रिहर्सलें कराना तो उनके लिए मामूली बात थी। स्टेज की अन्धी तक़लीद ही उनके नज़दीक सब से बड़ा आर्ट था, वही शानदार डायलाग और ख़ुश-आहंग लफ़्ज़ों का ठाठ। बादशाह हो चाहे चोबदार, जज हो चाहे मुलज़िम, सबकी वही पुर-तकल्लुफ़ ज़बान। एक एक्टर को डायरेक्टर का

यह वतीरा नागवार गुजरा। ड्रामे में उसकी रोल वज़ीर की थी, उसके डायलाग का रंग बादशाह के डायलाग से मिलता-जुलता था। बस फ़र्क़ था तो इतना ही कि उसे खर्ज ज़रा हलका रखना था और लहजा भी ज़रा नरम। खेल शुरू हुआ तो बादशाह ने रोबदार लहजे में कहा—'मा बदौलत हुक्म देते हैं कि मुजरिम को या-बे-जंजीर जिन्दाँ में डाल दिया जाय!' और वज़ीर ने इसी अन्दाज में बल्कि इस से भी ज़्यादा पाटदार आवाज में कहा—'आलम पनाह के इरशाद की फौरन तामील की जायगी। कोई है?' इस ढब से ड्रामा आगे बढ़ा तो साहब, यह पहचान करना मुश्किल हो गया कि कौन बादशाह है और कौन वज़ीर। जब बाकी एक्टरों ने इन दो बिफरे हुए शेरों का यह हाल देखा, तो दम साधकर रह गये।"

भटनागर का मन रखने के लिए सुनील ने केवल इतना ही कहा, "उस दिन वह किताब आपको मिल गई होती तो हम भी पढ़ लेते।"

"अजो उस किताब की एक और बात सुनिए," भटनागर मुसकराया, "पारसी स्टेज के एक एक्टर से डायरेक्टर की चल गई और डायरेक्टर ने उसकी रोल छीनकर किसी और को दे दी और उसे चोबदार बना दिया। अब साहब, उस एक्टर ने फैसला किया कि चोबदार की रोल इतनी शानदार होनी चाहिए कि भरे दरबार में लोगों की नज़र न हीरो पर पड़े, न विलेन पर, चोबदार पर ही पड़े। दूसरे विंग वाले चोबदार से उसने साँठ-गाँठ कर ली। अब पर्दा उठा तो दोनों चोबदार अपनी-अपनी जगह पर बुत बने खड़े रहे। क्या मजाल की आँख की पुतली तक फिर जाय। इतने में एक कबूतर आकर चोबदार के सिर पर बैठ गया। लोगों ने यह अजूबा देखा तो उनकी निगाहें सब को छोड़कर इन चोबदारों पर जम गईं। लोगों ने उन्हें स्टेज पर आते देखा था, उन्हें मालूम था कि वे बुत नहीं ज़िन्दा इन्सान हैं। दूसरे एक्टरों ने हाथ-पैर मारे, उछल-कूद की, सब बेकार। चोबदारों पर ही सब की निगाहें टिकी रहीं।"

"मुझे तो आश्चर्य हो रहा है कि आप कबाड़ी की दुकान पर बैठे-बैठे मुफ्त में ही उस किताब को कैसे पी गये थे!" सुनील ने चुटकी ली।

"आख़िर मैं एक्टर हूँ सुनील जी, और वह भी आज का नहीं। बीस साल यही झख मारते हो गये। अब आकर आप जैसा नाटककार और डायरेक्टर मिला है। आपकी इनायत हो गई तो मैं भी इस दुनिया में थोड़ा नाम कमा मरूँगा!"

"मुझ से जो बन पड़ेगा, वह मैं जरूर करूँगा।"

इस सहानुभूति से भटनागर को जैसे पंख लग गये। बोला, "उस किताब की एक बात तो रह ही गई। एक एक्टर की एक डायरेक्टर के बारे में राय सुनिये—'जुमा जुमा आठ दिन हुए ड्रामे की दुनिया में आये हुए और हमें सिखाने चले हैं। यहाँ बड़े-बड़े उस्तादों की मार खाये हुए हैं। जी हाँ, पिटाई हुई है, बाकायदा कान ऐंठे गये हैं। और उस्ताद जुम्मन खाँ तो झट से धप्प जमा देते थे जरा-सी गलती पर। अब तुम्हीं इन्साफ़ करो। फ़र्माते हैं कि तीसरी विंग निकालो और डायलाग शुरू कर दो। हाय उस्ताद मरहूम! अल्लाह उन्हें करवट-करवट जन्नत नसीब करे। स्टेज का बिजनेस बनाना उन पर ख़तम था। उन्होंने पहले दिन ही बताया—'बेटा, बायें विंग से एण्ट्री कीजो, फिर चार कदम चलकर दाईं टाँग आगे करके पैंतरे से खड़े होकर छत की कड़ियों पर नज़र जमाकर पाँच तक गिनती कीजो। फिर डायलाग शुरू कीजो।' और यह कल का छोकरा कहता है कि तीसरे विंग से निकलकर छूटते ही डायलाग शुरू कर दो। धत्त तेरे की!"

"वह किताब तो मिलनी चाहिए!" सुनील मुसकराया।

"अजी मिल ही जायगी एक-न-एक दिन। जो किताबें एक बार कबाड़ी बाजार की हवा खा लेती हैं, वे किसी-न-किसी रास्ते से फिर लौटकर आती हैं बार-बार इसी कबाड़ी बाजार में। खैर सुनिये। उस किताब की एक बात और याद आ गई। हाँ तो—"

"अब उस किताब की बात रहने दीजिए!" सुनील ने झुँझलाकर कहा, "कोई अपने तजुर्बे में आई हुई बात कहने-सुनने को हो तो मैं सुन सकता हूँ।"

"अच्छा तो वही सुनिये। नौचन्दी के मेले की बात है। गंगा के किनारे

ठाठ का मेला भरता है। पुराने ढंग की एक नाटक-मण्डली का क़िस्सा है। एक डायरेक्टर को न जाने क्या सूझी कि दिल्ली से कुछ रेडियो एक्टरों को भी पकड़ ले गये। साथ में कुछ नई स्टेज के हम जैसे एक्टर भी धर लिए गये। साहब, मज़ा आ गया। पुराने और नये का ऐसा चूँ-चूँ का मुरब्बा पहले तो कभी देखने में नहीं आया था। खेल वही पुराने—लैला-मजनूँ और शीरीं-फ़रहाद! स्टेज भी पुरानी। हाँ, डायरेक्टर साहब ने नये पैबन्द लगाने की मौलिकता दिखाने का यत्न किया था। रिहर्सल का काम पुरानी स्टेज के एक घाघ क़िस्म के ख़लीफ़ा के हाथ में था। डायरेक्टर साहब तो मेला देखते रहते। एक दिन रिहर्सल हो रही थी। मेरी रोल विलेन की थी और मेरा पहला ही डायलाग था—'इन्हें मिट्टी में मिला दूँगा!' ख़लीफ़ा जी ने पचासों बार वह डायलाग खुद बोलकर मुझे इसकी नोक-पलक समझाई। मैं ख़लीफ़ा जी के हसब-ख़्वाहिश बोलने में अभी-अभी सफल हुआ था कि ऊपर से डायरेक्टर साहब आ धमके। उन्हें मेरा डायलाग बिलकुल पसन्द नहीं आया। उन्होंने आगे बढ़कर मुझे टोकते हुए कहा—'मिट्टी तो लाये नहीं, पहले मिट्टी लाओ!' और हवा में बाज़ू लहराकर उन्होंने कहा—'यह है मिट्टी लाना!' इस पर पुरानी क़िस्म के एक्टरों के तो हँसते-हँसते पेट में बल पड़ गये और ख़लीफ़ा जी की भी जैसे नानी ही मर गई हो।"

"बहुत खूब!" सुनील को भी मज़ा आ गया।

"अब तो खैर ज़माना बहुत बदल गया, सुनील जी! आप जैसे प्रतिभाशाली नाटककार और डायरेक्टर इस मैदान के धनी हैं। फिर भी मुझे तो कई बार आज से बीस बरस पहले की बातें याद आये बिना नहीं रहतीं, जब मुझ पर एक्टर बनने का नया-नया ख़ब्त सवार हुआ था। लैला-मजनूँ की तो उन दिनों धूम थी। मेरे जी में आया कि क्यों न मैं भी मजनूँ बनकर ही दम लूँ। लेकिन बहुत जल्द पता चल गया कि यह अपने बस का रोग नहीं, क्योंकि मजनूँ बनने के लिए तो रबड़ का जिस्म दरकार था और गैंडे की खाल। पुराने मजनूँ को 'हाय लैला' कहकर

स्टेज पर पटखनी खाते हुए दूसरे किनारे पर रबड़ की गेंद की तरह उछल-कर उभरना पड़ता था। पहले आठ घण्टे का मजनूँ हुआ करता था, फिर घटते-घटते चार घण्टे का रह गया था। स्टेज पर पटखनियाँ खाते-खाते मजनूँ की हालत सुबह तक ऐसी हो जाती थी कि जाने अब उठना भी नसीब होगा या नहीं। कम्पनी का मालिक और सभी एक्टर मजनूँ के खेमे के बाहर खड़े होकर दुआ करते थे। दो पहलवान मजनूँ की मालिश पर लगे रहते थे, क्योंकि मजनूँ के दम तोड़ने का मतलब था कम्पनी का बिस्तर गोल हो जाना।"

चाँदनी चौक में घूमते-घूमते एक जगह जगमोहन मिल गया। उसके साथ एक सुन्दरी थी जिसके कानों में सोने की गोल-गोल बालियाँ और माथे पर आँख की पुतली से भी बड़ी लाल बिन्दी नज़र आ रही थी। "आ गए सुनील जी, आपको कुलफ़ी खिलायें?" जगमोहन ने हँसकर कहा, "इनसे मिलिए। यह हैं निशा पसरीचा। ड्रामा के मैदान में अभी-अभी उतरी हैं।" और फिर उस ने भटनागर से निशा का परिचय कराया, "यह रहे भटनागर जी, मशहूर जर्नलिस्ट और एक्टर।"

"कभी फिर खायेंगे आपकी कुलफ़ी," सुनील ने क्षमा-याचना के अन्दाज़ में कहा, "हमें स्टेशन तक जाना है। निशा जी से भी आराम से मिलेंगे किसी दूसरे दिन आपके साथ।"

ज्यों ही वे आगे बढ़े, भटनागर ने खुशी से झूमकर कहा, "यह बताना तो मैं भूल ही गया था सुनील जी कि इधर अंजना जी जगमोहन से कुछ खिंची-खिंची रहने लगी हैं, क्योंकि जगमोहन तो अपने इस नये शिकार पर ही लट्टू हो गया है।"

सुनील ने इसका कुछ जवाब न दिया।

एक जगह रेडियो सुनने के लिए बहुत-से लोग जमा थे। रेडियो पर यह एलान किया जा रहा था कि आज गांधी जी के प्रार्थना-सभा में पहुँचते ही किसी ने उन पर तीन गोलियाँ चलाईं और स्वतन्त्रता का महान् सेनानी आज हमारे बीच में नहीं रहा।



७६

जैसे एक ऊँची चट्टान धम्म से ज़मीन पर आ गिरी हो। सुनील इस झटके को बर्दाश्त न कर सका। उसकी कल्पना में ईसा का चित्र उभरा। ईसा से कहा गया कि वह उस क्रास को उठाकर ले चले जिस पर उसे सूली दी जाने वाली थी। उस महापुरुष ने उस युग के वहशियों की आज्ञा सहर्ष स्वीकार की थी। उसे क्रास के सहारे खड़ा करके उसके हाथों और पैरों में मेखें गाड़ दी गई थीं। तो क्या इस प्रकार ईसा का काम ख़तम कर दिया गया था? और अब शताब्दियों के पश्चात् इस युग के ईसा को यों मार डाला गया। एक न दो, तीन गोलियाँ! शाम के पाँच बजकर दस मिनट पर। जब वह प्रार्थना-सभा में आ रहा था। लोगों को नमस्कार करने के लिए उसके हाथ उठे के उठे रह गये। तभी हत्यारे ने पिस्तौल में से गोलियाँ दाग़ दीं। गिरते हुए उसके मुँह से 'हाय राम!' निकला। एक न दो, तीन गोलियाँ! सचाई के फूल मुरझा गये। वह मुट्ठी भर हड्डियों का ढाँचा ढह पड़ा। उसके शरीर में अधिक रक्त तो न था। उसकी आवाज़ तो सब के लिए थी। उसके लिए तो भौगोलिक सीमाएँ न थीं। जहाँ भी हिंसा सिर उठाती थी, वहीं पहुँचती थी उसकी आवाज़। अन्याय कहीं भी क्यों न हो रहा हो, वहीं जा पहुँचता था सहायता के लिए यह सत्य और अहिंसा का दूत!

इतनी ऊँची चट्टान यों गिर जायगी, किसे खबर थी!

गांधी जी के गोली लगने की खबर सुनते ही सुनील और भटनागर चाँदनी चौक से लौट आये थे। रास्ते भर दोनों मित्रों के होंठ जैसे किसी ने सी दिये हों। सुनील को बार-बार आइन्सटाइन का वह बोल याद आता रहा जो एक बार उन्होंने गांधी जी के बारे में कहा था—'आने वाली पीढ़ियाँ सोचा करेंगी, कैसा था रक्त-मांस का वह पुतला जो इस धरती पर चला करता था!' घर पहुँचने पर पता चला था कि कल्याणी तो अभी तक बिरला हाउस से नहीं लौटी। खैर फिर वह भी लौट आई थी। उसने बताया था कि दीपाली और तेज कौर भी उसके साथ थीं। उन्होंने गांधी जी को अपनी आँखों के सामने गिरते देखा था। कल्याणी बहुत घबराई हुई थी। रात को किसी ने खाने को मुँह नहीं लगाया था। रात को वह पूरी तरह सो भी तो नहीं सका था। बार-बार उसे गांधी जी के उस पत्र की याद आती रही जिसमें उन्होंने एक बार रवीन्द्रनाथ ठाकुर को लिखा था—'तुम सवेरे के पक्षियों की तरह गाते हो जिनका पेट भरा हो, ऐसे पक्षी भी हैं जिन के पेट खाली हैं।' अब वह आवाज बन्द कर दी गई थी जो एक कलाकार को भी चेतावनी दे सकती थी। रात भर उसे बुरे-बुरे सपने आते रहे थे।

दूसरे दिन सवेरे से ही लोग गांधी जी की अर्थी के साथ जाने की तैयारियाँ करने लगे। तेजकौर और दीपाली सवेरे-सवेरे सुनील के यहाँ चली आईं। कल्याणी तैयार थी, लेकिन सुनील की मानसिक अवस्था ऐसी न थी कि वह अर्थी के साथ जाने के लिए राजी हो सकता।

कल्याणी डरती अवश्य थी कि कहीं इसी मामले को लेकर दीपाली के साथ सुनील की झड़प न हो जाय। खैर ऐसी कोई बात तो न हुई। दीपाली मूक रही। तेजकौर भी जैसे हतप्रभ-सी खड़ी हो। कल्याणी ने अपनी सहेलियों को समझा दिया था कि इस अवस्था में सुनील का घर पर रहना ही ठीक है।

तीनों सहेलियाँ चली गईं। सुनील अपने पलंग पर बैठा रहा, अस्त-व्यस्त, अनमना-सा। एक न दो, तीन गोलियाँ! उसे मार डाला। कब?

जब वह अपनी प्रार्थना-सभा में पहुँच रहा था। उसके हाथ उठे-के-उठे रह गये। सत्य और अहिंसा की मूर्ति ढह पड़ी। उस युग के ईसा को समाप्त नहीं किया जा सका था, तो इस युग के गांधी को किस तरह समाप्त किया जा सकता है?

लिखने के प्रति उसकी अरुचि पहले ही काफी गहरी थी, अब जैसे और भी गहरी हो गई। सब-की-सब कला ढोंग है! साहित्य का मनन भी व्यर्थ का बखेड़ा है! एक न दो, तीन गोलियाँ! तो जब ये तीन गोलियाँ ही अधिक सत्य हैं तो सुनील क्यों लेखनी उठाये? इस स्वर पर मानवता की छाप थी। इसी स्वर को रुद्ध करने का यत्न किया गया।

अनगिनत शताब्दियाँ पीछे, अनगिनत शताब्दियाँ आगे; बीच में इन्सान खड़ा है। आज का इन्सान। समय असीम है, पृथ्वी विशाल है। एक वह दिन था जब मैं बचपन में ही घर से भाग निकला था; सौ-सौ पापड़ बेले, तब जाकर मैं आज का सुनील बन सका। मेरी किसे जरूरत है? गांधी जैसे इन्सान को तो मार डाला गया, फिर मेरी किसे जरूरत है?

समय असीम है, पृथ्वी विशाल है। तीस साल की उमर भी कोई उमर होती है! कल्याणी मुझ से कहती है कि अभी तो पहाड़ जैसी उमर सामने है, अभी तो बहुत कुछ करना है। लेकिन मैं पूछता हूँ इस करने-धरने से क्या लाभ? मैंने किस-किस घाट का पानी नहीं पिया, क्या-क्या कठिनाइयाँ नहीं आईं मेरे रास्ते में। 'मिट्टी की मूरत' का कापी राइट बिक गया, 'गुड़िया और लोरी' कोर्स में तो लग गई, लेकिन उस से तो छः मास की रोटियाँ भी नहीं निकलतीं। 'जंगल रोता है' रायल्टी पर छपवाई अवश्य, लेकिन वह बिकती ही नहीं। यह भी किसी कबाड़िये के यहाँ पहुँचकर रहेगी। कला और साहित्य को यहाँ पूछता ही कौन है? घर चलाने के लिए कल्याणी को नौकरी करनी पड़ रही है। मैं हूँ कि एक भी शब्द लिखने को जी नहीं होता। जी तो यही कहता है कि लानत भेजो लिखने पर। कल्याणी भी क्या सोचती होगी? तेजकौर भी मुझ पर मन-ही-मन अवश्य हँसती होगी। आज इतने दिन बाद दीपाली हमारे

यहाँ आई भी तो उस से दो बातें भी न कर सका। न जाने क्या सोचती होगी मेरी प्रेरणा! भीतर-ही-भीतर बुझ गई है प्रेरणा, चेहरे पर वह रौनक कहीं नज़र नहीं आती। 'शिशु-निकेतन' की प्रिंसिपल बनी बैठी है मेरी प्रेरणा। फिर हम से यह आशा की जाती है कि हम नाटक लिखें! लिखना मज़ाक तो नहीं। कलाकार को तो रक्त से लिखना होता है। कई बूँद रक्त सूखता है, तब कुछ लिख पाता है कलाकार। जब वह लिखता है, तो लिखने का उद्देश्य केवल पैसा कमाना ही तो नहीं होता, वह लिखता है तो बहुधा स्वान्तः सुखाय ही। नहीं, नहीं, वह केवल स्वान्तः सुखाय ही तो नहीं लिखता, वह तो बहुजन हिताय ही लिखता है, उसके लिखने से एक सामाजिक कर्तव्य की पूर्ति न हो सके तो उसे वस्तुतः सन्तोष नहीं होता। अपनी आवाज़ दूसरों तक पहुँचाने की प्रवृत्ति ही लेखक को उकसाती है।··· लेकिन अगले ही क्षण जैसे उसकी चेतना को झटका-सा लगा—नहीं, नहीं, मेरे सामने अब कोई आदर्श खड़ा नहीं रह सकता। युग-सत्य की डोर अपने हाथ में थामे रहूँ, यह मेरा दावा नहीं। व्यर्थ गई मेरी अन्तर्दृष्टि, व्यर्थ गई विकास की मंज़िलें जिन से होता हुआ मैं यहाँ तक पहुँचा। युग-सत्य को रूपायित करने की चिन्ता में घुलता रहा इतने वर्ष व्यर्थ ही, परिस्थितियों से जूझता रहा व्यर्थ ही। परिस्थितियाँ तो सदैव मुझे नचाती रहीं। वेदना से वेदना का तार ही निकलता रहा। निराशा से आशा की किरण कभी न फूटी। अर्जुनसिंह ने तो लाहौर में ही कह दिया था कि छोटी स्टेज पर बड़ा ड्रामा नहीं खेला जा सकता। वाक़ई स्टेज छोटी है, बहुत ही छोटी है। अर्जुनसिंह कुछ झूठ तो नहीं कहता। जिस लम्बे काफ़िले के साथ अर्जुनसिंह लायलपुर से चलकर हिन्दुस्तान की सीमा तक पहुँचा उस काफ़िले का प्रदर्शन कभी किसी रंगमंच पर तो होने से रहा। चतुर्दिक् विनाश सिर उठा रहा है। इसी विनाश ने मूर्तिमान् होकर तीन गोलियाँ चलाईं। एक न दो, तीन गोलियाँ। सत्य और अहिंसा की वह मूर्ति ढह पड़ी, जैसे युग को सत्य और अहिंसा की कोई आवश्यकता ही न रह गई हो।

व्यर्थ है स्वान्तः सुखाय का आदर्श, व्यर्थ है बहुजन हिताय का आदर्श।

जिस कला का कापी राइट कौड़ियों के मोल बिक जाता हो, या जिस कला-कृति की जामा मस्जिद के कबाड़ियों के पास पहुँचकर इतिश्री हो जाय, धन्य है वह कला, धन्य है वह कलाकार ! मैं तो इस कला का पक्ष लेने से रहा। मेरी कोई आकांक्षा नहीं रह गई। कला के इतिहास में मैं अपना नाम नहीं लिखवाना चाहता !···एक झटके के साथ वह उठकर खड़ा हो गया। उसे लगा कि अर्थी के जलूस के साथ तो उसे अवश्य जाना चाहिए था। दीपाली मुझे लेने आई थी। मुझे उसका मन अवश्य रखना चाहिए था। नहीं, नहीं !—मैंने जो किया, ठीक किया। पंछी तो उड़ गया, ये सब तो बाद की बातें हैं।···

दीपाली को उसका 'शिशु-निकेतन' मुबारक। हम तो उसे अपनी अध्यापिका बनाने से रहे। कल्याणी को भी उस ने अपने यहाँ रख लिया तो अच्छा किया। अब तो तेजकौर भी वहीं पढ़ाने लगी है। तीनों सहेलियाँ लाहौर की बातें करती होंगी मजे से, लेकिन हमारा हाल दूसरा है। लाहौर हर रोज दूर होता जा रहा है। काश, लाहौर हर रोज समीप आ सकता ! काश, मैं कोई ऐसी चीज बना सकता। नहीं, नहीं, मैं तो अब उस से हाथ धो चुका। दुनिया वालों से सत्य और अहिंसा के उस अग्रदूत की बात न सुनी गई, तो मेरी बात कौन सुनेगा। युग-सत्य की डोर थामे नहीं थमती, बदलते हुए चित्रपट को रोका नहीं जा सकता। परिवर्तन तो अवश्यम्भावी है। कुछ भी शाश्वत नहीं, सत्य भी शाश्वत नहीं। सत्य का पल-पल, क्षण-क्षण बदलता हुआ रूप ही शाश्वत सत्य है।···

कल रात उसने कुछ भी नहीं खाया था—आज सवेरे कल्याणी के लाख अनुरोध करने पर भी उस ने किसी चीज को मुँह नहीं लगाया था, पर अब वह भूख सरपट दौड़ती आ रही थी, जैसे यह भूख ही शाश्वत सत्य हो।

उसकी नजर सामने दीवारगीर पर रखे एक सेब पर पड़ी। वह मन पर जोर डालकर भूख को पीछे लौटाने का यत्न करता रहा, पर यह प्रयत्न व्यर्थ ही रहा। वह उठकर खड़ा हो गया। अब सेब उसके हाथ में था।



८०

एक दिन कल्याणी ने अपने पति पर व्यंग्य कसते हुए कहा, "रोली फ्लेक्स केमरा ख़रीद कर तुम प्रेस-फोटोग्राफ़र बन जाओगे, इसका तो मुझे सपने में भी विचार न आया था।" काली किनारी की सफ़ेद साड़ी, सुनहरी बुन्दकियों वाला काला ब्लाउज़, जूड़े पर सफ़ेद गुलाब, माथे पर लाल बिंदिया, कानों में सोने की गोल बालियाँ। इस वेश में वह अध्यापिका से कहीं अधिक एक कलाकार प्रतीत हो रही थी।

सुनील केमरे में फ़िल्म डाल रहा था। कल्याणी की ओर देखकर वह मुसकराकर रह गया। कल्याणी ने समीप आकर कहा, "कल तुम मेरा स्नैप लेने के लिए कह रहे थे न?"

"तो क्या यह शृंगार फोटो के लिए ही किया गया है?" सनील मुसकराया, "अभी तो मैं कच्चा फोटोग्राफ़र हूँ। तुम सोचती होगी कि अभी तो मैं शायद तुम्हारी अच्छी पोरट्रेट न बना सकूँ।"

"कभी मैं एक नाटककार की पत्नी थी, अब एक प्रेस-फोटोग्राफ़र की पत्नी हूँ।" कल्याणी का व्यंग्य तीखा हो उठा और फिर उसने नरमी से कहा, "तुम ने तो जो भी काम किया, मन लगाकर किया। अब तुम कई प्रेस-फोटोग्राफ़रों को पीछे छोड़ जाओगे।"

"अरे शुक्र करो कि अब तुम 'अजन्ता-प्रकाशन' के सेठ जी के एक पिट्ठू की पत्नी नहीं हो, बल्कि एक बा-इज़्ज़त प्रेस-फोटोग्राफ़र की पत्नी हो।

खैर अभी तो मैं प्रैक्टिस ही कर रहा हूँ। ज़रा मेरा हाथ सध जाय, नौकरी के चक्कर से कहीं अच्छा है अपना काम। न किसी की मिन्नत, न किसी की खुशामद।"

रविवार का दिन था। अप्रेल का महीना। गर्मी शुरू हो गई थी। सुनील ने कल्याणी पर पूरी फ़िल्म ख़तम कर डाली—पीछे से, आगे से, दायें से, बायें से—उसने कल्याणी के कई पोज़ लिये।

"ये सब कच्चे फोटोग्राफ़र की निशानियाँ हैं।" कल्याणी ने हँसकर कहा, "तुम्हें किसी एक स्नैप पर भरोसा तो है ही नहीं। इसीलिए तो तुमने फ़िल्म ख़तम कर डाली।"

"अब हर चेहरे पर तो तुम्हारा सुनील पूरी फ़िल्म ख़तम करने से रहा।"

"अब मज़ा तो जब है कि अभी इस फ़िल्म को ले जाओ और वापस लौटो तो तैयार फ़ोटो लेकर।" कल्याणी मुसकराई, "ताकि मैं भी देखूँ कि तुम्हारा हाथ कितना साफ़ है।"

सुनील ने सिर हिलाकर वायदा किया कि वह अभी एक मित्र के यहाँ जा रहा है, जहाँ इस फ़िल्म को डिवेल्प करने और इसे सुखाकर बारह-के-बारह फोटो एनलार्ज करा लाने की कोशिश अवश्य करेगा।

सुनील तेज़-तेज़ कदम उठाता हुआ जीने की ओर बढ़ा। उसके पैरों की आवाज़ कल्याणी की कल्पना को देर तक सहलाती रही। नौकर सब्ज़ी लेने चला गया था, अभी लौटकर नहीं आया था। उसे रह-रहकर सुनील की कला-साधना का ध्यान आने लगा। वैसे तो उसे अब न कहीं नौकरी करने की आवश्यकता है, न उसके सामने केमरा उठाकर प्रेस-फोटोग्राफ़रों की मण्डली के साथ-साथ मीटिंगों और कान्फ्रेंसों के चक्कर लगाने का सवाल है।

दो-ढाई महीने से सुनील पर यह नया ख़ब्त सवार हो गया है। फोटोग्राफ़ी कोई बुरी वस्तु तो नहीं है। लेकिन प्रश्न तो यह है कि क्या इस वक्त सुनील के लिए इसकी इतनी ही आवश्यकता है। वैसे सुनील हर वक्त आत्म-सम्मान की दुहाई देता है। मेरे वेतन के रुपये से घर

चलाने की बात को सुनील एकदम नापसन्द करता है।

मैं कहती हूँ कि वह लिखे, पर वह कलम उठाकर कुछ लिखना ही नहीं चाहता। हर रोज़ मैं उसकी मेज़ पर पड़े हुए पैड को खोलकर देखती हूँ कि शायद उसने दो पंक्तियाँ लिखी हों। पर मुझे हर रोज़ पैड खाली-का-खाली नज़र आता है। उस वक्त मैं अपने आप से सवाल करती हूँ कि मैं क्यों सुनील की प्रेरणा न बन सकी। तो क्या दीपाली ही सचमुच उस की प्रेरणा है ?···

वह कुरसी पर बैठी थी। पास पड़ी पुस्तक उठाकर उसने उसके पन्ने पलटने शुरू कर दिये। यह थी 'ज़र्बे कलीम'—इक़बाल का कविता-संग्रह। एक जगह रुककर वह इक़बाल की 'शुआए उम्मीद' शीर्षक कविता की ये पंक्तियाँ ऊँची आवाज़ से पढ़ने लगी :

आफ़ाक के हर गोशे से उठती हैं शुआएँ
बिछुड़े हुए ख़ुरशीद से होती हैं हम-आग़ोश
इक शोर है मग़रिब में उजाला नहीं मुमकिन
अफ़रंग मशीनों के धुएँ से है सियह-पोश
मशरिक नहीं गो लज़्ज़ते नज़्ज़ारा से महरूम
लेकिन सिफ़ते आलमे लाहूत है ख़ामोश
फिर हम को इसी सीनाये रौशन में छुपा ले
ऐ मेहरे जहाँताब, न कर हम को फ़रामोश
इक शोख़ किरन, शोख़ मिसाले निगहे हूर
आराम से फ़ारिग़ सिफ़ते जौहरे सीमाब
बोली कि मुझे रुख़सते तनवीर अता हो
जब तक न हो मशरिक का हर इक ज़र्रा जहाँताब
छोड़ूँगी न मैं हिन्द की तारीक फ़िज़ा को
जब तक न उठें ख़्वाब से मर्दाने गिराँ ख़्वाब
ख़ावर की उम्मीदों का यही ख़ाक है मर्कज़
इक़बाल के अश्कों से यही ख़ाक है सेराब

चश्मे माह-ओ-परवीं है इसी ख़ाक से रौशन
यह ख़ाक कि है जिसका ख़ज़फ़ रोज़ा दुरे नाब
इस ख़ाक से उट्ठे हैं जो गुब्बासे मुआनी
जिन के लिए हर बहरे पुर आशोब है पायाब
जिस साज़ के नग़मों से हरारत थी दिलों में
महफ़िल का वही साज है बेगानाये मिज़राब
बुतख़ाने के दरवाजे पे सोता है बिरहमन
तक़दीर को रोता है मुसलमाँ तहे मेहराब
मशरिक से हों बेज़ार न मग़रिब से हज़र कर
फ़ितरत का इशारा है कि हर शब को सहर कर[1]

वह जानती थी कि इक़बाल के कलाम में इस कविता का मर्तबा बहुत ऊँचा था। वह यह भी जानती थी कि कवि ने यह कविता आज से बहुत

१. क्षितिज के प्रत्येक कोने से किरणें उठती हैं और विदा ले चुके सूर्य से गले मिलती हैं। एक शोर अवश्य है, पश्चिम में उजाला तो सम्भव नहीं। फिरंगी का देश मशीनों के धुँए से कालिमामय हो गया है। पूर्व भी यद्यपि नज्जारे की लज्जत से महरूम नहीं है। लेकिन वहां आलमे लाहूत की सी ख़मोशी छा रही है। हमें फिर से अपने रौशन सीने में ही छिपा ले। हे विश्व को प्रकाश देने वाले सूर्य, हमें फ़रामोश मत कर। एक शोख़ किरण, जो किसी हूर की निगाह की तरह शोख़ थी, जिसे पारे के जौहर के समान आराम नसीब न था, बोली कि मुझे रोशनी फैलाने के लिए विदा दो जब तक कि पूर्व का हर एक कण रौशन न हो जाय। मैं हिन्दुस्तान के अन्धकार-मय वातावरण को नहीं छोड़ूँगी, जब तक कि गहरी नींद सोने वाले जाग न उठें। पूर्व की आशाओं का केन्द्र है यही धूलि, इक़बाल के आँसुओं से सिंचित है यही धूलि। इसी धूलि से रौशन है चन्द्रमा और सप्तऋषि की आँख। यह धूलि वह है कि जिसका एक-एक कंकर चमकता हुआ मोती है। इसी धूलि से उठे हैं वे अर्थ में डुबकी लगाने वाले (चिन्तक) जिन के लिए हर तूफ़ानी समुद्र बस पैरों तक ही गहरा है। जिस साज़ के गीतों से दिलों में हरारत थी, महफिल के उसी साज़ को मिज़राब नसीब नहीं। मन्दिर के द्वार पर ब्राह्मण सो रहा है, मेहराब के नीचे मुसलमान अपनी किस्मत को रो रहा है। पूर्व से बेजार हो, न पश्चिम से परे हट, प्रकृति का यही संकेत है कि हर रात की भोर हो।

पहले लिखी थी—हिन्दुस्तान के बटवारे से बहुत पहले, फिर भी उसे लगा कि जहाँ सूरज की किरन यह कहती है — 'छोड़ूँगी न मैं हिन्द की तारीक फ़िज़ा को !' वहाँ अब भी हिन्दुस्तान का मतलब निकाला जा सकता है जिस में से पाकिस्तान वाला हिस्सा अलग हो चुका है। उसे लगा कि वह स्वयं सूरज की किरन है और वह अब कभी इस धरती को नहीं छोड़ेगी। वह गुनगुनाने लगी—'छोड़ूँगी न मैं हिन्द की तारीक फ़िज़ा को, जब तक न उठें ख़्वाब से मर्दाने गिराँबार !' हाँ हाँ, मैं इस देश को कभी नहीं छोड़ूँगी, जब तक कि बोझ के नीचे दबे हुए मर्द ख़्वाबे गफ़लत से जाग न उठें। उसे लगा कि इस देश की फ़िज़ा इतनी तारीक भी तो नहीं है। जिस देश में गांधी जैसा इन्सान पैदा हुआ—सत्य और अहिंसा का इतना बड़ा फ़रिश्ता—उस देश की फ़िज़ा तारीक कैसे हो सकती है ? फिर उसे लगा कि महात्मा गांधी के सीने पर तीन गोलियाँ दाग़ने वाले ने ज़रूर यह सोचा होगा कि इस देश पर चमकने वाले सूरज को हमेशा के लिए ख़तम कर दिया जाय, जिस से यहाँ अँधेरा हो जाय और ख़ुदग़र्ज़ लोग अपना उल्लू सीधा कर सकें, लेकिन नहीं, वह सूरज तो आज भी चमक रहा है, और चमकता रहेगा।



८१

मैं सुनील के लिए सूरज की किरन बनके रहूँगी—उसकी प्रेरणा !···इसके लिए मुझे ख़ास क़दम उठाना होगा। दीपाली की मिन्नत भी क्यों न करनी पड़े, उसके क़दमों में गिरकर भी अपने सुनील के लिए प्रेरणा की भीख क्यों न माँगनी पड़े, मैं ज़रूर कुछ कर दिखाऊँगी। मैं दीपाली के सामने यह सुझाव रखूँगी कि यहाँ फिर से रंगभूमि की बुनियाद रखी जाय। तेज भी इस में ज़रूर शामिल होगी। एक बार रंगभूमि का काम शुरू हो गया तो फिर यह थमने का नहीं।···

सुनील नया ड्रामा नहीं लिखेगा तो हम उस के पुराने ड्रामे ही खेलेंगे। नये लिखने वालों को भी हम दावत देंगे। लिखना किसी एक आदमी पर तो ख़तम नहीं हो सकता। नये-नये लिखने वाले सामने आयेंगे। उन्हें सामने आते देखकर ही शायद सुनील भी क़लम उठाकर लिखना शुरू कर दे, शायद इसी तरह सुनील की प्रेरणा उसके हाथ लगे।···

कल्याणी की तबियत आज बेचैन थी। 'शिशु-निकेतन' समीप होता तो वह दीपाली को ही बुलावा भेजती, उसके नाम ऐसी चिट्ठी लिखती कि उसे आना ही पड़ता हर काम छोड़कर। उसने सोचा कि मीनाक्षी को बुलवा लिया जाय, फिर उसे ख़्याल आया कि मीनाक्षी तो अपने पति के साथ अजन्ता-एलोरा की यात्रा करने गई है। एकाएक उसने विचार किया कि तेज को बुलवा लिया जाय।

नौकर कभी का सब्ज़ी लेकर आ गया था। इस बीच में एक-दो बार वह इस कमरे के दरवाज़े तक आकर झाँक भी गया था।

कल्याणी ने नौकर को आवाज़ दी और एक काग़ज़ पर तेज के लिए दो पंक्तियाँ लिखीं कि वह जिस हाल में है फ़ौरन चली आये। नौकर यह चिट लेकर जाने लगा तो कल्याणी ने उसे हिदायत दी कि वह नीचे से वापसी का ताँगा कर के तेज के यहाँ जाये और उसे लेकर ही आये।

नौकर चला गया तो कल्याणी फिर 'ज़र्बे कलीम' के पन्ने पलटने लगी। इक़बाल की 'हयाते अब्दी' शीर्षक चार पंक्तियों ने उसे आत्म-विभोर कर दिया :

ज़िन्दगानी है सदफ़ कतराये नीसाँ है ख़ुदी
वह सदफ़ क्या कि जो कतरे को गुहर कर न सके
हो अगर ख़ुदनिगरो ख़ुदगरो ख़ुदगीर ख़ुदी
यह भी मुमकिन है कि तू मौत से भी मर न सके[1]

उसे लगा कि सुनील के लिए सब से बड़ी प्रेरणा तो इन चार पंक्तियों में ही छिपी हुई है। मैं कहूँगी—सुनील, पहले ख़ुदी को पहचानो, फिर क़लम उठाओ। फिर देखो कि सीपी में मोती पैदा होता है या नहीं। मैं उस से कहूँगी कि तुम्हारी प्रेरणा मेरे पास नहीं है तो दीपाली के पास भी नहीं है, वह तो तुम्हारे अन्दर है। तुम्हारी प्रेरणा तो तुम्हारी ख़ुदी है, उसे पहचान लो। ख़ुदी की जितनी पहचान तुम्हें मिली थी, तुम उसे भी भूल बैठे, बस उसी दिन से तुम ने लिखना छोड़ दिया। प्रेस-फ़ोटोग्राफर ही बने रहो, अगर अजन्ता प्रकाशन के सेठ जी की चापलूसी तुम्हें इतनी ही अखरती है। वैसे तो प्रेस-फोटोग्राफ़री को भी तुम गोली मार सकते हो। लेकिन ख़ैर अगर तुम औरत की कमाई पर ज़िन्दा रहने में शर्म महसूस करते हो, तो भले ही करते रहो प्रेस-फोटोग्राफ़री का धन्धा। मैं मानती हूँ कि यह भी

१. जीवन है सीपी और स्वांति-बूँद है अहं, वह सीपी ही क्या जो क़तरे को मोती न बना सके! यदि आत्मद्रष्टा, आत्मस्रष्टा और आत्मनिष्ठ अहं विद्यमान हो तो यह भी सम्भव है कि तुम मौत से भी न मर सको।

तुम्हारी खुदी की ही एक दलील है। लेकिन भले आदमी, अपनी खुदी को और चमकाओ, इसे और तेज़ करो !....

नौकर ने आकर बताया, "तेजकौर तो दीपाली से मिलने गई हुई है, बीबी जी, फिर भी मैं आपकी चिट वहाँ छोड़ आया हूँ।"

"बहुत अच्छा!" कहकर मिसिज़ सुनील 'ज़र्बे कलीम' के पन्ने पलटने लगी। वह सोच रही थी कि इक़बाल ने खुदी की तालीम पर जितना ज़ोर दिया है अगर उसका सौवाँ हिस्सा भी सुनील की समझ में आ जाय तो वह बहुत-कुछ कर गुज़रे। कलाकार की कला-साधना और रोटी कमाने के धन्धे में जो अन्तर है उसे वह अभी तक नहीं समझ सका। रोटी का धन्धा भी ज़रूरी है। जब तक कला-साधना द्वारा ही कलाकार को रोटी नहीं मिलती, उसे रोटी के धन्धे के लिए कोई दूसरा काम चुनने पर मजबूर होना पड़ेगा। लेकिन कला-साधना से एकदम छुट्टी लेकर रोटी के धन्धे के सामने ही घुटने टेक देना तो सब से बड़ी हार है।...

इतने में सुनील आ पहुँचा। उसके हाथ में एक बड़ा-सा लिफाफा था जिस में उस ने फुल साइज़ के एनलार्जमेण्ट डाल रखे थे।

लिफाफे से एनलार्जमेण्ट निकाल कर कल्याणी ने मेज़ पर फैला दिये। बारह एनलार्जमेण्ट थे। "ये तीन तो बहुत बढ़िया हैं," कल्याणी ने तीनों एनलार्जमेण्ट पास-पास रखते हुए कहा, "अब तुम्हीं बताओ कि क्या मैं वाकई इतनी खूबसूरत हूँ जितनी यहाँ नज़र आ रही हूँ?"



८१

तेज ने कल्याणी के यहाँ कदम रखा ही था कि पीछे से डाकिये की आवाज़ सुनाई दी। डाकिये के हाथ से चिट्ठी लेकर तेज ने अपनी सहेली के हाथ में थमा दी। सुनील कभी का कैमरा उठाकर अपने काम पर चला गया था। कल्याणी की तबियत अच्छी न थी। उस ने 'शिशु-निकेतन' से तीन दिन की छुट्टी ले रखी थी और उसके आग्रह से तेज ने भी आज की छुट्टी लेकर दोपहर का समय उसके साथ गुज़ारने का फैसला किया था।

पलंग पर लेटे-लेटे कल्याणी ने चिट्ठी पर पाकिस्तान की मोहर देखकर कहा, "अम्मी जान की चिट्ठी मालूम होती है।"

"तो आज इस खुशी में मिठाई खिलाओ!" तेज मुसकराई।

कल्याणी ने चिट्ठी खोलकर कहा, "अम्मी जान के दस्तखत तो नहीं हैं।"

"तो किस की चिट्ठी है?"

मिसिज़ सुनील ने चिट्ठी लिखने वाली का नाम पढ़कर कहा, "यह तो नरगिस की चिट्ठी है।"

"कौन नरगिस?"

"यह तो मैं भी नहीं जानती।"

"क्या लिखती है नरगिस?"

दोनों सहेलियाँ चिट्ठी पर झुक गईं। नरगिस ने लिखा था :

मेरी प्यारी जीनत ! तुम्हारी याद तो हमेशा मेरे साथ रही। मैं पाकिस्तान में हूँ, तुम हिन्दुस्तान में। फ़ासला बहुत है, फिर भी मैं सोचती हूँ कि यह फ़ासला तो कुछ भी नहीं है। यह फ़ासला फ़िज़ूल है !...

"फ़ासला फ़िज़ूल है !" कल्याणी ने जैसे किसी गीत का पहला बोल गुनगुनाया।

तेज ने गम्भीर होकर कहा, "बात तो ठीक लिखी है नरगिस ने। लेकिन यह नरगिस है कौन ?"

कल्याणी वे फिर चिट्ठी पढ़ने लगी :

शायद तुम सोच रही होगी कि मैं यहाँ पाकिस्तान में बहुत उदास हूँ। यह बात तो नहीं। और मेरा तो ख्याल है कि वहाँ हिन्दुस्तान में तुम भी उदास नहीं होगी। यहाँ की ख़बरें तुम अख़बार में पढ़ लेती होगी, जैसे हम यहाँ पाकिस्तान में बैठे-बैठे हिन्दुस्तान की ख़बरें पढ़ लेते हैं। जितना ख़ून इधर गिरा, या उधर गिरा, उसकी तो याद ही शर्मिन्दा कर जाती है। उन दिनों तो मालूम होता था कि इन्सान की खाल के नीचे छिपे हुए भेड़िये अपना काम करने लगे हैं। ऐसे मौके पहले भी आये होंगे तारीख में, जब इन्सान ने इन्सानियत को इस क़दर बालाये ताक रख दिया हो, इस में मुझे शक है। ख़ैर, यह दौर आया और गुज़र गया। तुम्हें शायद यक़ीन न आये। लेकिन मैं सही-सही लिख रही हूँ। महात्मा गांधी के सीने में तीन गोलियाँ दाग़कर उन्हें जामे-शहादत पिलाने की ख़बर यहाँ लाहौर में पहुँची तो ऐसी एक भी आँख न थी जिस में आँसू न आ गये हों। कराची से जो ख़बरें आईं, उन से भी पता चलता था कि वहाँ भी गांधी जी की शहादत ने हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के बीच ग़लत-फ़हमी की दीवार को जैसे एक ही झटके से गिरा दिया हो। मेरा शौहर अभी तक कराची में है, जहाँ वह एक कालेज में पढ़ाता है। पाकिस्तान बनने के फौरन बाद ही हम लाहौर से कराची चले गये थे। वहाँ से जितनी बार मैंने तुम्हारी अम्मी जान से तुम्हारा पता पूछा उतनी बार ही वह ख़ामोश

रहीं। पिछले हफ़्ते मैं किसी काम से यहाँ आई तो बाग़वानपुरा जाकर तुम्हारी अम्मी जान से मिली। उन्होंने मुझे दूर से ही पहचान लिया, दौड़कर मेरी तरफ़ आईं, और मुझ से लिपट गईं। देर तक पूछती रहीं कि कभी मुझे जीनत की चिट्ठी भी आई है या नहीं। तुम्हारा नाम आते ही बार-बार अम्मी जान की आँखें चमक उठती थीं, जैसे कोई दौलत हाथ आ गई हो। माँ का प्यार भी कितनी बुलन्द चीज़ है, जो देस-देस की हदें भी नहीं मानता। उन्होंने मुझे तुम्हारी कई चिट्ठियाँ दिखाईं। मुझे लगा जैसे तुम ही मिल गई·····

"अरे वाह, यह तो तुम निकलीं, पारुल !" तेज ने चिट्ठी छीन ली।

"मैं तो पहले ही समझ गई थी, तेज ! जैसे जीनत का हिन्दुस्तानी एडीशन है कल्याणी वैसे ही हमारी पारुल का पाकिस्तानी एडीशन है नरगिस !" कल्याणी मुसकराई।

दोनों सहेलियाँ फिर चिट्ठी पर झुक गईं :

तुम्हारे अब्बा जान भी मुझे बड़े तपाक से मिले। महात्मा गांधी की शहादत पर अब तक हिन्दुस्तान और पाकिस्तान में जो नज़्में लिखी गईं, तुम्हारे अब्बा जान का ख़्याल है कि उन में एक पाकिस्तानी शायर की नज़्म ही बेहतरीन कही जा सकती है। उन्होंने मेरे सामने अख़बारों के कितने ही कटिंग खोलकर रख दिये। मैं भी उन से मत्तफ़िक हुए बिना न रह सकी।

मैं सोचती हूँ कि अगर यही बात थी तो जितना ख़ून इधर गिरा और उधर गिरा, क्या यह सब ज़रूरी था ? इतने लोग घर से बेघर हुए, आख़िर क्यों ? या फिर क्या गांधी जी की मौत पर आँसू बहाने को एक ढोंग समझा जाय ? ज़िन्दगी में जिसकी आवाज़ पर हम न चले, न इधर न उधर, तो अब उस बुज़ुर्ग हस्ती का नाम ले-लेकर इन्सानियत की दुहाई क्यों दे रहे हैं ?

परसों मैं माल रोड से गुज़र रही थी। लारेन्स का बुत वहाँ उसी तरह खड़ा था। मैंने क़रीब जाकर देखा। इस बुत पर लारेन्स के बोल उसी

तरह खुदे हुए थे—तुम क़लम से हुकूमत चाहते हो या तलवार से ?

अंग्रेज़ी ज़बान का यहाँ बोलबाला है, पहले से कहीं ज्यादा। विलायती माल यहाँ पहले से ज्यादा आने लगा है। अमरीकी माल की खपत के लिए तो यहाँ की दुकानें बहुत कारामद साबित हो रही हैं।

वापसी डाक से लिखना कि तुम ने लाहौर को बिलकुल ही तो भुला नहीं दिया ! पारुल ने नरगिस का नक़ाब पहनकर बुरा तो नहीं किया ? वट इज़ इन ए नेम !—चचा शेक्सपीयर तो पहले ही कह गये हैं।

सुनील का क्या हाल है ? 'मिट्टी की मूरत' का कलाकार कहाँ तक पहुँचा ? कितनी मंज़िलें तय कीं ?

दीपाली कहाँ है ? तेज कहाँ है ? उन कम्बख़्तों से कभी मुलाकात हो तो उन से कहना कि नरगिस उन्हें भूली नहीं। पारुल वाली बंगला लोक-कथा का पैबन्द नरगिस के साथ लगाना नामुमकिन है, शायद इसी लिए नरगिस के नक़ाब के नीचे पारुल अब तक ज़िन्दा है। मेरा यह नक़ाब दग़ा नहीं, फ़रेब नहीं, यह तो महज़ ज़िन्दा रहने का बहाना है, क्योंकि ज़िन्दगी ही सब से बड़ी चीज़ है। तुम पूछोगी कि ज़िन्दगी क्या चीज़ है। तो मैं तो यही कहूँगी कि हमारी रवायतें और हमारी यादें ही ज़िन्दगी हैं। लेकिन नहीं, ज़िन्दगी तो इन से भी बड़ी चीज़ है, ज़िन्दगी तो आने वाले वक़्त का अंचल छू लेने की ख़्वाहिश है। इसी लिए तो इन्सान भेस बदलकर भी, नक़ाब ओढ़कर भी, किसी-न-किसी तरह ज़िन्दा रहने की कोशिश करता है।

एक बात और। 'रंगभूमि' का यहाँ तो अब कोई नाम भी नहीं जानता। लेकिन मुझे उम्मीद है कि तुम ने और सुनील ने मिलकर 'रंगभूमि' को दिल्ली में ज़रूर कायम किया होगा, या शायद तुम लोगों ने नये नाम से कोई ड्रामेटिक सोसाइटी कायम की होगी। अब तक न कर पाये होगे तो अब करोगे। कोई अच्छा ड्रामा स्टेज किया हो तो लिखना।···

दोनों सहेलियों ने आँसू-भरी आँखों से एक-दूसरी को देखा और फिर देर तक लाहौर की बातें करती रहीं।



८३

पारुल की चिट्ठी से दीपाली भी अपरिचित न रह सकी। उसने दो-तीन बार इसे पढ़ा। एक-एक करके लाहौर की सभी रेखाएँ दीपाली के सम्मुख उभरीं। इस चिट्ठी में लाहौर का समूचा सौन्दर्य बोल रहा था, लाहौर का समूचा माधुर्य और लावण्य। अन्तिम पंक्तियों में 'रंगभूमि' के उल्लेख ने तो दीपाली की कल्पना को जादू की छड़ी के समान सजग कर दिया। उसकी आँखों में सुनील का वही रूप घूम गया जब उस ने अपनी चाची के मायके में पहली बार सुनील को देखा था और जब वह शुरू-शुरू में 'मिट्टी की मूरत' लेकर लाहौर पहुँचा था।

तीनों सहेलियों की मिली-जुली कोशिश से दिल्ली में 'रंगभूमि' की स्थापना होते भी देर न लगी, और यह फ़ैसला हुआ कि यदि सुनील कोई नई चीज़ लिखने को राज़ी न हो, तो 'जंगल रोता है' को पहली बार 'रंगभूमि' की ओर से प्रस्तुत किया जाय।

इधर दीपाली ने जैसे समस्त अहं को अन्तिम नमस्कार करते हुए सुनील से आग्रह करना आरम्भ कर दिया कि वह अवश्य एक नया नाटक लिखकर दे जो युग-धर्म को अधिक-से-अधिक सशक्त रूप से दर्शकों के सम्मुख रख सके। पर लगता था कि सुनील आसानी से लेखनी उठाने के लिए तैयार नहीं होगा।

दीपाली भी जैसे असम्भव को सम्भव बनाने का गुर जानती हो। उस ने

सरदार अर्जुनसिंह को आगे कर दिया था।

सरदार जी कहते, "शरणार्थियों ने तो हिम्मत नहीं हारी, सुनील जी! वे तो काम कर रहे हैं। फिर आप ने नाटक लिखना क्यों छोड़ दिया? आप जी दी लेखनी तो किसान दे हल दी तरह चलनी चाहिए। वाहगुरू भी यही चाहता है। गुरू दे सिंह माफी माँगते हैं। छोटी स्टेज पर बड़ा ड्रामा नहीं खेला जा सकता, यह तो गुरू दे सिंह अब भी कहेंगे, पर बिलकुल स्टेज न होने से तो छोटी स्टेज दा होना ही अच्छा है, और बिलकुल ड्रामा न खेलने से तो छोटा-मोटा ड्रामा खेलते रहना फिर भी अच्छा है।"

इसके उत्तर में सुनील कहता, "देखेंगे, सरदार जी! अभी तो हम कैमरे से काम ले रहे हैं। बाकी रहा ड्रामा। जगमोहन जैसे ड्रामा लिखने वाले जिन्दा रहें।"

"जगमोहन जी तो अमीर लोकाँ दे वास्ते लिखते हैं, सुनील जी!" अर्जुनसिंह दलील देता, "बीबी तेज मुझे सब बता चुकी है। मैं भी मिला हूँ जगमोहन से, उस दी एक्ट्रेस निशा बीबी दे साथ भी हुई है मेरी मुलाकात। कितना पाउडर-सुर्खी थपती है निशा बीबी अपने मुँह पर!"

एक दिन अर्जुनसिंह दीपाली से मिलने आया तो जगमोहन और निशा को भी वहाँ बैठे देखा और कुछ नई बातें सुनीं। उस ने फ़ैसला कर लिया कि जिस से भी मिलेगा, यह किस्सा जरूर सुनायेगा। शायद पहला आदमी सुनील ही था जिसे उसने ये बातें दिल खोलकर सुनाईं।

"लो जी, सुनील जी! सुन लो कान खोलकर।" अर्जुनसिंह ने कहना शुरू किया, "जगमोहन ने बहुत जोर लगाया कि दीपाली आप जी दा साथ छोड़कर उस दे साथ मिल जाये। वह अपनी ड्रामा सोसायटी दे गुण गाता रहा। उस ने बताया कि किस तरह वह निशा बीबी को साथ लेकर 'हैपी इण्डिया होटल' दे प्रोप्राइटर दे पास गया और किस तरह उसने पूरे डेढ़ सौ दा चैक ले लिया अपने नये ड्रामे दे प्रोग्राम दे आखिरी सफे दे इश्तहार दे वास्ते।"

"यह तो कोई बड़ी बात नहीं, सरदार जी!" सुनील मुसकराया।

"उस ने यह भी तो बताया था सुनील जी, कि होटल दा बैरा यह चैक ट्रे में रखकर लाया था।" अर्जुनसिंह की आँखें चमक उठीं।

"अच्छा !" सुनील ने उत्सुकता दिखाई।

"उस ने यह भी बताया था सुनील जी, कि निशा बीबी दा ठाट-बाट देखकर होटल दे प्रोप्राइटर पर उस दा जादू चल गया और उस ने छूटते ही जगमोहन और निशा बीबी को डिनर दी दावत दे डाली।"

"डिनर तो बड़ी बात नहीं, सरदार जी !" सुनील मुसकराया।

"जगमोहन बता रहा था कि उस दे पैरां दे नीचे दस हज़ार रुपये दा तो कालीन ही बिछा हुआ था। और निशा बीबी ने भी इस दी हामी भरी थी। निशा बीबी ने दीपाली बीबी से कहा कि सुनील को तो ड्रामा लिखने दी ए० बी० सी० भी नहीं आती। फिर जगमोहन ने हँसकर कहा—ड्रामा किस चिड़िया दा नाम है, यह हर कोई नहीं जानता। आप भी किस के पीछे पड़ी हैं। सुनील एक साथ प्रेस-फोटोग्राफ़र और नाटककार तो बनने से रहा।"

"दीपाली ने क्या जवाब दिया ?" सुनील ने उत्सुकतापूर्वक पूछा।

"दीपाली ने हँसकर यही कहा—अंजना जी आजकल कहाँ हैं ? क्या यह ठीक है कि वे नाराज़ होकर कलकत्ता चली गईं ? यह सुनकर जगमोहन झेंप गया। निशा बीबी खिलखिलाकर हँस पड़ी। बड़ी ही बेशर्म मालूम होती है निशा बीबी। दीपाली दे पास होकर बोली—मैं तो अंजना से कहीं अच्छी एक्टिंग करती हूँ।"

"तो दीपाली ने क्या जवाब दिया ?" सुनील मुसकराया।

"दीपाली ने यही कहा—'देखो निशा जी, आप लोकाँ दी ड्रामा सुसाइटी तो बड़े लोकाँ दी, बड़-बड़े होटलां दे मालिकाँ दी, बड़े-बड़े डिनर देने वाले लोकाँ दी सुसाइटी है। और हम ठहरे जनता दे नाटककार, खोखे खड़े करके दुकानें करने वाले शरणार्थियाँ दे नाटककार, रोज़ कुआँ खोदने और रोज़ पानी पीने वाले लोकाँ दे नाटककार ! इस पर निशा बीबी दे तो हँसते-हँसते पेट में बल पड़ गये। मैं पूछ बैठा—'निशा बीबी, तुम्हारा ब्याह

हुआ या नहीं ?' वह और भी हँसने लगी। जगमोहन बोला—'बाबा जी ! आप पुराने जमाने दे लोग हैं। नये जमाने दे लोग ब्याह को इतना जरूरी नहीं समझते। दीपाली ने भी तो इसी लिए ब्याह नहीं कराया। तो फिर निशा दा गुजारा भी चल ही सकता है ब्याह दे बिना !' मैं चुपचाप बैठा रहा। दीपाली ने सोच-सोचकर कहा—'आप तो ड्रामा लिखते भी हैं और खेलते भी हैं, जगमोहन जी ! सुनील ने तो ड्रामा लिखना भी छोड़ रखा है। इस से तो आपको भी खुशी होनी चाहिए अगर मैं सुनील को भी फिर से ड्रामा लिखने की प्रेरणा दे सकूँ !" अर्जुनसिंह बहुत गम्भीर नजर आ रहा था।

"दीपाली की यही इच्छा है सरदार जी, तो मैं उसे निराश नहीं करूँगा।" सुनील भी गम्भीर नजर आने लगा।

सुनील और अर्जुनसिंह की बातें कल्याणी ने भी सुन ली थीं। उसने ड्राइंग-रूम में आकर कहा "आज तो बहुत गूढ़ी बातें हो रही हैं। दीपाली भी अपने वायदे के अनुसार आ ही रही होगी।"

"हम भी तो उसी का इन्तजार कर रहे हैं," सुनील ने खिड़की का पर्दा हटाते हुए कहा, " 'जंगल रोता है !' में तो हमारे सरदार जी को भी एक रोल अवश्य मिलेगी। इसकी हीरोइन होगी तेजकौर, क्योंकि जंगली लड़की के भावों को वह बड़ी अच्छी तरह पेश कर सकेगी।"

सरदार जी की आँखें चमक उठीं। कल्याणी गम्भीर होकर बोली, "दीपाली कह रही थी कि वह इस ड्रामे के द्वारा एक बार तो शरणार्थियों को वह देश दिखा देगी जहाँ से वे इधर आये हैं। वह यह भी तो कह रही थी कि एक बार तो जगमोहन भी यह मानने के लिए मजबूर हो जायगा कि सुनील बड़ा कलाकार है।"



८४

दीपाली को 'जंगल रोता है' के निर्देशन में आशातीत सफलता मिली। हीरो की रोल भटनागर को दी गई थी और हीरोइन की तेज कौर को। सभी ने मुक्तकण्ठ से नाटककार सुनील की प्रशंसा की। अनेक समाचारपत्रों में 'रंगभूमि' द्वारा आयोजित इस नाटक की मानवीय संवेदना और सामाजिक पृष्ठभूमि को यथार्थवादी दृष्टिकोण से प्रस्तुत करने की शैली को बहुत सराहा गया। कुछ लोगों का कहना था कि अर्जुनसिंह की रोल ही सब से बढ़िया रही।

इधर जगमोहन और निशा ने भी 'मछली जाल' प्रस्तुत किया जिसमें दीपाली को विशेष रूप से आमन्त्रित किया गया था। इस नाटक में ले-देकर राजस्थान के एक लोक-नृत्य से वातावरण को उभारने का यत्न किया गया था। वैसे निशा ने जल-कन्या का अभिनय सफलता से किया था :

जल-कन्या अपार सुन्दरी है। चतुर्दिक् जल-ही-जल है। मछलियाँ उसकी सखियाँ हैं। जल-कन्या का बाकी शरीर मछली का है, सिर्फ़ चेहरा युवती का है। जल-देवता ने जल-कन्या को देखा और वह उस पर मुग्ध हो गया। जल-देवता ने लाख चाहा कि जल-कन्या से उसका विवाह हो जाय। वह न मानी। जल-देवता अपने अपमान को सहन न कर सका। घेरे में मछलियाँ नाच-नाचकर गाती हैं—मान जाओ, जल-कन्या, मान जाओ। जल-कन्या अपनी ही बात पर अडोल रही। जल-देवता का क्रोध बढ़ता जाता

है। जल में भँवर फैलते हैं। जल-कन्या एक भँवर में फँस जाती है और लाख छटपटाने पर भी भँवर से बाहर नहीं आ पाती। जल-देवता को पता चलता है कि अब जल-कन्या काबू में आया चाहती है। वह दौड़कर आता है, पर उस समय तक जल-कन्या के प्राण-पंखेरू उड़ चुके होते हैं।...

लेकिन 'मछली जाल' की मूल कहानी के साथ जल-कन्या के नृत्य का कोई विशेष सम्बन्ध नहीं जोड़ा जा सकता था। दीपाली को लगा जैसे जगमोहन ने स्वयं जल-देवता की रोल में आकर जल-कन्या रूपी निशा पर दोहरा अधिकार जमाने के लिए ही इस नृत्य को ख्वाह-म-ख्वाह 'मछली जाल' के कथानक में ठूँस दिया है।

केवल चौधरी ने 'स्टेट्समैन' में 'मछली जाल' के बखिये उधेड़कर रख दिये, तो जगमोहन हर किसी से यह कहता फिरता था कि यह सब दीपाली की चाल है। 'जंगल रोता है' में तेज कौर को हीरोइन बनाकर पहले उसने तेजकौर के पति केवल चौधरी से 'स्टेट्समैन' में इस नाटक की तारीफ़ों के पुल बँधवा लिए और अब लगे हाथ 'मछली जाल' की इतनी बुरी आलोचना भी छपवा डाली।

इतना कुछ होने के बावजूद जगमोहन और निशा दीपाली को 'हैपी इण्डिया' में डिनर पर ले जाने से न चूके। दीपाली को बार-बार ख्याल आता रहा कि लाहौर की तरह ही दिल्ली में भी होटलों में पलने वाली सभ्यता ही आगे बढ़ रही है। सहसा उसे उस यात्रा की याद आई जब वह लाहौर से बनारस जाने के लिए गाड़ी में बैठी थी और उसके साथ सुनील भी था। उस डिब्बे में एक सरदार साहब ने लाहौर की आलोचना करते हुए यही बात कही थी, कि यहाँ होटलों में पलने वाली सभ्यता घरों में पलने वाली सभ्यता को पछाड़ रही है।

उस डिनर से लौटकर भी दीपाली के मन में बार-बार यह ख्याल सिर उठाता रहा। उसे ख्याल आया कि वह स्वयं भी कोई जल-कन्या है, जैसे 'मछली जाल' के उस लोक-नृत्य के द्वारा जगमोहन और निशा ने उसके व्यक्तिगत जीवन पर ही व्यंग्य कसने का यत्न किया हो।



८५

अगले दिन दीपाली देर तक सोती रही। 'शिशु-निकेतन' में पाँच छुट्टियाँ थीं। जब उसकी आँख खुली तो सूर्य कभी का चढ़ चुका था। पहले उसके जी में आया कि आज सुनील के यहाँ चला जाय, फिर वह मीनाक्षी से मिलने के लिए उत्सुक हो उठी।

नहा-धोकर उस ने नाशता किया और नौकर से कहा कि दोपहर का खाना वह बाहर खायेगी।

टैक्सी मँगवाकर वह कनॉट प्लेस की तरफ़ चल पड़ी, लेकिन रास्ते में जैसे तेजकौर का चेहरा उभरकर उसकी कल्पना को छू गया और वह बोली, "टैगोर लेन चलो, ड्राइवर !"

तेज का क्वार्टर नज़र आया तो दीपाली टैक्सी रुकवाकर नीचे उतरी। टैक्सी वाले की मज़दूरी उसके हाथ में थमाकर ज्योंही वह क्वार्टर के दरवाजे पर पहुँची उसे पता चला कि तेज क्वार्टर के पिछवाड़े चली गई है।

दीपाली लपककर वहाँ पहुँची। वहाँ बहुत से लोग जमा थे। घास पर एक नवजात शिशु पड़ा था। दीपाली सरककर तेज के पास चली गई। दोनों सहेलियों ने आश्चर्य से एक-दूसरी को देखा। लोग तरह-तरह के व्यंग्य कस रहे थे :

"कौन बेदर्द माँ अपने बच्चे को इस तरह छोड़ गई ?"

"भाई, बहुत ख़राब ज़माना है !"

"पाप भी सिर चढ़कर बोलता है।"

तेज ने दीपाली को देखा तो उसके समीप आकर बोली, "पापी को मारने के लिए पाप ही महाबली है।"

दीपाली बोली, "अब तो यह सवाल है कि इस बच्चे का कौन पालन-पोषण करे।"

"किसी अनाथालय में भिजवा दिया जाय," एक सफेदपोश कह उठे, "लोगों के पास तो अपने ही बच्चे काफ़ी हैं।"

"पहले आप फिर बाप!" एक बुढ़िया बोली, "जिसके अपने घर का खर्च ही मुश्किल से चलता हो वह क्या खाकर करेगा परोपकार?"

दीपाली ने आव देखा न ताव, उसने आगे बढ़कर बच्चे को उठा लिया और छाती से लगा लिया।

बच्चे ने आँखें खोलीं और वह रोने लगा। "इसकी ज़बान खुश्क हो रही है!" किसी ने दया दिखाते हुए कहा, "बेचारे के मुँह में थोड़ा पानी डालो।"

पास से किसी ने पानी की दो बूँदें बच्चे के मुँह में टपकाईं। बच्चा सारा पानी बड़े मजे से चढ़ा गया। सब घबरा गये।

तेजकौर दौड़कर थोड़ा दूध लेती आई। दीपाली ने दूध की दो-तीन बूँदें बच्चे के मुँह में टपकाईं। बच्चा रोते-रोते चुप हो गया। अब हर कोई यही चाहता था कि बच्चे को किसी तरह का कष्ट न होने पाये।

दीपाली ने पूछा, "क्या आप लोगों में कोई इस बच्चे को लेना चाहता है?"

सब ख़ामोश खड़े रहे।

"किसी को एतराज तो नहीं, अगर मैं ले लूँ यह बच्चा?" दीपाली ने साहसपूर्वक पूछ लिया।

सब ख़ामोश खड़े रहे।

तेज बोली, "चलो, इसे हमारे यहाँ ले चलो!"

"चलो!" कहते हुए दीपाली के पग उठ गये। भीड़ को पीछे छोड़ती

हुई दीपाली तेज के क्वार्टर में चली आई।

तेज ने एक चारपाई पर सिरहाने जोड़कर नरम गद्दा बनाया और बच्चे को उस पर लिटा दिया।

थोड़ी देर बाद केवल आ गया। उसे इस घटना की खबर मिली तो वह भौंचक्का-सा बच्चे को देखता रह गया। सहसा उसके मुँह से निकला :

"पुलिस को इत्तला देनी होगी !"

तेज ने आँख के इशारे से उसे मुँह बन्द रखने को कहा।

"होटलों में पलने वाली सभ्यता ही इस शिशु की माँ है," दीपाली ने गम्भीर होकर कहा, "लेकिन कोई हर्ज नहीं, इसे मैं रखूँगी।"



८६

घर आते ही दीपाली ने नौकर को हुक्म दिया कि वह कहीं से आम के पत्ते लाकर दरवाजे पर बाँध दे, जैसे सचमुच घर में बच्चा होने पर बाँधते हैं। नौकर को यह बात बड़ी विचित्र लगी। वैसे तो यों किसी का फेंका हुआ बच्चा उठा लाना ही कुछ कम विचित्र बात न थी।

पास वाले बाज़ार में जाकर दीपाली ने एक झूला ख़रीदा—सागवान की लकड़ी का झूला, जिसमें बरमा की बेत से बुनती की गई थी। बच्चे के लिए दूध पिलाने की बोतल और उसे पहनाने के लिए तीन-चार सिले-सिलाये जोड़े वह कनाट प्लेस से खरीद लाई थी।

रात-भर दीपाली जाग-जागकर झूले में पड़े बच्चे को देखती रही। बच्चे के मुँह से दूध की बोतल लगाई जाती तो वह सचमुच उसी तरह निपल पर मुँह मारता जैसे यह वस्तुतः माँ का स्तन हो।

सवेरे उठकर वह देर तक सोते हुए बच्चे का मुँह देखती रही। बच्चा खर्राटे भर रहा था। उसकी अपनी आँखों में भी तो अभी तक नींद न थी। वह अपने बिस्तर पर जा लेटी और निद्राधारा में बह गई। सपने में उस ने देखा कि बच्चा बड़ा हो गया है, बच्चा उछल रहा है, कूद रहा है, माँ के हाथों से निकल-निकल जाता है, बच्चा फूलों से खेल रहा है, बच्चा तितलियों के पीछे भाग रहा है, बच्चा काठ-हिंडोले पर चढ़ने के लिए ज़िद कर रहा है। हिंडोला घूम रहा है। घोड़े-ही-घोड़े। हाथी-ही-

हाथी। हिंडोला घूम रहा है। बच्चे हँस रहे हैं, मचल रहे हैं। बच्चे भयभीत होकर रोने लगे। इन बच्चों में ही कहीं दीपाली का गोद लिया हुआ बच्चा भी छिपा बैठा है। कौन जाने वह रो रहा है या हँस रहा है।....

सवेरे उसकी आँख खुली तो बच्चा जाग रहा था। दूध की बोतल उठा कर उसने निप्पल बच्चे के मुँह से लगाया, तो वह चुस्कियाँ भरने लगा। फिर देखते-ही-देखते वह सो गया और खर्राटे भरने लगा।

दीपाली ने उठकर स्नान किया और फिर आइने के सामने खड़ी होकर बालों में कंघी करने लगी। आज उस ने नीली साड़ी पहनी, नीली बुंदकियों वाला सफेद ब्लाउज पहना। कानों में नीली बालियाँ पहन लीं। फिर नीले सैंडल निकालकर पहन लिये।

वह कुरसी पर आ बैठी। उसे लगा कि तेज उसे इतना जानती है जितना वह स्वयं भी अपने को नहीं जानती। फिर उसे लगा कि सुनील तो उसे बिल्कुल न समझ सका, हाँ कल्याणी अवश्य उसे कुछ-कुछ समझती आई है। सुनील नाटककार है। मैं चाहती हूँ वह बराबर लिखता रहे। जगमोहन की तरह वह भी किसी निशा पर लट्टू हो गया, तो वह सृजन-पथ से विमुख हो जायगा, उसकी प्रेरणा सदैव के लिए उसके हाथ से जाती रहेगी।

जलपान के बाद वह प्रतीक्षा करने लगी। आज तो सभी आयेंगे—तेज और केवल, सुनील और कल्याणी अर्जुनसिंह और भटनागर, निशा और जगमोहन।

दो ताँगे एक साथ आये। हँसते-हँसते सभी मेहमान ताँगों से उतरे। नौकर ने पहले से उनके लिए कुरसियाँ लगा रखी थीं।

इतने में कहीं से हीजड़े आ निकले। मेहमान सोच रहे थे कि हीजड़ों का यहाँ क्या काम है। न माँ का पता, न बाप का पता। अरे यह बच्चा तो गोद लिया गया है। लेकिन हीजड़े कब किसी की सुन सकते थे।

हीजड़े बाँहें उठा-उठाकर नाच रहे थे। ढोलक पर थाप दी जा रही थी। पैरों में घुँघरू बज रहे थे बधाई-गाई जा रही थी।

अर्जुनसिंह ने हँसकर कहा, "ओ भाई लोगो, आप जी दा दीन तो इस्लाम है। फिर आप जी पाकिस्तान क्यों नहीं चले गये ?"

"हाय मैं वारी ! हाय मैं सदके, सरदार जी !" एक हीजड़े ने नाचते-नाचते सरदार जी के पास आकर हाथ-पर-हाथ मारते हुए कहा, "हाय मैं वारी सरदार जी, तो क्या हिन्दुस्तान में बच्चे पैदा होने बन्द हो गये हैं कि हम पाकिस्तान चले जायें !" और तीनों हीजड़े खिलखिलाकर हँस पड़े।

हीजड़े बराबर नाच रहे थे। दीपाली के पैर जैसे खुशी से ज़मीन पर न पड़ते हों। कल्याणी को सम्बोधित करते हुए वह बोली, "मीनाक्षी और खन्ना साहब हैदराबाद गये हुए हैं। बिमल बाबू भी उनके साथ हैं।"

अर्जुनसिंह ने हीजड़ों को सम्बोधित किया, "ओ भाई लोगो, यह काका तो कोई महापुरुष बनेगा !"

हीजड़े हँस-हँसकर नाचते रहे और हर बार सरदार जी की तरफ़ बाँहें लहराते हुए कह उठते, "हाय मैं वारी, सरदार जी ! हाय मैं सदके !"

अर्जुनसिंह ने बात का रुख़ बदलकर कहा, "सुनील जी, अन्दर से काके को तो उठा लाओ !"

"वह तो सो रहा है !" दीपाली मुसकराई।

"अच्छा जी सो रहा है हमारा काका !" सरदार जी ने हँसकर कहा, "हमारा आशीर्वाद तो यही है कि यह काका भी देश का नाम रौशन करे, देश के लिए कुर्बान हो जाय !"

"पर अब तो देश आज़ाद हो चुका है, सरदार जी !" सुनील ने चुटकी ली, "अब तो कुर्बानी की उतनी ज़रूरत नहीं रही !"

"ओ भाई लोगो !" अर्जुनसिंह ने हँसकर कहा, "अब तो हमें ऐसे नाटककार की ज़रूरत है जो भगतसिंह दा ड्रामा लिखे !"

"नाटक कौन लिखता है ?" एक हीजड़े ने पूछ लिया। अर्जुन-सिंह ने सुनील की तरफ़ संकेत किया ही था कि हीजड़े सुनील की तरफ घूम गये और एकस्वर होकर कह उठे, "हाय मैं वारी, हाय मैं सदके !"



८७

उस दिन सुनील सुबह की चाय पी रहा था। दूसरे कमरे से कल्याणी के गुनगुनाने की आवाज़ आ रही थी। चाय का कप खाली करते हुए सुनील ने पढ़ने के लिए एक पुस्तक उठाई ही थी कि किसी ने दरवाज़ा खटखटाया। सुनील ने उठकर दरवाज़ा खोला तो देखा कि दीपाली और विमल बाबू आये हैं।

सुनील के हाथ में पुस्तक देखकर दीपाली मुसकराई। विमल बाबू बोले, "हम सब जानता, बाबा! सुनील एक दिन लेखनी को अवश्य अर्घ्य चढ़ायेगा, बाबा! लेखनी का पूजा एकेबारे मंगल साधना। तूलिका होक कि लेखनी, ई तो कलाकारेर साधन मात्र!" बिमल बाबू सुनील की बगल में बैठ गये। दीपाली कल्याणी की तरफ़ सरक गई।

सुनील बोला, "हमारे लिखने या न लिखने से ऐसा क्या अन्तर पड़ता है? हाँ तो पहले यह बताओ कि अजन्ता और एलोरा में क्या देखा?"

"अजन्ता और एलोरा तो एकेबारे चमत्कार!" विमल मुसकराया, "सब बतायेगा। तुम सुनने माँगता तो कैसे नहीं बतायेगा।"

"हमें क्यों न ले गये अपने साथ?"

"यह अवश्य एकेबारे भूल हुई, बाबा!" विमल बाबू उठकर सुनील की बुक-शेल्फ देखने लगे।

दीपाली विमल बाबू की कुरसी पर आ बैठी।

"परिस्थितियों के हाथ में कठपुतली बनने के लिए तो नहीं होता कलाकार!" दीपाली ने विश्वासपूर्वक कहा, "कलाकार की विजय तो इसी में है कि परिस्थितियों को बदलकर रख दे।"

"हम बोलता बाबा, तुमको बनारस का वह गीत तो स्मरण है?" विमल बाबू ने गम्भीर होकर कहा।

"कौनसा गीत?"

"शेई गीत—'अल्ला तेरी महजिद अजब बनी!' बनारस यात्रा में वह मसजिद देखने गये थे हम लोग। कतो अपूर्व, कतो चमत्कार। अल्ला तेरी महजिद अजब बनी!"

सुनील की आँखों में बनारस की उस मुस्लिम वेश्या की कहानी घूम गई जिसने अपनी कमाई से एक मस्जिद बनवाई थी और जिसके खिलाफ़ फतवा दे दिया गया था कि वह हराम की कमाई से बनी है और उस में नमाज़ पढ़ना ईमान वालों के लिए अच्छा नहीं। किस तरह वह वेश्या ग़दर के दिनों में अंग्रेजों के हाथ में पड़ गई थी और उसे मौत के घाट उतार दिया गया था; मौत के घाट उतारे जाने से पहले उससे पूछा गया था कि उसकी अन्तिम इच्छा क्या है और उसने कहा था—अपनी बनाई हुई मसजिद में नमाज़ पढ़ना चाहती हूँ ईद के दिन! लेकिन उसकी इच्छा को पूरा नहीं किया गया था और उसे गोली से उड़ा दिया गया था। अब दन्तकथा के अनुसार लोगों का विश्वास था कि ईद के दिन हर साल वह बुढ़िया क़ब्र से उठकर अपनी कमाई से बनाई हुई मसजिद में नमाज़ पढ़ने आती है और गाती है—अल्ला तेरी महजिद अजब बनी! उसे लगा कि कलाकार भी अपनी साधना में उस बुढ़िया की तरह है, उसे तो मरकर भी नहीं मरना चाहिए।

"तो अगला नाटक लिखना कब शुरू कर रहे हैं, सुनील जी?" दीपाली ने गम्भीर होकर कहा।

"देखिये!" सुनील मुसकराया, "हमारे न लिखने से क्या फ़रक

पड़ता है ?"

"हम बहुत देख लिया। हम यह भी मानता कि ई सब आमार दोष ! हम एकान्तवास लिया अपनी तूलिका और रंग के कारण, आमार मित्र का लेखनी चलता है अथवा नहीं, ई देखने का ड्यूटी हम भुला दिया एकेवारे। एई होलो आमार महान् अपराध !" विमल शांत मुद्रा में बैठा रहा।

सुनील मुसकराया, "आप का तो इसमें कोई अपराध नहीं, विमल बाबू !"

देर तक अजन्ता और एलोरा की बातें होती रहीं। सुनील ने गम्भीर होकर कहा, "आप सच कह रहे हैं विमल जी, कि जो भी कलाकार आज के युग में निराशावादी होकर अकर्मण्य हो जाता है, उसे अवश्य अजन्ता और एलोरा की यात्रा करनी चाहिए जहाँ वह देख सकता है कि कलाकारों ने किस तरह कला-साधना की होगी, किस तरह बाप का काम बेटे ने पूरा किया होगा। सचमुच जैसा कि आपने बताया, कई शताब्दियों में जाकर इन चित्रों और मूर्तियों का काम खतम हुआ होगा।"

"अच्छा तो हम चलेगा, बाबा ! काल एई समय हम फिर आयेगा, फिर एई जिज्ञासा करेगा कि लेखनी ने कोनो काम आरम्भ किया कि नहीं !" यह कहते हुए विमल बाबू चलने के लिए उठकर खड़े हो गये। उन के साथ चलने के लिए दीपाली भी तैयार खड़ी थी।

कल्याणी बोली, "शिशु का क्या हाल है ?"

"अच्छा है हमारा शिशु !" दीपाली मुसकराई, "अब तो तुम उस शिशु की चिन्ता करो जो तुम्हारे यहाँ आने वाला है।"

कल्याणी ने एक लाज-लजी-सी कुलवधू के समान मुँह फेर लिया।

दीपाली और विमल चले गये, तो कल्याणी ने सुनील के माथे पर झुके बालों को धीरे-धीरे सहलाते हुए कहा, "क्यों, कुछ असर हुआ ?"

"अवश्य !"

हँसते-हँसते कल्याणी रसोई की तरफ़ घूम गई। बोली, "मैं ज़रा खाने की फ़िक्र करूँ। तुम बैठकर कुछ पढ़ो-लिखो !"

सुनील अपनी जगह पर बैठे-बैठे सोचने लगा कि जिस तरह नारी-जीवन का चरम आदर्श माता बनना है, उसी तरह कलाकार के जीवन का भी तो यही आदर्श है—सृजन! दीपाली भी माँ बनकर रही। वह चाहती थी कि सस्ते में ही छूट जाय। पर हाय रे नारी-धर्म! माता बनने का कर्त्तव्य तो साथ लगा ही रहा। दीपाली माँ बनकर रही। लेकिन एक दिन दीपाली को लगेगा कि नारी-जीवन का चरम आदर्श लावारिस बच्चा गोद लेने से पूरा नहीं हुआ। उस समय नारी-जीवन के चरम आदर्श की टेर उसे अवश्य सुनाई देगी। तो क्या वह एक दिन इस अजन्ता-एलोरा के यात्री के आँचल से बँध जायगी? विवाह को दीपाली अब तक मूर्खता समझती रही है। शायद वह इस परिणाम पर पहुँचने ही वाली है कि विवाह को मूर्खता समझना ही सब से बड़ी मूर्खता है। आज दीपाली हमारे यहाँ आई भी तो विमल बाबू के साथ। इस से पहले तो विमल बेहद अस्त-व्यस्त नजर आया करता था। आज तो खूब चमक रहे थे उस के घुंघरीले बाल। दीपाली ने भी जैसे लाहौर वाला जूड़ा यहाँ आने के बाद पहली बार बाँधा हो। वही नीली साड़ी, ठीक वही—नीलाम्बरी वही लाहौर वाली नीलाम्बरी! यहाँ आने के बाद तो वह एकदम सफेद साड़ी के स्तर पर उतर आई थी। हाँ तो अब नील-वर्ण का साम्राज्य फिर से स्थापित हो रहा है। तो क्या मीनाक्षी को भी इस की खबर मिल गई होगी? मीनाक्षी तो बल्कि खुश होगी। जिस डगर पर मीनाक्षी चली, उसी डगर पर अब दीपाली भी चलेगी।···



८८

कल्याणी अब मां बन चुकी थी। अम्मी जान को उसने अपने पत्र में लिखा था : "मां बनकर मुझे पता चला अम्मी जान कि यों का प्यार उस चश्मे की तरह है जो पहाड़ का सीना चीरकर बह निकलता है।"

इस चिट्ठी में कल्याणी ने दीपाली को यों आड़े हाथों लिया था : "एक लावारिस बच्चे को गोद लेकर दीपाली ने मां के प्यार का फ़व्वारा चलाने का ढोंग रचा है।"

सुनील की चर्चा करते हुए इस चिट्ठी के अन्त में कल्याणी ने लिखा था : "छोटे मियां ने आकर सुनील को अब्बा जान बना डाला। सुनील फिर से कलम उठाकर लिखने लगे, मेरी सबसे बड़ी ख्वाहिश यही है। वह कुछ करे, लिखने लगे, यही तो जिन्दगी का तकाज़ा है।"

अस्पताल में हुआ था शिशु का जन्म। उधर दीपाली का शिशु तो सात महीने का हो गया था। पति-पत्नी में अक्सर दीपाली के शिशु की बात चल पड़ती। आँखों-ही-आँखों में वे एक-दूसरे को बताते कि दीपाली को तो गोद लिये शिशु की मुसकान से कहीं अधिक विमल बाबू की तूलिका में रस आने लगा है।

सुनील बार-बार सोचता—हीजड़े क्यों नाचने नहीं आये। वह चाहता था कि उनके यहाँ भी वही हीजड़े नाचने आयें जो दीपाली के यहाँ आये थे। काश ! एक बार फिर उस हीजड़े के मुँह से वही बात सुनने को मिल

जाय—'हाय मैं वारी, हाय मैं सदके ! तो क्या हिन्दुस्तान में बच्चे पैदा होने बन्द हो गये कि हम पाकिस्तान चले जायँ !' बार-बार वह सोचता—मुझ से तो हीजड़े ही अच्छे हैं !···कोई बताये न बताये कि फलां जगह बच्चा पैदा हुआ है, हीजड़े वहाँ पहुँचकर बधाइयाँ गाने से नहीं चूकते। बधाइयाँ गाना ही उनका धन्धा है। उनका धन्धा ही उनकी कला है।····क्या कला धन्धा है ? धन्धा तो होना चाहिए। पर कला ? छोड़ो जी ! हमारे फ्लैट का दरवाजा तो ऊपर है। क्यों न नीचे जीने के दरवाजे पर आम के पत्ते बँधवा दिये जायँ जिस से नीचे बरामदे में से गुजरते हुए हीजड़े ऊपर आकर बधाइयाँ गाने लगें। हीजड़ों को तो आना ही चाहिए। यह तो उनका धन्धा है। मैं हीजड़ों की गाई हुई बधाइयाँ कब सुनूँगा ?

शिशु मुसकराता तो सुनील भी मुसकराता। कल्याणी के चेहरे पर नया रंग आ गया था। उसकी बातों में सुनील को अधिक रस आने लगा था।

'शिशु-निकेतन' से कल्याणी ने अवकाश ले लिया था। दो-दो काम एक साथ नहीं किये जा सकते थे। अब तो घर ही शिशु-निकेतन बन गया था। एक ही शिशु ने पूरे घर को भर दिया था। अब कहीं शून्य न था, न भीतर न बाहर।

पुस्तक खोलकर सुनील पढ़ने बैठता, तो पुस्तक में उसका ध्यान न जमता और वह विचारधारा में बह जाता। कला कलाकार को बाँधती है तो केवल इसलिए कि वह अन्त में उसे मुक्त कर दे। तो क्या कला ने मुझे मुक्त कर दिया ? तप में विघ्न तो नहीं पड़ना चाहिए। क्या तप से पहले मुक्ति प्राप्त हो सकती है ? तप ! तप ! दया धर्म का मूल है पाप मूल अभिमान···तप ! तप ! अरे वह वैरागी साधु तो हर रोज ही सवेरे-सवेरे गुजरता है इस सड़क से ! वह भी तो तप की बहुत रट लगाता है।

पीछे से आकर कल्याणी सुनील के माथे पर झुके जा रहे बालों को सहलाने लगती। सुनील का रोम-रोम सिहर उठता। वह निगाह उठाकर, आँखों-में-आँखें डालकर कल्याणी का रूप निहारता। इस दृष्टि से तो शिव ने भी शक्ति को न निहारा होगा ! कल्याणी ने तो पग-पग पर उसके लिए

त्याग किया था। सुख-दुख की अनगिनत धाराओं के बीच कहीं भी तो कल्याणी के पैर डगमगाये नहीं थे। 'शिशु-निकेतन' में काम करके घर चलाने के लिए कल्याणी ने त्याग का प्रमाण दिया था। लेकिन अब तो वह 'शिशु-निकेतन' से अवकाश लेने के लिए मजबूर थी।

दूसरे कमरे में कल्याणी अपने शिशु को झूले में झुला रही होती और सुनील बैठकर दरवाजे की दर्ज में से झाँक कर देखता कि मां किस प्रकार आत्म-विभोर हुई जा रही है। उसका अंग-अंग नाच उठता। रगों में नया रक्त उछलता, आँखें चमकने लगतीं। कई बार वह झट से दरवाजा खोलकर कहता, "झात !"

"चोर कहीं के !" कल्याणी हँस पड़ती।

सुनील पास जाकर शिशु के मुँह पर हाथ फेरने लगता, "अरे अरे कल्याणी, मेरा मन तो कहता है कि सपना सच हो गया। क्यों मैं कुछ झूठ कहता हूँ ?"

"इसकी शिकायत कर आओ दीपाली से !" कल्याणी चुटकी लेती।

सुनील वापस जाकर पुस्तक पर झुक जाता। देखने को वह पुस्तक पर झुका बैठा रहता, लेकिन उसका ध्यान तो शिशु पर रहता। न जाने कितनी दूर से आया है शिशु, सात सागर पार से···नवागन्तुक है शिशु। कैसे चला आया सीधा हमारे यहाँ ? रास्ते में कहीं भी तो नहीं भटका। कितना अभिनव है शिशु ! माटी का पुतला ! सात सागर पार करते समय जरा भी तो नहीं गला यह माटी का पुतला ! मूलधन तो यहीं था, शिशु तो ब्याज की तरह आया है कहीं दूर से ! शिशु हमारा अतीत भी है और भविष्य भी। बहुत पीछे से आया है, बहुत आगे जायगा।

कई बार सुनील अपने कमरे में अनमने मन से किसी पुस्तक के पन्ने उलटता रहता। कई बार वह उठकर देखता कि शिशु झूले में पड़ा सो रहा है, नौकर रसोई में काम कर रहा है और कल्याणी गुसलखाने में नहा रही है। गुसलखाने के भीतर से कल्याणी के गुनगुनाने की आवाज आ रही है।

एक दिन शिशु के झूले के पास बैठे-बैठे कल्याणी गुनगुनाने लगी :

खुदी को कर बुलन्द इतना कि हर तकदीर से पहले,
खुदा बन्दे से खुद पूछे बता तेरी रज़ा क्या है !

"अच्छा तो असल चीज खुदी है !" सुनील ने पास आकर कहा।

"इकबाल तो यही कहते हैं।" कल्याणी ने मुसकराकर कहा।

"तो यह शिशु क्या है ?" सुनील ने एक दार्शनिक की तरह कहा, "यह भी तो खुदी का पुतला है, यह भी खुदी का प्रतीक है। देखो तो, किस तरह सो रहा है घोड़े बेचकर !"

"यह तो अब उसी समय आँखें खोलेगा जब इसके पिता जी बैठे कुछ लिख रहे होंगे !"

"मैं कहता हूँ, क्या लिखना इतना ही आवश्यक है ?"

"खुदी को बुलन्द करने के लिए ही सही। कुछ तो करना ही होगा।"

"क्या किया जाय ?"

"अब इसका भी क्या इलाज कि कोई सब कुछ जानकर भी अनजान बना रहे।"

"सब जानने की बात तो ग़लत है।"

"अच्छा तो फिर जानने की कोशिश करो।"

"जानने के लिए तो चलना होता है। रास्ता नहीं मिलता।"

"अब बड़ों का कहना तो यही है कि घर की दहलीज़ को थामकर चलना चाहिए।"

शिशु झूले में पड़ा सो रहा था। नींद में भी जैसे वह मुसकरा रहा हो। कल्याणी बोली, "बिलकुल तुम पर है इसका नाक-नकशा !"

"और तुम पर कुछ नहीं ?" सुनील मुसकराया, "यह कैसे हो सकता है ?"

साँझ धीरे-धीरे उतर रही थी। कल्याणी ने सुनील की बात अनसुनी करते हुए कहा, "मैं जरा चाय की फ़िक्र करूँ। नौकर के हाथ की चाय तो तुम रोज ही पीते हो। आज मैं अपने हाथ से चाय बनाकर लाऊँगी।"

सुनील अपने कमरे मे आकर बैठ गया। पढ़ने में उसका मन नहीं लग रहा था। पुस्तक के पन्ने पलटते हुए एक जगह उसकी निगाह जम गई :

"किशोरावस्था के पश्चात् जब समूचे शरीर में युवावस्था की तरंगें दिखाई पड़ीं तो रक्त में एक विचित्र चेतना आई। चैत की जलती हवा में जैसे कच्चा अनार रंगीन हो जाता है, और जिस तरह उस में मिठास आ जाती है, ठीक उसी तरह के एक अद्‌भुत रस के कम्पन से मैं दिन-भर थरथराती रहती·····"

पुस्तक सामने खुली पड़ी थी, लेकिन वह तो अपने भीतर की पुस्तक पढ़ रहा था, जहाँ शिशु की मुसकान प्रकाश फैला रही थी, जहाँ युग-युग की आलोक-थाती सिर उठा रही थी, जहाँ नये-पुराने रक्तबीज बोये जा चुके थे और अब नये फूल खिलने के लिए लालायित थे, जहाँ स्रष्टा और भोक्ता में रत्ती भर भेद नहीं था, जहाँ युग-युग की साधना, श्रद्धा, और आस्था का गौरव रूपायमान होने के लिए लालायित था, जहाँ सत्य का सारथी अपने रथ को आगे निकाल ले चलने के लिए बार-बार अपने घोड़ों की लगामें खींच रहा था।

पुस्तक बन्द करके वह आत्मविभोर मुद्रा में बैठा रहा। उसे लगा कि जो चीज कच्चे अनार को रंगीन बनाती है, वह तो चैत की जलती हवा ही नहीं बल्कि अनार की खुदी भी है। तो क्या वह शिशु भी मेरी खुदी को चुनौती देने आया है, वह मुझ से पूछने आया है—बताओ मेरे लिए क्या थाती छोड़कर जाने का इरादा है? इस चुनौती को स्वीकार करने का समय सिर पर आ पहुँचा। जैसे चाय का कप आने से पहले ही वह इस चुनौती को स्वीकार कर लेना चाहता हो। नया पैड उठाकर वह उस पर लेखनी चलाने लगा। वर्षों का भाव-प्रवाह जैसे आज एकदम उमड़ पड़ा। जैसे आज वह प्रेरणा प्राप्त हो गई जिस की उसे प्रतीक्षा थी, कच्चा अनार जैसे आज चैत की हवा में रंगीन होने लगा और जैसे कलाकार की कला भी उसकी मुक्त इच्छा से बहुजन हिताय अग्रसर होने के लिए लालायित

हो उठी।

चाय की ट्रे उठाये कल्याणी आई और उसने सुनील को लिखते देखा, तो खुशी से उसके हाथ बेकाबू हो गये। चायदानी से चाय का पानी छलक कर ट्रे में गिर गया।

"मैं कुछ लिख रहा था," सुनील ने झेंपते हुए कहा, "यों ही जरा-सा।"

"यह हमारी खुशकिस्मती है," कल्याणी मुसकराई, "आप जैसे कलाकार ही तो डोंगी को पार ले चलेंगे। उस पार खड़ा साहित्य तुम्हारी ही राह देख रहा है।"

"साहित्य की डोंगी चले न चले कल्याणी, अपनी डोंगी तो मैं जरूर चलाऊँगा।"

कल्याणी ने चाय का कप पेश करते हुए कहा, "लीजिए पहले चाय तो पीजिए, फिर अपनी डोंगी को पार ले चलना।"

सुनील बैठा चाय पीता रहा। कल्याणी की बातों में कोई मौलिकता तो न थी, लेकिन उसे लगा कि वह शिशु की मां है, पहले से कहीं ज़्यादा समझदार, पहले से कहीं ज्यादा तजुर्बेकार।

"जैसा अपना घर है, वैसे घर दूर-दूर तक फैले हुए हैं।" सुनील ने कहना शुरू किया। बहुत से घरों में बच्चे मुसकराते हैं, उनके होंठों पर गुलाब खिलते हैं, और जहाँ ये गुलाब नहीं खिलते वे भी कोई घर हैं?"

"तमाम दुनिया के बच्चे, तमाम दुनिया के गुलाब! अजी माली तो अपनी ही फुलवाड़ी की फ़िक्र करता है। वह फ़लसफ़ा नहीं छाँटता। खैर छोड़ो। मैं आज कितनी खुश हूँ। तुमने लिखना शुरू तो किया फिर से, हाँ तो यह तो बताओ कि क्या लिखना शुरू किया है?" कल्याणी के कानों में सोने के झुमके डोल रहे थे। उसके गले की रगें जैसे बात करते-करते तन गईं। उसकी आवाज में कहीं अधिक गहराई आ गई थी। उसकी आवाज से कहीं अधिक जिज्ञासा तो उसकी मुसकान में थी जो उसके होठों पर पुष्प-पराग की तरह बिखर गई।

"बताऊँगा," सुनील ने कल्याणी के कजरारे नयनों में झाँकते हुए कहा, "अभी बताऊँगा।"

"चाय का दूसरा कप बाद में मिलेगा," कल्याणी ने हठ किया, "पहले बताओ।"

सुनील कुछ न बोला। कल्याणी एकटक उसकी तरफ़ देखती रही। सुनील ने प्रसंग बदलने का यत्न किया, "बच्चे का नाम तो अभी सोचा ही नहीं। आज वह तीन महीने का हो गया।"

"अबीर!" कल्याणी ने जैसे पहले से ही फ़ैसला कर रखा था।

"वाह! क्या खूब नाम चुना।" सुनील मुसकराया और वह गुनगुनाने लगा :

माथे अबीर से लाल, गाल सेन्दुर के देखे;
आँखें हुई हैं गुलाल, गेरू के ढेले कूटे हैं!

"किस शायर का गीत है?" कल्याणी ने कप में चाय उंडेलते हुए कहा, "मज़ा आ गया। बहुत अच्छा ख्याल पेश किया गया है!"

"एक हैं अलबेले कवि 'निराला'।" सुनील ने चाय की चुस्की भरते हुए कहा।

"जैसा उनका नाम है वैसा ही उनका कलाम है। 'निराला' की एक-दो चीजें इधर मुझे भी पढ़ने को मिलीं। उनका जवाब नहीं। तुम लिखोगे तो तुम्हारा भी जवाब नहीं होगा।" कल्याणी ने शरारत-भरी निगाह से सुनील को देखा, "हाँ तो नये नाटक का नाम क्या रखा है?"

"अभी से नाम भी पूछ रही हो?"

कल्याणी के माथे पर एक लट झुक आई थी। वह मन्त्रमुग्ध-सी बैठी रही। फ़ाख्तई शलवार-कमीज पर सफ़ेद दुपट्टा। इस लिबास में कल्याणी का गोरा रंग उभर आया था।

इतने में दूसरे कमरे से बच्चे के रोने की आवाज आई। कल्याणी ने उधर को लपकते हुए कहा, "अबीर बुला रहा है।"

पीछे-पीछे सुनील भी हो लिया। कल्याणी ने दूध की बोतल अबीर

के मुँह से लगाई तो वह रोते-रोते एकदम चुप हो गया। वह चुस्कियाँ भर रहा था। कल्याणी के सामने उसका कर्त्तव्य था। कोई बहस, कोई हास-परिहास, कोई व्यंग्य इस समय उसे अपनी ओर आकर्षित करने की क्षमता नहीं रखता था।

"मेरे नाटक का नाम भी मिल गया।" सुनील ने जैसे हवा में तैरते हुए कहा।

"क्या ?" कल्याणी की जिज्ञासा आँखों के कोनों में सिमट आई।

"अबीर !" सुनील मुसकराया।

"क्यों मज़ाक करते हो ?" जैसे कल्याणी के डोलते हुए झुमके भी बोल उठे, "जो हमारे बेटे का नाम वही बेटे के बाप के नाटक का नाम ?"

"मज़ाक बिलकुल नहीं कर रहा। मेरे नये नाटक का नाम 'अबीर' ही होगा। रंगों में रंग है अबीर।"

कल्याणी मन्त्रमुग्ध-सी बैठी थी। अबीर दूध पी रहा था। उसकी बड़ी-बड़ी गोल-गोल आँखों में पहचान के फूल खिल रहे थे। अबीर दूर से आया था, लेकिन उसे अपने रास्ते की पहचान थी। वह यों ही तो नहीं आया था। कुछ करने के लिए आया था, कुछ कराने के लिए आया था। सुनील बोला, "हाँ तो बुजुर्गों ने ठीक ही तो कहा है—अपनी दहलीज़ को थामकर चलो।" और वह गुनगुनाने लगा :

माथे अबीर से लाल, गाल सेन्दुर से देखे;
आँखें हुई हैं गुलाल, गेरू से ढेले कूटे हैं !



८९

ओखला भी सचमुच क्या खूब जगह है। पिकनिक के लिए दिल्ली में ओखला से अच्छी जगह मिलना कठिन है। यमुना का दृश्य देखते रहिये और तरह-तरह की पिकनिक पार्टियों का मज़ा लीजिए। एक-से-एक रंगीन चेहरा देखिए। एक-से-एक मज़ेदार ग्रामोफ़ोन रिकार्ड सुनिए, दोस्तों के कहकहे सुनिए। यहाँ रंग-रंग के फ़ैशन मिलेंगे। लड़कियों के ऊपर को उठे हुए जूड़े नज़र आयेंगे तो दो-दो बेणियाँ भी देखी जा सकती हैं। शलवार-कमीज़, साड़ी-ब्लाउज और कमीज़-ग़रारा एक साथ देखने को मिल जायँगे। रविवार का यह मेला पिकनिक-प्रेमियों का सब से बड़ा मेला है। वैसे तो यहाँ कुछ दुकानें बन गई है। लेकिन बहुत से खोमचे वाले भी चले आते हैं। पकौड़े तले जा रहे हैं। गोलगप्पे खाये जा रहे हैं। ओखला के मेले की भी क्या खूब बहार है।

सुनील के निमन्त्रण पर सब ने हाँ कर दी थी। दीपाली ने कहला भेजा था कि वह सीधी ओखला पहुँच जायगी। लेकिन दीपाली अब तक नहीं आई थी। इसका सभी को अफ़सोस था। लेकिन सुनील का अब भी ख्याल था कि दीपाली ज़रूर आयेगी।

"कल्याणी जी, आपने तो कमाल कर दिया।" जगमोहन मुसकराया, "इतना अच्छा इन्तज़ाम हमारी निशा जी के बस का रोग तो न था!"

"निशा जी से कहा जाता तो वह इस से भी बढ़िया इन्तज़ाम कर

दिखातीं !" भटनागर ने उछलकर कहा, "क्यों निशा जी, मैं कुछ झूट कह रहा हूँ।"

"और हमारे सुनील जी कहेंगे कि दीपाली के ज़िम्मे दिया जाना चाहिए था यह इन्तज़ाम।" जगमोहन ने कहकहा लगाया, "सब चौपट हो जाता ! हम यहाँ पहुँच जाते और पिकनिक की मैनेजर साहिबा कहीं पीछे ही रह जातीं अपने 'शिशु-निकेतन' के अहाते में !"

जगमोहन के इसरार पर निशा मीराबाई का एक भजन गा रही थी कि इतने में सरदार अर्जुनसिंह भी आ पहुँचे और छूटते ही बोले, "ओ भाई लोगो, यह गाना-वाना तो फिर सुनेंगे वाहगुरु सच्चे पादशाह दे सिंघ, पहले तो सिंघाँ दे पेट विच चूहों को कूदने से बन्द कराओ !"

पिकनिक पार्टी कहकहों में डूब गई। निशा के गले से निकलता हुआ गीत भी कहीं बीच में ही टूट गया। अब जगमोहन के लाख इसरार करने पर भी निशा गाने के लिए तैयार न हुई।

भटनागर ने बात का रुख़ बदलते हुए कहा, "मुझे साफ़ नज़र आ रहा है कि दीपाली के न आने से सुनील उदास है। हालाँकि मैं तो पहले भी कई बार कह चुका हूँ कि दीपाली हम सब के लिए एक बहुत बड़ी पहेली है।"

सुनील ने गम्भीर होकर कहा, "लेकिन मैं तो दीपाली का चिर-ऋणी रहूँगा। उस ने मुझे रास्ता दिखाया।"

"दीपाली मेरी सब से बड़ी सहेली है !" कल्याणी मुसकराई।

इतने में अबीर जाग उठा। जगमोहन बोला, "अब यह अबीर साहब यह एलान कर रहे हैं कि दीपाली ने हमारे सुनील भाई की शादी कल्याणी जी से न कराई होती, तो उनके घर में अबीर मियाँ कैसे क़दम रख सकते थे !"

विमल ने गम्भीर होकर कहा, "हम बोलता, दीपाली अवश्य आयेगा।"

यह सुनकर सुनील कल्याणी की ओर देखकर मुसकराया।

पास वाली पिकनिक पार्टी ने ग्रामोफ़ोन रेकार्ड बजाना शुरू कर दिया था। सरदार जी बोले, "ओ भाई लोगो, कमाल दा गीत है!"

भटनागर ने हँसकर कहा, "पिकनिक का यह सीन तो किसी ड्रामा का बना-बनाया सीन है! सुनील और जगमोहन मिलकर भी कोशिश करें तो शायद स्टेज पर इतनी ख़ूबसूरती से यह सीन पेश न कर सकें।"

"ओ भाई लोगो!" अर्जुनसिंह ने हँसकर कहा, "छोटी स्टेज पर तो छोटा ड्रामा ही खेला जा सकता है। पिकनिक दे ड्रामे वास्ते तो बड़ी स्टेज नहीं चाहिए, पर बीबी तेज से पूछ लो, हमारे लायलपुर वाले काफ़िले दा सीन तो आप जी दी स्टेज पर आ ही नहीं सकता!"

तेज उठकर केवल के साथ नदी की ओर चली गई थी। दूर से पति-पत्नी को आते देखकर अर्जुनसिंह बोला, "यह जोड़ी भी वाहगुरु ने अच्छी बनाई!"

"विमल और दीपाली की जोड़ी कब बनेगी, सरदार जी?" भटनागर ने उछलकर कहा।

सरदार जी गम्भीर होकर बोले, "ओ भाई लोगो, यह तो वाहगुरु ही जानता है।"

"शायद दीपाली भी जानती हो," कल्याणी मुसकराई।

"हाँ हाँ!" निशा ने कहकहा लगाया, "दीपाली ज़रूर जानती होगी।"

"लेकिन एक बात है," जगमोहन ने कहा, "भले ही यह बात सुनील को अच्छी न लगे। हाँ, तो अगर सुनील समझता है कि दीपाली पर उसका कोई प्रभाव है तो बिलकुल ग़लत समझता है। और दीपाली हमारे विमल बाबू के चक्कर में आने वाली लड़की भी हर्गिज़ नहीं है!"

"अनाथ शिशु का प्रेम भी किसी को कब तक सन्तुष्ट करने सकता, भला!" विमल मुसकराया, "और हम ने तो दीपाली से अपनी माँ की इच्छा प्रकट नहीं किया। हमारा माँ नोआखाली में रहता और हम से कहता—बेटा विमल, हम तुम्हारे लिए चन्द्रमुखी कमलनयनी कुलवधू

लाकर देने सकता ! बाप रे बाप ! चन्द्रमुखी कमलनयनी !"

"चन्द्रमुखी कमलनयनी !" भटनागर ने झट विमल बाबू की नकल उतारते हुए कहा, "अरे बाबा, इस चन्द्रमुखी कमलनयनी से बचकर ही रहना।"

"हाँ तो अब दीपाली का अगला कदम क्या होगा ?" जगमोहन मुसकराया, "क्या आप में से कोई बता सकता है ?"

जगमोहन के प्रश्न का किसी ने उत्तर न दिया।

"हाँ तो अब आप लोग दावत के लिए तैयार हो जाइए !" कल्याणी मुसकराई, "दीपाली का बहुत इन्तजार हो लिया। अब तो वह क्या आयेगी।"

दावत का सभी को मजा आया, लेकिन सुनील उदास था। सब की निगाहें सुनील से पूछ रही थीं—दीपाली क्यों नहीं आई ?

भटनागर ने निशा को मीराबाई का वह गीत गाने के लिए राजी कर लिया—मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरा न कोई। उसने मन-ही-मन यह फैसला करते हुए कहा, "मैं जगमोहन के अगले ड्रामा में निशा के मुकाबले पर हीरो का रोल लेकर ही टलूँगा।"

जगमोहन हँसकर बोला, "मैं चाहूँ तो निशा और भटनागर को कभी करीब न होने दूँ !"

देर तक पिकनिक पार्टी नदी के किनारे घूमती रही। सुनील बराबर उदास नजर आ रहा था।

ओखला से सभी खुश-खुश लौटे। लेकिन सुनील और कल्याणी घर पहुँचे तो नौकर ने बताया कि दीपाली जी आज रात की गाड़ी से बनारस जा रही हैं और उन्होंने यह कहला भेजा है कि सुनील जी स्टेशन पर पहुँचकर उन्हें अवश्य मिलें।

समय बहुत कम था। लेकिन कल्याणी से इजाजत लेकर सुनील स्टेशन जाने के लिए झट नीचे उतर गया और सड़क पर पहुँचकर टैक्सी-स्टेण्ड की तरफ़ तेज-तेज चलने लगा।



९०

एक खाली डिब्बे में सामान रखकर कुली दीपाली से मज़दूरी लेकर चला गया।

आया खिड़की के पास आ बैठी। उसकी गोद में बच्चा सो रहा था।

प्लेटफ़ार्म पर बिजली की तेज़ रोशनी थी। दीपाली डिब्बे से परे हटकर खड़ी हो गई। वह बार-बार कलाई पर बँधी हुई घड़ी में वक्त देखने लगती। उसे किसी का इन्तज़ार था। वह सोचने लगी कि कोई गाड़ी आ रही है, कोई गाड़ी जा रही है; रेल के पहिये रेल की पटरियों पर चलते हैं और पहियों की दनदनाहट का भी एक विशेष सन्देश होता है, यही कि सफ़र कभी ख़तम न होगा। पहियों की दनदनाहट और इंजन की जल, मुसाफ़िरों का शोर, कुलियों का ज़्यादा मज़दूरी के लिए तकाज़ा—यह सब तो कभी ख़तम न होगा। छक छक छक! फक फक फक! गाड़ियाँ आ रही हैं, जा रही हैं। और इंजन की विसल कान के परदे हिला जाती है।

उसने पीछे पलटकर देखा। उसे किसी का इन्तज़ार था, और वह अब तक न आया था।

उस ने दोनों हाथों से अपना जूड़ा दुरुस्त किया।

खिड़की के समीप आकर वह बोली, "बच्चा सो रहा है। सोने दो। बच्चे को तो आराम से सोना चाहिए।"

"हाँ, बीबी जी !" आया मुसकराई।

"दूध की बोतल सँभालकर रख ली ?"

"जी।"

दीपाली देर तक बच्चे को प्यार-भरी नज़रों से देखती रही, और फिर वह खिड़की से परे को सरक गई। उस ने एक-दो बार पीछे मुड़कर देखा। अभी तो वह कहीं नज़र न आता था जिसका उसे इन्तज़ार था। उस ने सोचा कि जिन्हें अब मेरी आवश्यकता नहीं रही, उन्हें मैं स्वयं छोड़कर जा रही हूँ। मैं नारी हूँ—प्रकृति के हाथ की कठपुतली। प्रकृति ने मुझे माँ का हृदय दिया। मैं माँ की तरह प्रेम करने पर मजबूर हूँ। इन्सान सन्तुलन की तलाश में भटक रहा है। अनगिनत शताब्दियों से उसे सन्तुलन की तलाश रही है। उसकी कला, उसकी संस्कृति—वहीं तो उभरी जहाँ उस में सन्तुलन कायम हो सका। इन्सान की अपेक्षा प्रकृति इसलिए भी बलवती है, क्योंकि प्रकृति सम्पूर्ण है। इन्सान अपूर्ण है। सम्पूर्ण का भेस बदलकर वह दूसरों को धोखा देता है। लेकिन प्रकृति के नियम तो अटल हैं, प्रकृति किसी को धोखा नहीं देती।···वह फिर खिड़की के पास आ गई।

"आपकी बहन यहाँ होती तो आपको छोड़ने आती।"

"मीनाक्षी के पति की बदली हो गई। वे लोग तो कलकत्ता चले गये।"

प्लेटफ़ार्म का क्लाक बता रहा था कि गाड़ी छूटने में पन्द्रह मिनट रह गये। दीपाली की कलाई पर बँधी हुई घड़ी में भी यही समय था। समय ने तो सब को बाँध रखा था। उसकी कल्पना में उसका बचपन घूम गया जबे उसकी माँ उसे अपने साथ गंगा-स्नान के लिए ले जाया करती थी। गंगा का आशीर्वाद उसे प्राप्त हुआ था। फिर वह लाहौर आई तो रावी का आशीर्वाद प्राप्त हुआ। दिल्ली में यमुना मौजूद है। वह जहाँ भी गई वहाँ एक-न-एक नदी अवश्य मौजूद थी। अब वह बनारस जा रही है जहाँ गंगा-स्नान का आनन्द रहेगा। फिर उसकी कल्पना में सतलज और ब्यास के संगम पर स्थित वह गाँव घूम गया जहाँ उसकी चाची का मायका था,

जहाँ वह एक बार अपनी चाची के साथ गई थी, जहाँ सुनील से उसकी भेंट हुई, उसकी कहानी सुनने को मिली।

गहरे पीले बार्डर वाली मलगजी साड़ी और गहरा पीला ब्लाउज, सिर पर अजन्ता शैली का बड़ा-सा जूड़ा, जूड़े पर लाल गुलाब। वह बार-बार दोनों हाथों से जूड़े को ठीक करने लगती थी। फूल अपनी जगह पर मौजूद था। उसने सोचा अब कोई नहीं आयेगा। खैर ठीक है। मैंने अपना कर्त्तव्य निभाया, जब तक भी बन पड़ा। मैंने कभी कोताही न की। अब मैं जा रही हूँ। शायद उन्हें मेरा जाना पसन्द नहीं है। लेकिन मैं तो केवल सुनील के यहाँ ही सूचना भिजवा सकी थी कि मैं आज बनारस जा रही हूँ। वह भी तो मुझे छोड़ने नहीं आया। खैर मुझे कोई शिकायत नहीं, मुझे इन लोगों से कोई शिकायत नहीं। मुझे तो कोई मिलने नहीं आया। लेकिन क्या यह सच नहीं कि मुझे इन लोगों की याद सतायेगी? मैं इन लोगों की आवाज़ों के लिए तरस जाऊँगी। मैं उन के साथ रही हूँ, दुख-सुख के अनेक क्षण हम ने एक साथ गुज़ारे हैं। फिर भी मैं जा रही हूँ। मेरी यात्रा लाहौर से आरम्भ हुई थी। अगर सुनील न मिलता तो न जाने ये दिन किस तरह गुज़रते। जीवन के ये दिन तो मुझ पर गहरा प्रभाव छोड़ चुके हैं। इन लोगों के चेहरे तो कभी भुलाये न भूलेंगे। अर्जुनसिंह की यह बात तो रह-रहकर याद आया करेगी कि छोटी स्टेज पर ज़िन्दगी का भरपूर नाटक नहीं खेला जा सकता। अच्छा सरदार जी, आप तो अभी किंग्सवे कैम्प में ही पड़े हैं, मैं आप के लिए कुछ न कर सकी। अच्छा इजाज़त। मैं बनारस जा रही हूँ!···ज़ीनत ने कल्याणी का रूप धारण कर लिया, वह अबीर की माँ बन गई। खुश रहो, ज़ीनत! शेक्सपीयर पहले ही कह गया है कि नाम में क्या रखा है। कभी तो लाहौर की याद भी आती होगी, ज़ीनत! लाहौर की माल रोड पर तो आज भी लारेन्स की मूर्ति उसी तरह खड़ी होगी, लारेन्स के एक हाथ में उसी तरह तलवार होगी और दूसरे हाथ में कलम, और लारेन्स की मूर्ति पर उसी तरह लारेन्स के ये बोल खुदे हुए होंगे—तुम तलवार से हुकूमत

चाहते हो या कलम से ?···तेजकौर, कभी तो हमें भी याद कर लिया करना। केवल जी के साथ तुम्हारा स्वभाव मिल गया या नहीं ? मैं जानती हूँ कि केवल जी दिल के बुरे नहीं ! देखो तेज, हमारे केवल जी से कभी झगड़ा मत कर बैठना, झगड़े का परिणाम अच्छा नहीं होता।···भटनागर जी महाराज, आप के चुटकले भला किसे याद न आयेंगे। मैं जानती हूँ कि सुनील को फिर से लिखने के लिए प्रेरणा देने में तुम्हारा भी कुछ कम हाथ नहीं रहा। लेकिन मैंने सुना है कि तुम अपनी पत्नी से बुरी तरह दबते हो। अपनी पत्नी से तुम ने हमें तो कभी न मिलाया, मिला देते तो मैं तुम्हारी पत्नी को अवश्य समझाती कि बहन जी, इतने अच्छे ऐक्टर पर सख्ती करना तो उचित नहीं।···जगमोहन जी, आपके मिजाज कैसे हैं ? अंजना तो कलकत्ता चली गई। आखिर प्रदीप समझदार निकला। उस ने अकल से काम लिया। तुम्हारा क्या बिगड़ा ? तुम्हें तो अंजना के जाने से पहले ही निशा मिल गई। लेकिन एक दिन निशा भी तुम्हारे चंगुल से निकल भागेगी। तुम्हारे ड्रामों में हीरोइन बनना तो महज फिल्म में जाने के लिए जीना ढूँढने का प्रयत्न है, जगमोहन जी महाराज ! तुम भी तो समझते होगे इतनी-सी बात ! तुम्हारा ख्याल यह होगा कि निशा के जाने से पहले ही कोई उषा आ जायगी !···विमल जी महाराज, आपकी पेन्टिंग का क्या हाल है ? मैं जानती हूँ तुम्हारी माँ नोआखली में ही रहेगी और उसकी यह इच्छा कि उसका बेटा चन्द्रमुखी कमलनयनी दुलहन ब्याह कर लाये, कभी पूरी न होगी। चलाओ तूलिका, उठाओ रंग ! वाह वाह, क्या खूब चित्र उभर रहा है !···ये छोटी-बड़ी रेखाएँ उसकी कल्पना में उभरती रहीं, बनती और मिटती रहीं। शिशु-निकेतन, मुझे आज्ञा दो। मैं जा रही हूँ। जब तक मैं प्रिन्सिपल रही, मैंने अपना कर्त्तव्य निभाया। अब कोई नई प्रिन्सिपल आ जायगी।···वह ऐसी-ऐसी अनेक रेखाओं से बातें करती रही, उसकी कल्पना में एक धुन्ध-सी फैल गई।···और फिर···और फिर वह सुनील की याद में खो गई।

गाड़ी छूटने में केवल पाँच मिनट रहते थे। दीपाली आकर डिब्बे में

बैठ गई।

खिड़की से सिर बाहर निकालकर दीपाली पुल की तरफ़ देख रही थी। वह नहीं आया। अब वह नहीं आयेगा। बनारस तो मुझे जाना ही था एक दिन। यह तो मैं लाहौर में कुछ दिन रुकी रही। फिर दिल्ली ने मुझे बाँध लिया। लाहौर और दिल्ली में मैंने एक हलक़ा बनाया। लेकिन कोई कब तक हलके के लोगों को उन के कर्तव्य बताता रहे? मैं तो जहाँ भी जाऊँगी अपने गिर्द एक हलक़ा बना लूँगी। लेकिन कोई हलक़ा मुझे हमेशा के लिए बाँधकर तो कैसे रख सकता है?···

वह आया की गोद में सोते बच्चे के सिर पर प्यार से हाथ फेरने लगी। अब मुझ पर यह नई ज़िम्मेदारी आ गई।

पुल की तरफ़ से सुनील भागता आ रहा था।

इंजन ने आखिरी विसल दी। सुनील किसी तरह भागता-भागता दीपाली के डिब्बे तक आ पहुँचा था। घबराहट में दीपाली के जूड़े का लाल गुलाब प्लेटफार्म पर गिर गया।

तब दीपाली ने हाथ उठाकर सुनील से कहा, "अच्छा, अलविदा!" सुनील का हाथ भी जवाब में ऊपर उठा और वह गाड़ी के साथ-साथ प्लेटफार्म पर तेज़-तेज़ चलने लगा, यहाँ तक कि दीपाली का डिब्बा आँख से ओझल हो गया।

अब केवल गाड़ी के पहियों की दनदनाहट थी जो सुनील के दिमाग पर हथौड़ी-सी चला रही थी। अब तो गाड़ी भी दूर निकल गई थी। प्लेटफार्म के आखिरी सिरे पर सुनील के पैर जम गये। अब तक की जीवन-यात्रा उसकी आँखों में घूम गई—कैसे वह एक दिन बचपन में ही घर से भाग निकला था; कैसे उसने स्वयं अपने पैरों पर खड़ा होना सीखा; सुख-दुःख, आशा-आकांक्षा के नाना घात-प्रतिघात कैसे सहन किये। फिर भी जीवन में उसकी अभ्रान्त आस्था बनी ही रही। कितना कौतुक आया, कितना कौतूहल आया रास्ते में। किस तरह दीपाली से भेंट हुई। दीपाली ने कला में मेरी आस्था को गहरा किया। उसी के आदेश से मैंने

शीनत को अपनी जीवन-संगिनी बनाया। और अब ? अब दीपाली चली गई। मुझे भी कुछ तो कहना था, कुछ तो पूछना था। यही कि वह ओखले की पिकनिक में शामिल होने की बजाय बनारस के लिए क्यों तैयार हो गई। पुल से उतरते हुए मैंने फ़ैसला किया था कि मैं दीपाली को हरगिज़ बनारस नहीं जाने दूँगा। पुल से उतरने के बाद दीपाली का डिब्बा ढूँढते हुए मैंने सोचा था कि मैं दीपाली को बनारस जाने से न रोक सका तो कम-से-कम उसके सामने खड़ा होकर कुछ तो कह सकूँगा, जो अकथनीय है, असीम है, जिसे मैं सीमा में नहीं बाँधूँगा, जिसके प्रवाह को मैं नहीं रोकूँगा।

दीपाली के जूड़े से गिरा हुआ फूल उसके हाथ में था जिसे उसने बड़े स्नेह से उठा लिया था। लेकिन दीपाली जा चुकी थी।